संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक का चरित्र -एक अध्ययन

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की डी० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्ता

अभय मित्र

बी० ए० आनर्स, एम० ए०

निर्देशक

डा० सुरेश चन्द्र पाण्डेय

एम० ए०, डी० फिल०

रीडर, संस्कृत–विभाग

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

संस्कृत–विभाग

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

इलाहाबाद

१९७८

प्राक्कथन

प्राक्कथन

प्रस्तुत सन्दर्भ में, संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक चरित्र के अध्ययन से मेरा तात्पर्य संस्कृत रूपक-प्रबन्धों के सभी रूपक भेदों में प्रतिनायक की भूमिका के मूल्यांकन से है। इस दृष्टि से इस शोध प्रबन्ध को मुख्य रूप से पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध के रूप में विभक्त कर दिया गया है। पूर्वार्ध में प्रतिनायक चरित्र की ऐतिहासिक एवं शास्त्रीय विवेचना करते हुए उत्तरार्ध में उसके व्यावहारिक पक्ष को विभिन्न नाटकों में रेखांकित किया गया है और सबसे अन्त में पाश्चात्य नाटकों, विशेषकर त्रासदी नाटकों के खलनायकों की भूमिका से उसकी तुलना का प्रयास किया गया है।

संस्कृत के रूपक प्रबन्धों पर तो स्फुट एवं शोध के रूप में विभिन्न दृष्टिकोणों से कार्य हुआ है और होता ही रहेगा, यह किसी भाषा, वाङ्मय अथवा साहित्य का वैशिष्ट्य हुआ करता है कि उस पर नई दृष्टियों से शोध का कार्य चलता रहे। संस्कृत के रूपकों की प्रत्येक विधा पर, प्रत्येक विषय पर, उसकी मञ्च-सज्जा पर, मञ्चविधान पर, विभिन्न भूमिकाओं, नायक-नायिका यहां तक कि विदूषक जैसी भूमिका पर, तथा अनेक नाटककारों और उनके महत्वपूर्ण रूपक प्रबन्धों पर पर्याप्त शोध-कार्य हुआ है। किन्तु प्रतिनायक जैसी नायक-विरोधी इस प्रमुख भूमिका पर किसी भी शोध प्रबन्ध के रूप में कोई भी महत्वपूर्ण कार्य अब तक प्रकाश में नहीं आया है। आलोचना के क्षेत्र में भी पौरस्त्य एवं पाश्चात्य सभी नाट्यशास्त्रीय आचार्यों के अनेक ग्रन्थों से यह स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है कि उनमें अनेक आचार्यों, आलोचकों ने प्रतिनायक भूमिका की नितान्त उपेक्षा की है। यहां तक कि भरतमुनि जैसे नाट्यशास्त्रियों ने भी प्रतिनायक का कोई लक्षण नहीं दिया है।

अत: प्रतिनायक के इस नकारात्मक एवं अभावात्मक पक्ष ने मुझे इस विषय पर कार्य करने का उत्साह दिया तथा सर्वप्रथम उन आलोचकों और आचार्यों ने सर्वाधिक प्रेरणा दी जिन्होंने रूपक प्रबन्धों के प्रत्येक विषय पर व्यापक चर्चा करके भी प्रतिनायक को उपेक्षित छोड़ दिया। प्रतिनायक के लक्षण, उसके स्वरूप निर्धारण

के कार्य से स्वयं को मुक्त रखते हुए उन्होंने मुझे उनके ग्रन्थों में ऐसे तत्वों की खोज के लिए बाध्य कर दिया जिसके आधार पर यह शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया जा सका है। इस कार्य में भरत, दण्डी, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के अतिरिक्त पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों में हेनरी डब्लू० वेल्स, शेल्डानचेनी, ए० बी० कीथ, मैकडानल, विन्टरनित्ज, डा० के० सी० पाण्डेय, डा० सूर्यकान्त, आचार्य विश्वेश्वर, डा० नगेन्द्र, डा० वी० राघवन, डा० चौधरी एवं डा० गुप्त, डा० राय तथा डा० रांगेय राघव, एम०आर० काले, डा० देवस्थली, एवं बी०के०भाट जैसे विद्वानों के ग्रन्थों से विभिन्न उल्लेखों के आधार पर अपनी धारणा को मैंने पुष्ट होते हुए पाया है। अतः निश्चय ही मैं इन सभी और उन सभी आलोचकों का आभारी हूं जिन्होंने मुझे किंचित् भी प्रेरित किया है।

रूपक प्रबन्धों में प्रतिनायक की भूमिका के सन्दर्भ में विचार करते हुए हमारा ध्यान प्रतिनायक चरित्र के मूल में निहित ईर्ष्या-द्वेष-प्रतिस्पर्धा और संघर्ष जैसे भावों और मनोविकारों पर तो केन्द्रित होता ही है किन्तु उसका मूल खोजते हुए हमारा मन सर्वप्रथम ऋग्वेद की उपत्यका में आकर रम जाता है जहां इन्द्र का नायकत्व किसी महाकाव्य के नायक से कदापि न्यून नहीं है। ऋषियों ने इन्द्र की स्तुति में, उसकी महानता के उल्लेखों में, किंचित् भी कृपणता नहीं दिखायी है। उसके शारीरिक सौन्दर्य से लेकर उसके महान् पराक्रम तक, उसके आत्मिक वैशिष्ट्य से लेकर उसके सांस्कृतिक प्रभाव तक तथा उसके अद्वितीय शौर्य से लेकर मानवीय मूल्यों के प्रति उसकी धर्मनिष्ठा तक ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसके चरित्र में न हो। ऐसे नायक इन्द्र की उस महानता के मूल में उसका औदात्य नहीं है, उसका मंगलकारी रूप नहीं है। यज्ञों में आने वाली बाधाओं के कारण उत्पन्न दैन्य, पीड़ा, वेदना और करुणा भी नहीं है अपितु उसका पराक्रमी रूप है, अपने प्रतिद्वन्द्वियों को, उनके पुरों और दुर्गों को ध्वस्त करने की उसकी क्षमता है। अतः ऋग्वेद में नायक और प्रतिनायक दोनों के ही दुबारा दर्शन हो जाते हैं।

इन्द्र के विरोधी चरित्रों में असुर-राक्षस और अनार्य भी हैं,

वरुण और मरुत्, कुत्स और सूर्य जैसे देवता तथा उषा जैसी देवी भी हैं। साहित्य-शास्त्रियों द्वारा निर्धारित गुणों की दृष्टि से भी देखें तो वरुण में धीरोदात्तनायक के सभी गुण मिल जाते हैं, वह नायक भी है और इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता में उसमें तथा इन्द्र में नायक-प्रतिनायक का विपर्यय भी लक्षित किया जा सकता है। इन्द्र धीरोद्धत स्वभाव का नायक है इसमें कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। उसकी चंचल प्रकृति (अहल्या, अपाला से उसके सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में) उसे कभी प्रतिनायक बना देती है तो कभी धीरललित नायक। अग्नि और अङ्गिरस जैसे देवों में धीरप्रशान्त नायक के गुणों का अस्तित्व तो किसी खुली हुई पुस्तक की भांति पढ़ा जा सकता है। अतः प्रतिद्वन्द्विता के इस स्वरूप ने और वृत्र, अहि, बल, अर्बुद, शुष्ण, शम्बर, धुनि, चुमुरि, नमुचि, पणिगण जैसे देवविरोधी चरित्रों ने कालान्तर में प्रतिनायक के चरित्र को प्रभावित किया है इसे देखना कठिन नहीं है, जहां अतिथिग्व दिवोदास और सुदास के साथ द्रुह्यु, यदु, तुर्वश प्रभृति आर्य जनों की प्रतिद्वन्द्विता, संदिग्ध किन्तु यथार्थ की भित्ति पर स्थित प्रतीत होती है।

नाट्यशास्त्रियों ने नाट्यरस के प्रति अपने पूर्वाग्रह के कारण संस्कृत नाटकों को यथार्थ जीवन से किंचित् परे रखा है। मृच्छकटिकम् जैसे अन्य रूपकों का अभाव इस धारणा को दृढ़ करने के लिए पर्याप्त है। किन्तु नैतिक मूल्यों की दृष्टि से उनका महत्त्व सन्देह से परे है। इसी कारण ऐसा खलनायक जो मानवमन को विक्षुब्ध करके छोड़ देने वाली स्थिति को उत्पन्न करता है- संस्कृत रूपकप्रबन्धों में उत्पन्न ही नहीं होता और यदि चारुदत्त के सन्दर्भ में ऐसी ग्लानि उत्पन्न भी होती है तो वह शीघ्र ही मर जाती है। मैकबेथ के लिए संस्कृत नाट्य-भूमि कभी भी उर्वर नहीं रही, उसके नायकत्व का तो कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता। हां, किसी सीमा तक प्रति-नायकों में उसके दर्शन हो सकते हैं किन्तु स्वयं अनुमान ही प्रमाण है। उसका प्रत्यक्ष प्रदर्शन और साक्षात्कार नाट्याचार्यों और नाटककारों को न तो उपयोगी लगा और न उसकी सृष्टि ही हुई। यहां तक कि रोमियो, जुलियट, और ओथेलो भी यहां उत्पन्न नहीं हो सके। ब्रूटस, कैशस और इयागो यहां अवश्य उत्पन्न होते रहे हैं

किन्तु पुरातीय और पाश्चात्य इन चरित्रों में अन्तर यही रहा कि प्रतिनायक मंच पर सशस्त्र अवतरित नहीं होने पाता । उसकी महत्त्वाकांक्षा, क्रूरता और कृतघ्नता का, अशिष्टता और कदाचार का नग्न नृत्य नहीं करने पाती । ब्रूटस और रावण में पर्याप्त समानता है, भावभूमि पर, आदर्शों की परिधि में वे पर्याप्त निकट हैं किन्तु ब्रूटस तो सीजर पर प्राणघातक प्रहार कर एक हत्यारा बन जाता है किन्तु रावण ऐसे प्रयास करके भी सफल नहीं होने पाता । यही मौलिक भेद है खलनायक और प्रतिनायक के मध्य । किन्तु मैकबेथ में किसी धीरोदात्त नायक के गुणों का अस्तित्व अप्रत्याशित है । अप्रत्याशित तो ब्रूटस का आत्मसमर्पण और प्रायश्चित भी है । किन्तु इयागो और शकार के चरित्र में, उनकी वृत्ति और स्वभाव, क्रूरता और षड्यन्त्र में जो साम्य है वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । शकार में कामुकता है किन्तु प्रतिशोध की भावना उतनी तीव्र नहीं है जितनी इयागो में है । इसके अतिरिक्त इन समान तत्त्वों में भी कोटि और स्तर का अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है । अपने फंस जाने के भय से दोनों ही भाग खड़े होते हैं, दोनों ही पकड़े जाते हैं किन्तु शकार आत्मसमर्पण कर देता है और इयागो को कोई भी पश्चात्ताप नहीं है ।

इस रूप में नाट्यशास्त्रियों के समक्ष ऐसे रूपक अवश्य थे जिन्होंने प्रतिनायक के लक्षण में कभी कुछ स्थापित करने का प्रयास किया, किन्तु अन्य रूपकों में जो आदर्श, मान्यताएं और सांस्कृतिक रूढ़ियां थी उनकी उपेक्षा न तो उचित थी न ही उपयोगी । अतः अपने चारित्रिक वैशिष्ट्य के होने पर भी नाटककारों ने, अपने प्रतिनायकों को भी नायक के समान ही मर्यादित रखने का प्रयास किया है । भाग्य और कर्म सिद्धान्त की मूल विशेषताएं, अपने-अपने आदर्श और जीवन-मूल्यों के प्रति निष्ठा दोनों ही क्रियाओं में बनी रही है । यह इनका अभावात्मक पक्ष नहीं है अपितु दोनों का मौलिक वैशिष्ट्य है ।

संस्कृत के नाटककारों ने इसी कारण नायकों के साथ ही प्रतिनायकों को भी कहीं-कहीं इतना आदर्श स्वरूप प्रदान कर दिया है कि उनके मध्य नायक प्रतिनायक का निर्धारण ही कठिन हो जाता है । इतना ही नहीं कभी-कभी तो

अपने गुणों के परिप्रेक्ष्य में दोनों ही अनुकरणीय चरित्र प्रतीत होते हैं और कहीं-कहीं तो स्थिति यह है कि नायक की अपेक्षा प्रतिनायक अधिक आदर्श प्रतीत होता है । अत: खलनायक की भूमिका का संस्कृत नाटकों में कोई प्रश्न ही नहीं उठता । यहां तो नायक भी आदर्शवादी है और प्रतिनायक भी । अत: प्रतिनायक में लोभ, उद्दण्डता, पाप, व्यसन तथा औद्धत्य के होने पर भी उनमें नायक बनने की क्षमता है इसीकारण कर्ण से कवच कुण्डल मांगते हुए इन्द्र तो प्रतिनायकत्व ग्रहण कर लेता है और ऊरुभङ्ग में प्रसिद्ध प्रतिनायक दुर्योधन नायक होकर आता है । नायक होते हुए भी चाणक्य अपने प्रतिद्वन्द्वी प्रतिनायक राक्षस से अधिक क्रूर और कुटिल है । अत: आदर्श ही वह कसौटी है जिस पर चरित्र की तुलना की परीक्षा होती है । किन्तु उद्देश्यों की पवित्रता इस चारित्रिक वैशिष्ट्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है । यह उद्देश्यों की पवित्रता उन दोनों ही आदर्श चरित्रों के मध्य रेखा रेखांकन कर देती है जिससे राम तो अनुकरणीय हो जाते हैं और रावण तिरस्कार का पात्र- 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' यह का कथन इसका समर्थन करता है ।'

इसी कारण नाट्यशास्त्रियों में भी दो मुख्य वर्ग हैं कुछ आचार्यों ने तो प्रतिनायक के चरित्र का लक्षण ही नहीं किया ; इसके अन्य कारण भी हो सकते हैं किन्तु प्रतिनायक की इस उपेक्षा के मूल में कहीं आदर्श और नैतिकता के अतिरिक्त उद्देश्यों की अपवित्रता भी हो सकती है । इन आचार्यों में पहले तो भरतमुनि ही हैं और उनका ही अनुकरण करते हैं आचार्य सागरनन्दी जो नायक को ही हन्तव्य भी मानकर 'हन्तव्यश्च नायक एव' के रूप में भरत के समान, और अपने अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति, वे प्रतिनायक को भी नायक ही मानते हैं । प्रतिनायक को भी नायक की ही कोटि में रखना लगभग सभी आचार्यों को प्रिय रहा है । अस्तु, दूसरे वर्ग में वे आचार्य हैं जो प्रतिनायक का लक्षण भी करते हैं और उसकी योजना का विधान भी । इन आचार्यों में धनिक धनञ्जय, भोजराज, हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, विश्वनाथ और नरसिंह कवि के नाम उल्लेखनीय हैं । किन्तु जिन आचार्यों ने प्रतिनायक का लक्षण नहीं किया है उनके विचारों का अवगाहन करने के लिए उनके नाट्य लक्षणों की विवेचना पर्याप्त महत्त्वपूर्ण रही है । एक तीसरा वर्ग भी है और इस वर्ग में वे

आचार्य हैं जिन्होंने नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन तो नहीं किया है किन्तु भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या करते समय, अथवा साहित्यशास्त्र की किसी विधा पर व्याख्यान के प्रसंग में ; काव्य अथवा रस के प्रसंग में ऐसे उल्लेख किए हैं जिनके आधार पर प्रतिनायक के सम्बन्ध में उनकी धारणा का ज्ञान होता है । आचार्य दण्डी, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ऐसे ही आचार्य हैं/रस और नाट्यसंरचना के सन्दर्भ में प्रतिनायक चरित्र की उपयोगिता पर इनके विचार बहुमूल्य हैं ।

प्रतिनायक जिसे दशरूपककार ने रिपु माना है उसपर आचार्य दण्डी के उस कथन का स्पष्ट प्रभाव है जो नायक के रिपु की महानता पर नायक की विजय के वह मार्ग के समर्थक हैं । इसी प्रकार अन्य परवर्ती आचार्यों पर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है/ किन्तु दशरूपककार के लक्षण का प्रभाव उनके सभी परवर्ती आचार्यों पर देखकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए । इस दृष्टि से शृङ्गारप्रकाशकार भोज में मौलिक चिन्तन का वैशिष्ट्य है । जो प्रतिनायक को भी नायक के समान धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त गुणों के आधार पर चार प्रकार का मानते हैं । उधर अभिनवगुप्त ने किन्हीं आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए 'नायक-प्रतिनायकौ तत्सहायौ च ' के आधार पर प्रतिनायक और उसके सहायक के रूप में उप-प्रतिनायक की मान्यता का समर्थन किया है । शृङ्गारप्रकाशकार की एक मौलिकता यह भी रही है कि उन्होंने नायकविरोधी प्रतिनायक की भांति नायिकाविरोधी प्रतिनायिका के भी अस्तित्व को स्वीकार किया है । इतना ही नहीं, 'धैर्यमासामपि-वाचिकम् ' के आधार पर उदात्ता, उद्धता, ललिता तथा प्रशान्ता के रूप में उसके चार भेद भी उन्होंने स्वीकार किए हैं । आचार्य विश्वनाथ ने भी विभावों के सन्दर्भ में प्रतिनायिका का उल्लेख किया है । कालान्तर में नरसिंह कवि ने शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक प्रभृति रसों के अनुकूल नायकों के रूप में शृङ्गारनायक और अ शृङ्गार प्रतिनायक, रौद्र और वीरनायक की भांति रौद्र और वीर प्रतिनायक जैसे भेदों का अस्तित्व सिद्ध किया है ।

तात्पर्य यह कि जहां उन आचार्यों ने जिन्होंने प्रतिनायक का उल्लेख ही नहीं किया, प्रेरणा दी वहीं इन दूसरे और तीसरे वर्ग के आचार्यों ने मुझे

अस्तित्व बोध कराया है । इन विभावनों को ध्यान में रखते हुए औद्धत्य एवं आदर्श के आधार पर चार प्रकार के प्रतिनायकों को उक्त रूपकप्रबन्धों में सरलतापूर्वक देखा जा सकता है । धीरोद्धत प्रतिनायक, पूर्णोद्धत-प्रतिनायक, अर्धोद्धतप्रतिनायक तथा औद्धत्य एवं आदर्शहीन प्रतिनायक । राजा की भूमिका धीरोद्धत प्रतिनायक का प्रतिनिधित्व करती है । उधर प्राय: बाली का स्वरूप भी ऐसा ही है । यह दोनों ही शृङ्गार-प्रकाश के धीरोदात्तप्रतिनायक के अधिक समीप हैं । जामदग्नि, दुर्योधन और दु:शासन की भूमिकाएं पूर्णोद्धत कोटि में रखी जा सकती हैं । इसके विपरीत रावण का चरित्र प्राय: अर्धोद्धत ही मिला । जिसे नितान्त आदर्शहीन नहीं माना जा सकता । शकार जो औद्धत्य एवं आदर्श दोनों से ही हीन है सर्वाधिक महत्वपूर्ण चरित्र है जो पाश्चात्य खलनायक के पर्याप्त निकट है ।

नायक विरोध का एक स्वरूप और भी है; वह है नायक-नायिका के मिलन में आने वाली बाधाएं । प्रतिनायिकाओं का अस्तित्व यहीं मुखर होता है जैसे विप्रलम्भ शृङ्गार की दृष्टि से प्राकृत बाधाएं भी स्वत: में कम महत्वपूर्ण नहीं हैं । इस दृष्टि से राजमहिषी और नायक की धर्माङ्गनी की भूमिकाएं भी उपयोगी रही हैं । शृङ्गारप्रकाशकार ने सत्यभामा और रुक्मिणी को इस रूप में भी उद्धृत किया है । काव्यप्रकाशकार ने विप्रलम्भ के सन्दर्भ में अभिलाषा, विरह, ईर्ष्या, प्रवास तथा शाप के रूप में जो कारण माने हैं उन्हें देखते हुए प्रतिनायक की मुख्य भूमिका से ये कारण दूर जा पड़ते हैं । अत: यहां ऐसे अप्रत्यक्ष कारणों पर संकेतमात्र किया गया है ।

प्रतिनायक के मूल, उसके शास्त्रीय स्वरूप और नाट्य संरचना तथा रस के सन्दर्भ में उसकी उपयोगिता का आकलन करते हुए हम पाते हैं कि उसकी योजना का मुख्य उद्देश्य नायक के चरित्र का उत्कर्ष प्रदर्शित करना है । अत: रामकथामूलक, महाभारतकथामूलक अन्य ऐतिहासिक एवं लोककथामूलक रूपक प्रबन्धों की विवेचना करते हुए इस लक्ष्य की पूर्ति की गयी है और यह मूल्यांकन किया गया है कि कौन-कौन से नाटककार इस दृष्टि से प्रतिनायक की भूमिका का उपयोग कर सके हैं । प्रबोधचन्द्रोदय

जैसे प्रतीक नाटक, दार्शनिक विचारधारा को नाटकीय माध्यम से प्रस्तुत करने की प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करते हैं जिन्हें धर्म की नित्यता का समर्थन करने के लिए प्रस्तुत किया गया है। इस प्रसंग में लगभग सोलह रूपक प्रबन्धों की कथावस्तु और नायक-प्रतिनायक के स्वरूप की विवेचना की गयी है। मालतीमाधव तथा नागानन्द को मात्र संकेतित किया गया है। इनमें भी भास के रूपक प्रबन्धों को आरम्भिक रूपकों के रूप में अत्यन्त उपादेय माना गया है और उनके परवर्ती प्रभाव को भी ध्यान में रखा गया है।

पाश्चात्य त्रासदी विधा के सम्पर्क में, नायक की महान् त्रुटि, मनःशान्ति के उद्देश्य एवं तदर्थ विरेचन सिद्धान्त की सार्थकता और पाश्चात्य एवं संस्कृत नाट्यरचना प्रक्रिया सम्बन्धी अनेक समानताओं-असमानताओं पर विहंगम दृष्टि डालते हुए, चार त्रासदी नाटकों में, खलनायक से प्रतिनायक की तुलना के प्रसंग में हम पाते हैं कि दोनों ही भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और दार्शनिक विचारधाराओं के कारण भिन्न भावभूमि पर निर्मित चरित्र हैं तथापि किसी सीमा तक उनमें चारित्रिक साम्य है। इनमें जो साम्य है वह सार्वकालिक और सार्वदेशिक है और जो असमानता है वह दोष नहीं है, अभाव नहीं है, वह अपनी-अपनी मौलिक विशेषता है, अपनी-अपनी सांस्कृतिक, दार्शनिक और साहित्यिक चिन्तन प्रक्रिया की मौलिकता है।
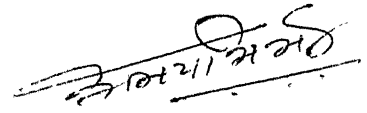
अन्त में, इस सम्पूर्ण विवेचना की गम्भीरता में पैठ सकने का जो सामर्थ्य, जो निर्देश, और जो प्रेरणा मुझे इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष, विद्वद्वर्य डा० आद्याप्रसाद मिश्र महोदय की अनुकम्पा और आशीर्वाद से प्राप्त हुई, तदर्थ उन्हें धन्यवाद देने के निमित्त मेरे समीप शब्द नहीं हैं, मैं उनका आभारी हूं। इसके लिए मेरे निर्देशक, डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय महोदय, रीडर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी ने मुझे जो निर्देशन प्रदान किया तथा जिस प्रकार उन्होंने पग-पग पर मेरा उत्साह बढ़ाया उसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूं। अपने शोध कार्य के लिए गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तथा इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय के प्रबन्धक-अधिकारियों तथा कार्यकर्ताओं का भी आभारी हूं। सबसे अन्त में मैं इस शोधप्रबन्ध को टङ्कणबद्ध करने के लिए

श्री श्यामलाल तिवारी जी का आभारी हूं जिन्होंने बड़े अध्यवसाय के साथ मेरे इस कार्य को पूर्ण किया है ।

क्षमायाचना

हिन्दी में लेखन के अभ्यास के कारण संस्कृत व्याकरण के अनुसार अशुद्ध प्रयोग भी शुद्ध से लगने लगते हैं । इसी कारण अत्यन्त प्रयास के उपरान्त भी पञ्चमाक्षरों की त्रुटि कहीं मेरी ही मान्यता न बन जाय इस भय से मैं विद्वज्जनों से सर्वप्रथम क्षमा-प्रार्थी हूं । टङ्कण यन्त्र में इन वर्णों के अभाव ने 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' के पूर्ण निर्वाह में बाधा उपस्थित की है जिसे बाद में किसी प्रकार सुधारने का प्रयास किया गया है । अर्ध-अकार तथा त से भी ऐसी त्रुटि को यत्र तत्र स्थान मिल गया जो सम्भव है प्रमादवश ही कहीं शुद्ध न हो सका हो । तदर्थ भी मैं क्षमा-प्रार्थी हूं ।

(अभय मिश्र)

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

-0-

प्रतिनायक सम्बन्धी धारणा का मूल एवं विकास

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥

ऋग्वेद १।३२।१

' Whenever and wherever the humans have progressed beyond the mere struggle for existance, to gods, recreation and self expression, there has been theatre in some sense. '

- Sheldon Cheney

अध्याय-एक

-०-

प्रतिनायक सम्बन्धी धारणा का मूल एवं विकास

अध्याय १

-0-

प्रतिनायक सम्बन्धी धारणा का मूल एवं विकास

"त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्"

भरतमुनि की इस स्थापना का तात्पर्य है, मानव-मन में निरन्तर बने रहने वाले भावों का अनुकीर्तन अर्थात् अनुकरण ही नाट्य है। यहाँ उन मनोभावों को आंगिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य अभिनय के माध्यम से रंगमंच पर प्रस्तुत करना ही वास्तविक 'भावानुकीर्तनम्' है।[१] अरस्तू ने 'समस्त कला अनुकरण मात्र है' यह कह कर इसे ही और भी व्यापकता दी है।

भिन्न-भिन्न संस्कृतियों, संस्कारों और परम्पराओं के अनुसार विभिन्न भावों की संयोजना में, उनकी अभिव्यक्ति में अन्तर अथवा न्यूनाधिक्य की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता किन्तु उनका स्थायित्व अथवा नैरन्तर्य अनिवार्य है। शृंगाररस प्रधान नाटकों में प्रेम की भावना जो रति स्थायीभाव के रूप में स्थित रहती है भले ही कभी नाट्य में अभिव्यक्त न हो पाये किन्तु संघर्ष की भावना वह चाहे आन्तरिक हो अन्तर्द्वन्द्व के रूप में अथवा बाह्य हो बहिर्द्वन्द्व के रूप में छूट नहीं पाती।

प्रतिद्वन्द्विता का मूल

काव्य की नाट्यविधा और प्रतिनायक के मूल को एक में मिलाकर देखना उचित न होगा क्योंकि प्रतिनायक अथवा उसकी प्रवृत्ति के मूल में विद्यमान भावों को अपितु हम सृष्टि की उत्पत्ति अथवा मानव सभ्यता के विकास के साथ जोड़

---

१ किं नाट्यम् ? नाट्यमनुकरणम् ।

- नाटकलक्षण रत्नकोश, पृ० १२

सकते हैं, हम नाट्यविधा को इतना पुरातन सिद्ध कर पाने के प्रमाण नहीं पाते।[1] नाटक के किसी भी रूप को चाहे वह लोकधर्मी हो अथवा नाट्यधर्मी उसे ऋग्वेदकालीन सिद्ध नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद में नाटक (रूपक) के मूलतत्वों का संकेत मात्र मिलता है जबकि प्रतिनायक के पूर्ण विकसित चरित्र का दर्शन हमें उसमें सुलभ है।

इसके पूर्व कि हम वेदों में प्राप्त प्रतिनायकीय तथ्यों की विवेचना करें हम आधुनिक इतिहास के आधार पर यह सोचने को बाध्य हो जाते हैं कि पूर्व-ऐतिहासिक काल के लोगों में भी सगोत्रीय जनों के प्रति प्रेम एवं अन्य गोत्रीय लोगों के प्रति उपेक्षा और प्रतिस्पर्धा की भावना अवश्य विद्यमान् रही होगी। सभ्यता का वह युग जब पशुधन की प्रधानता थी उनके चारागाहों के लिए अथवा उन पशुओं पर अधिकार के लिए होने वाले संघर्ष का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। सम्भवत: वशिष्ठ एवं विश्वामित्र के मध्य होने वाले संघर्ष के मूल में भी वशिष्ठ का पशुधन से सम्पन्न होना ही रहा होगा। धन अथवा सम्पत्ति ही नहीं प्रतिष्ठा एवं अकारण भी वैर एवं प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या एवं द्वेष की भावनाएं मानव-मन को आलोड़ित करती हैं। अथर्ववेद के एक मंत्र में स्पष्टरूप से 'ज्वर' को पश्चिम दिशा में भाग जाने को कहा गया है। यह अथर्ववेद के उस मन्त्रद्रष्टा ऋषि की अन्य आर्यों से विद्वेषभावना का परिचायक है।[2] अत: नाना स्थलों पर उत्खनन में प्राप्त शस्त्रास्त्रों का उपयोग केवल मृगया के निमित्त होता था ऐसा मान लेना संकुचित दृष्टि का परिचायक होगा।

प्रत्येक संस्कृति अथवा धर्म की सृष्टि सम्बन्धी पौराणिक कथाओं में यही स्वार्थपरक प्रतिस्पर्धा एवं छल-कपट के विकसित अविकसित रूप देखने में आते हैं। इनकी चरमपरिणति एक के द्वारा दूसरे को समाप्त कर देने की भावना और प्रयास में देखी जाती है। ईसाई और इस्लाम धर्म की कथाओं में आदम और शैतान की स्थिति हो अथवा वैदिक पुराकथाओं एवं तन्निस्सृत पौराणिक साहित्य में देवासुर-संग्राम, इन सभी में न्यस्त स्वार्थों का संघर्ष है, सम्पन्नता के लिए प्रतिद्वन्द्विता है, अपनी उन्नति के लिए दूसरे को मार्ग से हटाने का प्रयास है। अतस्तप्रत्येक संस्कृति

----

१ डा० पाण्डेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र, पृ० ४०

२ अथर्व० ५।२२।५

एवं धर्म ने अपनी परम्पराओं और परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में सार्वकालिक-सार्वभौम आदर्शों और मान्यताओं की अपनी-अपनी व्याख्याएं कर ली हैं । किन्तु यहां इसकी विवेचना न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सत् एवं असत् की स्थिति ही जगत् का जीवन है । जिस प्रकार विद्युत् धारा तब तक प्रकाश नहीं दे सकती जब तक पॉजिटिव और निगेटिव धाराएं कहीं मिलती नहीं । उसी प्रकार सत् एवं असत् के एक साथ विद्यमान न रहने पर संसार की गतिमत्ता में सन्देह हो सकता है । वस्तुत: आदम और शैतान, देव और दानव, सुर और असुर, इन्द्र और वृत्र, राम और रावण अथवा चारुदत्त और शकार ऐसी ही भावनाओं और आदर्शों के प्रतीक हैं । यही कारण है कि एक के उदासीन होने पर भी उनका संघर्ष चलता रहता है और दोनों के ही क्रियाशील हो उठने पर जो स्थिति होती है उसे हम अगले अध्यायों में देखेंगे ।

तत्त्वत: यह भावों और सिद्धान्तों का संघर्ष ही प्रतिस्पर्धा को जन्म देता है जो कभी सैद्धान्तिक संघर्ष के रूप में तो कभी युद्ध नियुद्ध के रूप में विस्तार पाती है । अत: इस संघर्ष को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है जिन्हें भाव संघर्ष अथवा अन्तर्द्वन्द्व एवं युद्धनियुद्ध अथवा बहिर्द्वन्द्व के रूप में देखा जा सकता है । हम सामाजिक जीवन में पाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति सुख-दु:ख का समान रूपेण अनुभव करता है । सभी के मन में किसी के प्रति प्रेम तो किसी के प्रति विरोध की भावना होती है. जब कभी विरोध की यह भावना प्रत्यक्षत: युद्धादि के रूप में प्रकट नहीं होती तो भी वह भावसंघर्ष के रूप में अन्तर्मन को मथ डालने में समर्थ होती है ।

√संस्कृत के रूपकों में इस भाव संघर्ष को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है । भरतमुनि ने भी इन भावों और उनसे अनुप्राणित अवस्थाओं के महत्त्व को स्वीकार करते हुए ही कहा है- नाटक (रूपक) वही है जिसमें विभिन्न मनोभावों और विभिन्न अवस्थाओं को लौकिक जीवन में अवतरित होते हुए प्रदर्शित किया जाय[1] रति, उत्साह, निर्वेद, ग्लानि, जुगुप्सा, आश्चर्य, घृणा अथवा चिन्ता आदि भाव

---

१ नानाभावोपसम्पन्नं नानाऽवस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम्

— ना० शा० १।११२

परिस्थितियों के अनुकूल विभिन्न अवस्थाओं को जन्म देते हैं । कभी कोई शृंगारिक चेष्टाओं द्वारा उन्हें प्रकट करता है तो कोई रुदन द्वारा, कोई क्रोध द्वारा तो कोई चिन्ता द्वारा । यही नाना अवस्थाएं हैं ।

दशरूपककार ने इन्हीं अवस्थाओं को नाट्य-शास्त्रीय धीरोदात्तादि चार प्रकार के नायकों की अवस्थाओं के रूप में स्वीकार किया है । लौकिक जीवन में सभी लोग इन भावों से अभिभूत देखे जाते हैं किन्तु नाट्य जीवन में औदात्त्य, औद्धत्य, शान्त अथवा लालित्य इन गुणों के आधार पर ही नायकों का वर्गीकरण स्वत: इनके महत्त्व को स्पष्ट करता है । अन्य अनेक आचार्यों ने इन अवस्थाओं को देशकाल आदि से प्रभावित दु:ख-सुखात्मक अनुभूतियों, अवस्थाओं से ग्रहण किया है[१]। जिससे भरतमुनि के उपर्युक्त कथन की अर्थवत्ता अधिक बढ़ जाती है विशेषकर आधुनिक नाट्यशास्त्रीय आलोचना के परिप्रेक्ष्य में यह निश्चितरूप से महत्त्वपूर्ण है ।

आधुनिक युग में नाटकों के जीवन अथवा सामाजिक जीवन से नैकट्य का अर्थ वस्तुत: समस्याप्रधान नाटकों की रचना से ग्रहण किया जाता है । यह विषय विवादास्पद हो सकता है । वस्तुत: सामाजिक अवस्थाओं में परिवर्तन होते रहते हैं अत: कालान्तर में ऐसी कृतियों का प्राचीन पड़ जाना अथवा अयथार्थ हो जाना स्वाभाविक है । जीवन से नैकट्य का वास्तविक तात्पर्य है जीवन के निर्धारित आदर्शों की स्थापना । हम स्वीकार भले ही न करें नाटक अथवा काव्य चाहे वे भारतीय हों अथवा किसी अन्य भाषा और देश के अमरता उन्हें ही प्राप्त होती है जो आदर्शों से अनुप्राणित होते हैं । समस्याओं की विभीषिका सामाजिक-दर्शक के मनोबल को निश्चितरूप से गिरा देगी जब वह देखेगा कि उसका नायक उन्हीं समस्याओं से जूझता हुआ परास्त हो जाता है । अत: समस्याओं और बाधक तत्त्वों का प्रदर्शन अनुचित नहीं है यह तो संस्कृत-रूपकों में भी है, किन्तु उनसे समझौता कर लेना उसके समक्ष

---

१ अभिनव भारती, भाग १, पृ० ३८ (ओरियण्टल आरा. बड़ौदा १९५६)

एवं : अवस्था या तु लोकस्य सुखदु:ख समुद्भवा ।

तस्याभिनय: प्राज्ञैर्नाट्यमित्यभिधीयते ।।

— नाटकलक्षणरत्नकोश पृ० १२

घुटने टेक देना न तो आदर्श है न ही उपयुक्त । इसके विपरीत संस्कृत रूपकों के नायक ऐसी समस्याओं का समाधान खोजते हैं,उनका अतिक्रमण करते हैं और आगे बढ़ते हैं । दोनों ही संस्कृतियों में समस्याएं हैं,बाधाएं है,सुख-दु:ख की अवस्थाएं हैं,दोनों ही के चरित्र लौकिक हैं,दोनों का आदर्श एक है,किन्तु एक का नायक भाग्य के हाथों मारा जाता है दूसरा कर्म करता है और फल भोगता है । एक मर जाता है दूसरा जीवित रहता है।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण, मुद्राराक्षस, मृच्छकटिकम् एवं वेणी संहार जैसे नाटकों में होने वाले संघर्ष महत्वपूर्ण हैं । इनके अतिरिक्त अभिज्ञानशाकुन्तलम्, उत्तररामचरितम्, महावीरचरितम्, मालविकाग्निमित्रम्, रत्नावली, नागानन्द प्रभृति नाटकों में ग्रथित भाव एवं कार्यकलाप भी कहीं असामान्य होकर नहीं उभरते । अभिज्ञान-शाकुन्तलम् का नायक दुष्यन्त सुरुचि सम्पन्न शासक एक, निष्ठावान् सुसंस्कृत नायक है । इसके साथ ही वह रूप लोलुप है पर सामाजिक प्रतिष्ठा के गिर जाने से भयभीत है । वह विलासी और काम सम्बन्धी क्रियाओं में अत्यन्त चतुर है । अपनी रूप लिप्सा और कामुकता के आवेग में वह अपने सर्वाधिक विश्वासी मित्र एवं राजमाताओं से झूठ तक बोल जाता है । राष्ट्रिय एवं उसके सहायकों का मछुये के साथ व्यवहार आधुनिक पुलिस व्यवहार से बहुत परे नहीं है । परिणीता सीता के लिये राम का विलाप और सीता का सात्विक प्रेम कृत्रिम नहीं लगते । इस रूप में शकुन्तला और दुष्यन्त के बीच अथवा पृथक्-पृथक् जो भावसंघर्ष है और राम के मन में सीता को लेकर जो भाव उठते हैं, राम-लक्ष्मण और परशुराम के सम्वादों में जो अविनय-अवज्ञा, ढिठाई और आत्मश्लाघा अथवा घमंड है वह किसी से छिपा नहीं है । अतएव यह पूर्णत: स्पष्ट है कि संस्कृत के नाटक भी सामान्य जीवन से विमुख नहीं है, पलायनवादी नहीं है । उनमें भाव-संघर्ष एवं बाह्य संघर्ष दोनों को स्थान तो मिलता ही है[१]। उनमें नाना-भावोपसम्पन्नता भी है,नाना अवस्थाओं का चित्रण भी है और लोकवृत्त चरित्र का अनुकरण भी है।

वैदिक वाङ्मय : प्रतिनिधि नायक, प्रतिनायक

संस्कृत साहित्य में जिस संस्कृति एवं परम्परा का चित्रण किया

---

१ कीथ - संस्कृत नाटक, पृ० ३० (कीथ के 'संस्कृत ड्रामा' का डा.उदयभानुसिंह द्वारा भाषान्तर)

गया तथा जिन सिद्धान्तों अथवा मान्यताओं की पुष्टि की गयी है उनका प्रमुख स्रोत वेदों एवं तन्निस्सृत पौराणिक साहित्य है । संस्कृत साहित्य का कोई भी विषय हो, दर्शन हो अथवा नीतिशास्त्र, नाटक हो अथवा काव्य सभी पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों, सूत्रसाहित्य और उपनिषदों का प्रभाव परिलक्षित होता है[1] । इतना ही नहीं वैदिक कर्मकाण्ड और दर्शन के प्रबल विरोधी बौद्ध एवं जैनदर्शन और साहित्य भी उनसे अछूते नहीं हैं । इतना ही नहीं संस्कृत के अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं के लिए सीधे वेदों से अनेक विषयों का चयन किया । पुरूरवा-उर्वशी,[2] वशिष्ठ एवं विश्वामित्र[3] की कथाओं का मूल वेदों में है । पुराणों में उपबृंहित देवासुर संग्राम ऋग्वेद में आर्यों द्वारा इन्द्रादि देवों के नेतृत्व में अनार्यों किंवा असुरों, दैत्य-दानवों और राक्षसों से किये जाने वाले संघर्ष की महापरिणति है जिसमें दश-राज्ञ युद्ध का भी प्रतिबिम्ब है ।

कालान्तर में लिखे जाने वाले साहित्य की प्रेरणा भूमि अथवा उपजीव्य साहित्य के रूप में महाभारत, रामायण एवं पुराणों का महत्व स्वत: स्पष्ट है । किन्तु उन्हें भी अपनी आदर्श मान्यताओं की प्रेरणा जिस स्थल से मिली वह भूमि इतनी मनोहारी और उर्वर है कि सम्भवत: विश्व का अन्य कोई प्राचीन साहित्य उसकी तुलना नहीं कर सकता । पुरूरवा-उर्वशी सम्वाद, यमयमी सम्वाद[4], इन्द्र-इंद्राणी-वृषाकपि[5] एवं अगस्त्य लोपामुद्रा और पुत्र[6] के मध्य वार्तालापों में जहां नाटकीय तत्त्वों का संकेत मिलता है[7] वहीं उषा सम्बन्धी सूक्त[8] एवं अन्य सूक्त ऋचाओं में काव्य के कमनीय तत्त्व महत्त्वपूर्ण हैं । अथर्ववेद का कथन इस दृष्टि से विकत्थना नहीं एक सत्य के रूप में प्रतीत होता है कि --'पश्य देवस्य काव्यत्वं न ममार न जीर्यति ।'

---

१ कीथ - वै० म० द०, अध्याय१ पृ० ७
२ ऋ० १०।९५
३ कीथ - संस्कृत नाटक, पृ० ६
४ ऋ० १०।१०
५ ऋ० १०।८६
६ ऋ० १ ।१७९
७ कीथ द्वारा डा० हर्टेल का उद्धृतमत.सं० ना०, पृ० ५
८ ऋ० मंडल ७। सूक्त ७५-८१ एवं ३।६१,५।७९,१।११३, १।११५।२

वेदों में प्राप्त तथ्यों के आधार पर नाटक की सत्ता के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु नाट्यशास्त्र की ऋग्वेद से पाठतत्त्व, यजुर्वेद से अभिनयतत्त्व, सामवेद से गीततत्त्व एवं अथर्ववेद से रसतत्त्व ग्रहण करके नाट्यरूपी नये पंचम वेद के निर्माण की मान्यता[1] अवश्य विचारणीय है। ऋग्वेद से ग्रहीत पाठ-तत्त्व जो उसके सम्वादात्मक पक्ष की ओर संकेत करता है, नाट्यरचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पूर्ण पद्यात्मक रूप में अब नाटक तो उपलब्ध नहीं हैं किन्तु अभिनय की दृष्टि से पद्य प्रयोग का ह्रास, नाट्य के विकास की ओर अवश्य संकेत करता है[2]। ऋग्वेद से पाठतत्त्व के ग्रहण करने का तात्पर्य परवर्ती साहित्य में उपलब्ध अनेक कथानकों से स्वत: स्पष्ट हो जाता है। ऋग्वेद के उक्त सम्वादों में जो विरोध एवं प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष और विवाद है उसके माध्यम से तात्कालिक सामाजिक वातावरण, राजनीतिक व्यवस्था और धार्मिक चिन्तन प्रक्रिया का ज्ञान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है जिसके आधार पर आर्यों के पूर्ण सभ्य होने के प्रमाण तो प्राप्त होते ही हैं उनके उस शत्रु वर्ग का स्पष्ट उल्लेख भी उपलब्ध हो जाता है जिनके साथ उनकी प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष अत्यन्त सजीव हैं। इस संघर्ष के कई रूप हैं। कहीं आर्यों का आर्येतर वर्ग के आदिम-जातीय (अनास) लोगों से संघर्ष है तो कहीं आर्यों का आर्यों अथवा भ्रष्ट आर्यों से संघर्ष है[3]। कहीं आर्यों द्वारा इन्द्र आदि देवों के नेतृत्व में दानवों से संघर्ष है तो कहीं प्राकृतिक बाधाओं का मानवीय अथवा दानवीय स्वरूप उपस्थित करके इन्द्र आदि देवों के साथ उनका संघर्ष प्रदर्शित किया गया है।

इस प्रकार ऋग्वेदीय संघर्ष को सरलता की दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है —

(क) आर्यों का इन्द्र आदि देवों के नेतृत्व में, अहि, वृत्र

---

१ नाट्यशास्त्र १।१७

२ तुलना करें -- सेल्डा(न)वेनी-कृत 'रंगमंच' पृ० ४८

३ वै० य० द० अध्याय ७, पृ० १११

अर्बुद, पणिगण, बल, शुष्ण प्रभृति प्रतिद्वन्द्वियों से संघर्ष, जिसमें दानवीय, अर्ध-मानवीय और प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिनिधि प्रतिद्वन्द्वी भी आ जाते हैं। इस संघर्ष-कथा में इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति, अङ्गिरस, मरुत् एवं कुत्स प्रभृति देवों का स्वरूप नायकों जैसा है, वे संयुक्त रूप से अथवा पृथक्-पृथक् इन प्रतिद्वन्द्वियों से युद्ध करते हैं। जिनमें इन्द्र प्रायः सभी की सहायता करते हैं।

(ख) इन्द्र आदि देवों का परस्पर संघर्ष। वरुण, मरुत्, कुत्स एवं रुद्रादि देवों के साथ इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता एवं सूर्य तथा उषा से उसकी ईर्ष्या को इसी वर्ग में रखा जा सकता है।

(ग) आर्यों का आर्यों से संघर्ष। तृत्सुवंशी अतिथिग्व दिवोदास एवं पैजवन सुदास के साथ यदु, तुर्वश, मत्स्य, पक्थ, एवं अनु, द्रुह्यु तथा पुरु प्रभृति आर्यों अथवा 'आर्यगणों' की प्रतिद्वन्द्विता को इसी वर्ग में रखा जा सकता है। दशराज्ञ युद्ध एवं वसिष्ठ-विश्वामित्र की प्रतिद्वन्द्विता को भी इसी दृष्टि से देखना उचित होगा।

(घ) आर्यों का अनार्यों से संघर्ष। आर्य शासकों के साथ शम्बर, बलिन, पिपाणिन् प्रभृति अनार्यों या आदिम-जातीय जनों के संघर्ष को इसी वर्ग में रखा जा सकता है जो अतिथिग्व दिवोदास एवं सुदास के साथ हुए उपर्युक्त युद्धों में उनके आर्यशत्रुओं का साथ देते हैं। आर्येतर अनास, कृष्ण, शिश्नदेवो अथवा लिङ्गोपासकों की प्रतिद्वन्द्विता भी इसी वर्ग में आयगी। अन्तिम दोनों वर्ग के संघर्षों के मूल में साम्राज्य-विस्तार की महत्त्वाकांक्षा को देखना अनुचित न होगा।

इस दृष्टि से भौतिक शक्ति-सम्पन्न-अनार्यों से आर्यों का अथवा राज्य-सीमा, सम्पन्नता अथवा अन्य स्वार्थों के कारण परस्पर आर्यों का ही संघर्ष समझ में आने वाली बात है। किन्तु इन्द्र, कुत्स, बृहस्पति, विष्णु, रुद्र, सोम, मरुत्, वरुण प्रभृति देवों का युद्ध-भूमि में अवतरित होना ऋग्वैदिक ऋषियों की युद्ध-भीरुता का परिचायक है। देवों की कोटि में इन्द्र और भौतिक प्राणियों के क्षेत्र में दिवोदास, सुदास तथा ऐसे ही कुछ अन्य आर्य शासक (अथवा जातियां) महत्त्वपूर्ण हैं जिन्हें नायक होने के लिए चुना जा सकता है। जैसे विष्णु, रुद्र, कुत्स, बृहस्पति तथा

अग्नि भी ऐसे देव हैं जो संघर्ष करते हैं पर अधिकांश इन्द्र पर आश्रित हैं। कहीं-कहीं तो ये इन्द्र को अकेला छोड़कर भाग जाते हैं। इनका पलायन जहां प्रतिद्वन्द्वी की शक्ति सम्पन्नता की ओर संकेत करता है वहीं इन्द्र के साहस की सराहना भी। सच तो यह है कि इन्द्र ही आर्यों का वह अप्रतिहत सेनानी है जो उनकी सहायता के लिए सदा सन्नद्ध रहता है।

इन्द्र के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी हैं - वृत्र, अहि, बल अर्बुद, विश्वरूप, पिप्रु, नमुचि, वर्चिन और धुनि। इनमें भी, इन्द्र की `वृत्रहा` के रूप में ख्याति, वृत्र को उनका प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध करती है। ऋग्वेद की कथाओं को किसी व्यवस्थित ढंग से उपस्थापित नहीं किया सकता, और न तो उसके क्रमिक विकास का विश्लेषण ही किया जा सकता है किन्तु प्राप्त प्रमाणों के आधार पर इन्द्र का नायकत्व और प्रतिनायकत्व अवश्य परिलक्षित हो जाता है।

किसी भी कथा में अन्तिम फल का उपभोक्ता नायक होता है। उसके मार्ग में, फलप्राप्ति में बाधक तत्वों का उपस्थापक प्रतिनायक होता है। यह नायक एवं प्रतिनायक का एक स्थूल लक्षण कहा जा सकता है। नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से इन नायकों के चार भेद हैं -- धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत एवं धीरप्रशान्त। भरतमुनि ने गुण, कर्म एवं स्वभाव के अनुसार देवों को धीरोद्धत, राजाओं को धीरललित, अमात्य एवं सेनापति को धीरोदात्त एवं ब्राह्मण तथा वणिक् नायकों को धीरप्रशान्त माना है।[1] 'देवा: धीरोद्धता: ज्ञेया:' भरत की इस मान्यता के आधार पर नायक की भूमिका में आने वाले देवों का स्वरूप धीरोद्धत होता है। अर्थात् दर्प, मात्सर्य, माया, छद्म, अहंकार, चित्तवृत्ति की चंचलता, प्रचण्डता एवं विकत्थना जैसे गुण धीरोद्धत नायक में ऐकान्तिक रूप से मिलते हैं। इन्द्र जैसे धीरोद्धत नायक की प्रतिद्वन्द्विता में आने वाले प्रतिनायकों का चरित्र भी कम उद्धत नहीं है। दशरूपककार के अनुसार प्रतिनायक वस्तुत: नायक का `रिपु` है। जो लोभी, स्तब्ध (हठी), पापी, व्यसनी एवं धीरोद्धतनायक[2] के गुणों से युक्त होता है।[3] अर्थात् वह नायक

---

१ भ० ना०शा० २४।२-५

२ दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायण: ।।५।।
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थन: । - दशरूपक २।५-६

३ द० रू० २।९

का विरोधी है अत: ईर्ष्यालु भी होता है[1]। स्वाभाविक रूप से अपने उदात्तपरिवेश में प्रतिनायक को किसी धीरोद्धत नायक से भी बढ़कर उद्धत और उग्र होना चाहिए। प्रयोग में प्रतिनायक कितना खरा उतरता है यह तो हम आगे देखेंगे किन्तु इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वियों में ऐसे अधिकांश तत्त्व मिल जाते हैं जिनसे इन्द्र के चरित्र को, उसकी प्रतिमा को अलंकृत करने में सहायता मिलती है।

इन्द्र का नायकत्व

ऋग्वेद में इन्द्र एक महान् देवता है। उसके महत्वीय कार्य हैं -- वृत्रादि दानवों का दलन, पर्वतों का पक्ष-कर्तन करके धरा के कष्टों का उपशमन,[2] गौवों की मुक्ति, आर्यों की सम्पत्ति की रक्षा, भूमिदान,[3] नदी खोदना तथा जलप्लावन से रक्षा हेतु नदियों को समुद्र की दिशा में प्रवाहित करना[4] आदि। उसके कार्यों का एकत्र उल्लेख करते हुए ऋषि विश्वामित्र कहते हैं --

अहन्न वृत्रं स्वधतिर्वनेव रुरोजपुरो अरदन्न सिन्धून्।
बिभेद गिरिं नवमिन्न कुम्भमा गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भि:।।

-ऋ० १०।८६।७

इतना ही नहीं वे युद्धादि में आर्यों की ही नहीं देवताओं की भी सहायता करते हैं। अग्नि, मित्र, बृहस्पति, अर्यमा, वरुण एवं मरुत् प्रभृति सभी देवता उसके ऋणी हैं। शत्रुओं से अकेले लोहा लेने में वही सक्षम है अत: युद्ध का नेतृत्व वही करता है[5]। शत्रु के प्राणघातक प्रहारों से संत्रस्त देवता इन्द्र को अकेला

---

१ 'व्यसनीपापकृत् द्वेष्य: नेतास्यात् प्रतिनायक:' -नंबराजयशोभूषण,विलास ६

२ य: पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्य: पर्वतान् प्रकुपितॉं अरम्णात्। ऋ०२।१२।२ एवं२।१७।५
एवं तमिन्द्र पर्वतं महामुरुं वज्रेण वज्रिन् पर्वशश्चकर्तिथ। ऋ० १।५७।६

३ अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय। ऋ० ४।२६।२
दाता राध: स्तुवते काम्यं वसु:। ऋ० २. २२. ३

४ अ माहिन इन्द्रो अर्णो अपां प्रैरयदहिहाच्छा समुद्रम्। ऋ०२।१६।३ एवं ३।३३।६,६

५ इन्द्रं वृत्राय हन्तवे देवासो दधिरे पुर:। ऋ० ८।१२।२२ एवं ६।१७।८

छोड़कर भाग जाते हैं उनके मित्र मरुद् कुछ पल साथ देते हैं, अन्त में वे भी भाग खड़े होते हैं[1] किन्तु इन्द्र अन्त तक लड़ता है और वृत्र को पराजित करता है। इन्द्र एक सशक्त धीरोद्धत नायक हैं। वे कुलीन भी हैं और सर्वगुण सम्पन्न भी।

इन्द्र की कुलीनता

इन्द्र जो कि 'दस्यु-वृत्रों' के नाश के लिए उत्पन्न अथवा नियुक्त किये गये[2] थे, एक कुलीन देवता हैं। वे चाहे सृष्टि के जन्मदाता पुरुष के मुख से उत्पन्न हुये हों[3], सोम से उत्पन्न हुए हों[4], अथवा पिता की हत्या करने के कारण अपनी माता को विधवा बनाने वाले हों, सभी पुराकथाओं के अनुसार वे श्रेष्ठकुल (सद्वंश) से सम्बद्ध हैं[5]। उनका उठना बैठना भी श्रेष्ठ लोगों के मध्य है। अग्नि और पूषन् उनके भाई हैं[6]। उनकी कल्याणी जाया का भी उल्लेख है जिन्हें 'इन्द्राणी' यह संज्ञा प्राप्त है[7]। उनके भतीजों के सम्बन्ध में भी ऋग्वेद में उल्लेख है[8]। स्वाभाविक है वे यदि कुलीन एवं श्रेष्ठ न होते तो उत्पन्न होते ही सभी पर कैसे अपना प्रभाव जमा लेते[9]। उनकी माँ का नाम अदिति, गृष्टि अथवा निष्टिग्री है[10]। इनके पिता के रूप में

---

१ वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखाय: ।
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वा: पृतना जयासि । ऋ०८।९६।७
तथा- क्व स्या वो मरुत: स्वधासीद्यन्मामेकं समधत्ताहिहत्ये । ऋ०१।१६५।६ एवं ८।७।३१

२ घ्नं वृत्राणां जनयन्त देवा । ऋ० ३।४९।१, दस्यु हत्याय जज्ञिषे ।१।५१।६

३ मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च, ऋ० १० ।९० ।१३

४ ऋ० ६।६९।५

५ शत० ११।१।६।१४, तै० ब्रा० २।२।१०।१

६ ऋ० ६।५५।५

७ इहेन्द्राणीमुपह्वये, ऋ० १।२२।१२

८ भ्रातु: पुत्रान् मघवन् तितित्वाण: । ऋ० १०।५५।१

९ जातं यत्त्वा परि देवा अभूषन् । ऋ० ३।५१।८

१० ऋ० १०।१०१।१२ एवं ४।१८।१०

द्यौस, अग्नि एवं पृथ्वी का भी उल्लेख आता है। उत्तरकालीन साहित्य में कुत्स जो इन्द्र के समरूप हैं, को इन्द्र का पुत्र कहा गया है[1]। तात्पर्य यह कि इन्द्र की कुलीनता पर सन्देह नहीं किया जा सकता।

इन्द्र की उदारता

इन्द्र का चरित्र धीरोद्धत नायकों जैसा है। अत: उसमें धीरता अथवा उदारता का भी महान् गुण विद्यमान है। वह सदा देवों और मानवों की सहायता के निमित्त उद्यत रहता है। दध्यन्च को मधुविद्या का दान[2], पुत्राभिलाषिणी वध्रिमती को पुत्रदान[3], आर्यों को पृथिवी दान, इतना ही नहीं अपने उपासकों को द्रविण-दान भी वह करता है। अनेक ऐतिहासिक पुरुषों यथा- यदु और तुर्वश जाति के शासकों को सरित् संतरण कराने की भी कथा उसकी उदारमना प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है। ऋषियों, आर्यशासकों एवं अन्य उपासकों के लिए उसके मन में असीम दया है, वह इन सभी का सहायक एवं आश्रयदाता है। इस सन्दर्भ में अभिज्ञानशाकुन्तलम् के उदारमना दुष्यन्त कास्मरणहो आना स्वाभाविक है जो घोषणा करता है --

येन येन वियुज्यन्ते प्रजा स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥
शाकु० ६।२३

इसी महान् गुण के परिप्रेक्ष्य में ऋषियों ने उसे `मघवन्` उपाधि से अलंकृत किया। कीथ महोदय भी उसकी `मघवन्` उपाधि में ऐसी ही उदारता के दर्शन करते हुए कहते हैं :- `इन्द्र अपने उपासकों के साथ मित्र, भाई, पिता, माता जैसे निकट सम्बन्ध में आते हैं। उनके `कौशिक` विशेषण से ज्ञात होता है कि वे कुशिक-कुल के कुलदेवता थे। वे उदारता में अनुपम हैं। अत: मघवन् की उपाधि तो उनका अभिधान ही बन गया है। उनकी उदारता पत्नियों एवं अपत्य दिलाने तक

----

१ जैमिनी, ३।१६६

२ ऋ० १।८४।१३,१४ एवं १।११६।१२ पर सायणभाष्य तथा ऋग्वेद कथा, पृ० ३-६

३ ऋ० १।११६।१३

पहुंची हुई है[1]। किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि उसकी उदारता एवं सरलता के कारण ही देवता-मानव सभी में एक प्रकार की निष्कर्मण्यता व्याप्त हो गयी थी अन्यथा एक गर्त में गिरा हुआ कुत्स उससे गर्त से निकालने की प्रार्थना क्यों करता[2]।

इन्द्र का अहंकार एवं दर्प

उसके स्वागत भाषणों में उसकी शक्ति का दर्प अत्यन्त प्रखर है। इसमें सन्देह नहीं कि वह वीर है किन्तु उसका बखान उसके अहंभाव की अभिव्यक्ति है। उसने आर्यों को भूमि दी या दिलायी, उसने जल दिया, प्राणियों को उसने धन दिया इसका समर्थन ऋषिगण भी अपनी ऋचाओं में करते हैं किन्तु इन्द्र के कथन की विधा बड़ी रोचक है :--

> अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषेमर्त्याय ।
> अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनुकेतमायन् ।।
> अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य
> शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम् ।।
>
> - ऋ० ४।२६।२,३

इन्द्र ने शम्बर को मारा उसके दुर्ग जीतकर अतिथिग्व को दिये, व यदि इसका उद्घोष वह स्वयं न करता तो भी वह सभी को ज्ञात होता किन्तु तब उसकी शक्ति का गर्व, उसका दर्प[3] अज्ञात ही रहता, उसका औद्धत्य अपूर्ण ही रह जाता। वह वरुण से अपने अधिकार के सम्बन्ध में यहां तक कहता है कि --

> मां नरः स्वश्वा वाजयन्तो मां वृताः समरणे हवन्ते ।
> कृणोम्याजिं मघवाहमिन्द्र इयर्मि रेणुमभिभूत्योजाः ।।
>
> - ऋ० ४।४२।५

अर्थात् संग्राम के लिए सन्नद्ध योद्धा हमारा अनुगमन करते हैं, वे मेरा ही आह्वान करते हैं, हम महान् शक्तिसम्पन्न हैं और युद्धभूमि में हम धूल उड़ाकर रख देते हैं।

---

१ वै० ध० द० भाग २, पृ० १६३

२ इन्द्रं कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिं काटे निबाळ्ह ऋषिरह्वदूतये ।ऋ०१।१०६।६

३ दर्पःशौर्यादिमदः - नाट्यदर्पण १।८ का वृत्तिभाग

इन्द्र में शक्ति के,शारीरिक शक्ति के उन्माद की अपेक्षा बुद्धि, विद्या अथवा धन के सम्बन्ध में अहंभावना की अभिव्यक्ति न्यून है। इसके दो कारण हैं एक तो यह कि वह युद्ध का देवता है, दूसरे वह स्वयं अपने सम्बन्ध में कुछ कहे ऐसे स्थल बहुत कम हैं। इस कारण ऋषियों की प्रशस्तियों में यत्र-तत्र उसके दोनों प्रकार के अहंभाव के प्रमाण मिलते हैं। सत्य तो यह है कि ऐसे अधिकांश कथन जिन्हें हम यदि इन्द्र के मुख से सुनते और उसके दर्प अथवा अहंकाररूप में ग्रहण करते ऋषियों द्वारा उक्त होने के कारण `अतिशयोक्ति` के रूप में गिने जाते हैं। फिर भी इन्द्र के चरित्र में दर्पदम्भ एवं विकत्थना सभी गुण विद्यमान हैं।

उन्हें दूसरों द्वारा न किये जा सकने योग्य कार्य करने हैं अत: वे अपनी उत्पत्ति के निमित्त किसी नव्यमार्ग की खोज करते हैं, किन्तु अपने पराक्रम और शक्ति को भूल कर दुर्गम मार्ग से भयभीत है। नव्यमार्ग की खोज तथा अकरणीय कार्यों के करने के दम्भ में माँ की पीड़ा एवं प्राणों की उन्हें चिन्ता नहीं है --

नाहमतो निरया दुर्गहैतत्तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यैत्वेन सं त्वेन पृच्छै॥ ॥
परायतीं मातरमन्वचष्ट ननानुगान्यनुनुगमानि ॥ ऋ०४।१८।२,३

एक स्थल पर जिसे अनेक विद्वानों ने इन्द्र एवं वरुण के मध्य वाग्युद्ध के रूप में देखा है[1], हम पाते हैं इन्द्र को अपनी शक्ति का ही नहीं विद्या और बुद्धि का भी अहंकार है वह कहता है --

अहमिन्द्रो वरुणस्ते महित्वोर्वी गभीरे रजसी सुमेके।
त्वष्टेव विश्वा भुवनानि विद्वान्त्समैरयं रोदसी धारयं च ॥ऋ० ४।४२।३

अर्थात् इस महान् गम्भीर एवं दुर्गम द्यावा पृथिवी पर इन्द्र[2] मैं ही हूँ।

---

१ कीथ - वैदि० ध० दर्शन, पृ० १११ (भाग १) एवं मैकडानल - वै० देवशास्त्र,पृ० १५७

२ 'य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्र: परमेश्वर:।' 'इदि' परमैश्वर्ये इस धातु से `रन्` प्रत्यय करने से इन्द्र शब्द सिद्ध होता है। स्वामीदयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश:, समुल्लास १, पृ० ६

वास्तविक वरुण[1] (तुम नहीं) मैं ही हूं। त्वष्टा की भांति सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों को प्रेरित करने वाला मैं ही हूं। विद्वान् मैं ही हूं। और इस चराचर जगत् को धारण करने वाला भी मैं ही हूं।

इसी मन:स्थिति में एकबार हम इन्द्र को पुन: पाते है। सोम के उन्माद में वह अपने दान एवं ऐसे ही अन्य शारीरिक शक्ति से अतिरिक्त शक्तियों द्वारा सम्पन्न कर्मों की चर्चा करता है। वह कहता है कि द्यावापृथिवी दोनों मिलाकर भी उसके समान नहीं है। इसे ही वह बार-बार कहता है[2]।

नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति। कुवित्सोमस्यापामिति
ऋ०१०।११९।७

अहमस्मि महामहोऽभिनभ्यमुदीषित:।कुवित्सोमस्यापामिति
ऋ १०।११९।१२

इन्द्र की विकत्थना

ऋग्वेद में ऐसे अनेक सूक्त एवं ऋचाएं हैं जहां हमें इन्द्र की विकत्थना-आत्मश्लाघा के दर्शन होते हैं। किन्तु उसके दम्भ, दर्प एवं आत्मश्लाघा के मध्य अन्तर कर पाना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसमें दो राय नहीं कि इन्द्र के सम्बन्ध में ऋषियों ने जो कुछ कहा है वह कहीं कहीं परस्पर विरोधी है, पुनरुक्त है एवं यत्र-तत्र उनमें अतिशयोक्ति है, किन्तु ऐसे ही कथन इन्द्र स्वयं भी कहता है --

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्र:।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ।।

ऋ० ४।२६।१

मैं ही मनु हूं मैं ही सूर्य हूं कक्षीवान् ऋषि मैं ही हूं। कवि उशना एवं अर्जुनी पुत्र कुत्स मैं ही हूं। अत: हे ऋषियों। तुम सब मुझे ही देखो।

---

१ वृञ् वरणे, वर ईप्सायाम् इन धातुओं से उणादि `उनन्` प्रत्यय होने से वरुण शब्द सिद्ध होता है। य: सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून्धर्मात्मनो वृणोत्यथवा य: शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्य्यते वा स वरुण: परमेश्वर:। अथवा वरुणो नाम वर: श्रेष्ठ:। देखें वही पृ० ५

२ ऋ० १०।११९वां सूक्त (यहां इन्द्र के चरित्र में श्लाघा के साथ-साथ शक्ति का दर्प एवं बौद्धिक अहंकार तीनों के एक साथ दर्शन होते हैं। देखें - वैदिकदेवशास्त्र - मैकडानल (डा० सूर्यकान्त कृत अनुवाद) पृ० १५८

उसकी ऐसी आत्मश्लाघा की तुलना में संस्कृत नाटकों में प्रस्तुत किसी भी नायक प्रतिनायक की आत्मश्लाघा को नहीं रखा जा सकता । परशुराम, रावण, दुर्योधन, भीम, घटोत्कच, चाणक्य, राक्षस कोई भी उससे अधिक विकत्थन नहीं है । वह कहता है --

अहं ह्युग्रस्तविषस्तुविष्मान्विश्वस्य शत्रोरनमं वधस्नैः ।।
ऋ० १।१६५।६

जगत्सृष्टि, द्यावापृथिवी का धारण एवं ऐसे ही अन्य कर्मों के सम्बन्ध में उसके कथन उसकी विकत्थना के ज्वलन्त प्रमाण हैं[1]। सोमपान के उपरान्त उसके स्वगत कथनों वाले सूक्तों में उसकी ऐसी भावनाओं की सफल अभिव्यक्ति हुई है । इसी रूप में वरुण एवं इन्द्र के विवाद के प्रसंग में,[2] वरुण तथा अन्य देवों द्वारा सम्पादित कर्मों को इन्द्र अपने साथ जोड़ लेता है ।

इन्द्र की असहिष्णुता

इन्द्र की असहिष्णुता अत्यन्त प्रकट है । देवता वे चाहे सूर्य हों अथवा वरुण, उषस् हों अथवा मरुद्, इन्द्र किसी को भी अपने से श्रेष्ठ मानने का अभ्यस्त नहीं है । पणियों से उसके संघर्ष के पीछे भी उसकी असहिष्णुता ही है । धनधान्य से भरपूर होते हुए भी पणि यज्ञ नहीं करते फिर भी देवत्व प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं[3]। इन्द्र की शुनी सरमा पणियों के समीप उसका सन्देश लेकर जाती है। पणि गण इन्द्र के बारे में अपनी अनभिज्ञता प्रकट कर उसका अपमान करते हैं । इतना ही नहीं वे सरमा को प्रलोभन देकर अपने वश में करना चाहते हैं[4]। अतः वह युद्ध में उनका संहार करता है[5]। एक उत्तरकालीन कथानक के अनुसार एकबार कुत्स इन्द्राणी के समक्ष अपने को इन्द्र के समान मानने का दुःसाहस कर बैठता है जिससे इन्द्र क्षुब्ध

---

१ ऋ० १।१६५।८,१० तथा ऋ० १०।४८, ४६ सूक्त

२ ऋ० ४।४२।१-६

३ ऋ० १।१५१।६

४ कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात् ।
आ च गच्छान्मित्रमेना दधामाथा गवां गोपतिर्नो भवाति ।। [illegible]।१०८।३

५ ऋ० ६।२६।२

६ जैमिनीयब्राह्मण ३।१[illegible] [illegible] की [illegible]पता के लिए देखें -[illegible]।[illegible]।३

को उठता है और कुत्स को, जो उत्तर वैदिक कथाओं के अनुसार उसका पुत्र भी है, इन्द्र प्रकारान्तर से दण्डित करता है। वह कुत्स को यज्ञ-फल की प्राप्ति नहीं होने देता और उसके पुरोहित शुष्ण के पुत्र की हत्या कर डालता है। इसी प्रकार अपने को देव मान बैठने वाले शम्बर को वह उचित दण्ड देकर[1] अपनी असहिष्णुता का ज्ञापन करता है। उसकी वीरता के परिप्रेक्ष्य में यह उसका महान् गुण है, जिसके उल्लेख ऋग्वेद में सर्वत्र बिखरे पड़े हैं[2]

इन्द्र की माया एवं छद्मपरायणता

छल-छद्म, नीति के ही अंग हैं और उपयुक्त स्थल पर उनका प्रयोग भी अनैतिक नहीं है विशेषकर उस अवस्था में जबकि प्रतिद्वन्द्वी ने छल-कपट को अपनी रणनीति का अंग बना रखा हो। कीथ महोदय ने माया को छल अथवा गूढ शक्ति का पर्याय माना है। सायण भी इसे कहीं शक्ति तो कहीं छलकपट का पर्याय मानते हैं[3] ऐसे मायावियों से लोहा लेते समय इन्द्र को अनेक बार छलकपट का आश्रय लेना पड़ता है[4] जयद्रथ वध के लिये जिस प्रकार कृष्ण ने अपनी माया से सूर्य के चक्र को रोक दिया था उसी प्रकार इन्द्र ने कुत्स को शुष्ण से होने वाले युद्ध में विजय दिलाने के लिए सूर्य के चक्र को तोड़ डाला[5]। इन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी नमुचि भी महान् मायावी[6] है। इन्द्र उसके वध के लिये समुद्रफेन को अपना अस्त्र बनाता है[7]। एक परवर्ती आख्यान के अनुसार इन्द्र एवं नमुचि के मध्य एक संविदा थी जिसके अनुसार इन्द्र नमुचि को दिन अथवा रात्रि में किसी भी अस्त्र से नहीं मार सकता था। अतः इन्द्र उसे

---

१ ऋ० ७।१८।२०

२ ऋ० ४।२३।७, १।५७।६, ८।७६।१

३ वै० ध० द०, पृ० २८७ एवं ऋ० ५.३०.६ तथा ऋ० १।५१।५, २।१७।५

४ वै० ध० द०, पृ० ३०६

५ ऋ० १।१७५।४ एवं ६।३१।३

६ नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम् ।ऋ० १.५३.७

७ अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः । ऋ० ८. १४. १३

गोधूलिवेला में समुद्रफेन से मारता है[1]। एकबार नमुचि ने इन्द्र को सुन्दरियों के जाल में फंसाने का उपक्रम किया किन्तु इन्द्र ने सुन्दरियों को वश में करके, उसे परास्त किया[2]। इन्द्र का अनन्यतम प्रतिद्वन्द्वी वृत्र भी महान् मायावी है[3]। जिसे इन्द्र अपनी माया से मारता है --

प्रमायाभिर्मायिनं सक्षदिन्द्र: ।[4] - ऋ० ५।३०।६

यहां तक कि धुनि एवं चमुरि जैसे उसके छोटे-छोटे प्रतिद्वन्द्वी भी मायावी हैं जिन्हें इन्द्र दभीति के लिए एक साथ निद्रामग्न करके मारता है[5]। इस रूप में हम पाते हैं कि इन्द्र जितना उदार है उतना ही मायावी । वह 'शठे शाठ्य' की नीति जानता है और यथेच्छ रूपधारण करता है[6]।

इन्द्र की चंचल चित्तवृत्ति एवं व्यसन

अपने धीरोद्धत रूप में इन्द्र एक चंचल चित्तवृत्ति वाला नायक है । सोम से भरे चषक देखकर वह अपने मन को रोक नहीं पाता । वह उत्पन्न होते ही सोमपान करता है[7]। चोरी तो वह पणियों की भी करता है[8] किन्तु सोम के लिए उसका चौर-कर्म जगविख्यात है[9] इसी के लिए वह पिता का वध करता है और देवों

---

१ वैदिक धर्म एवं दर्शन, पृ० १६१ एवं टिप्पणी

२ स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे । ऋ० ५। ३० ।६

३ निमायिनो दानवस्य माया अपादयत् पपिवान् त्सुतस्य । ऋ० २.११.१० तथा १०।१४७।२

४ तुलना करें - व्रजन्ति ते मूढधिय: पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिन: ।
--उसकी माया के लिए अन्यत्र देखें : ऋ० १।८०।७, २।११।५,६ — किरातार्जुनीयम् ।

५ स्वप्नेनाभ्युप्या चमुरिं धुनिं च जघन्थ दस्युं प्रदभीतिमाव: । ऋ० २.१५.६

६ उग्रस्तुराषाडभिभूत्योजा यथावशं तन्वं चक्र एष: । ऋ० ३।४८।४
रूपंरूपं मघवा बोभवीति - ऋ० ३।५३।८
तथा - रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव - ऋ० ६।४७।१८

७ त्वं सद्यो अपिबो जात इन्द्र मदाय सोमं परमे व्योमन् ।
— ऋ० ३।३२।१०

८ ऋ० ५।३४।७

९ ऋ० ८।४।४

से वैर लेता है । सोमपान एवं प्रशंसा के गीत उसके धैर्य को हिला देते हैं । इसके व्याज से उससे सभी कार्य सम्पन्न करा लेना सरल है । वह स्वयं भी इस तथ्य को स्वीकारता है कि सोम पीने के बाद वह स्तोताओं की स्तुतियों पर वैसे ही दौड़ता है जैसे गायें बछड़ों के पीछे दौड़ती हैं :--

उप मा मतिरस्थित वाश्रा पुत्रमिव प्रियम् । कुवित्सोमस्यापामिति ।।

—ऋ० १०।११९।४

वस्तुत: सोमपान, जहां तक उसके धार्मिक उन्माद का कारण है, प्रशंस्य है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसके उन्माद में इन्द्र यदाकदा अनुचित कर्म भी कर डालता है ।

इन्द्र के सम्बन्ध में उत्तर वैदिक काल में प्रचलित गौतमपत्नि अहल्या की कथा अथवा उसी तरह की अन्य सम्भोग कथाओं के लिये वेदों एवं ब्राह्मणों में पर्याप्त सामिग्री उपलब्ध हो जाती है[1]। ऋग्वेद के आठवें मण्डल के ९१वें सूक्त में अपाला इन्द्र को सोम का लोभ देकर अपनी मनोकामनाएं पूर्ण करा लेती है । यद्यपि वहां इन्द्र के आचरण को सन्देह की दृष्टि से देखने में अनेक दोष एवं विवाद हो सकते हैं किन्तु सोमपायी इन्द्र के सम्बन्ध में, जो वरुण की भांति नैतिकता का ठेकेदार भी नहीं है और जिसके लिए अथर्ववेद एवं अन्य परवर्ती साहित्य में ऐसे उल्लेख मिल ही जाते हैं, अत्रिपुत्री अपाला के साथ सम्भोग की सम्भावना को अस्वीकारा भी नहीं जा सकता। सम्भव है यह उल्लेख अथवा आख्यान इन्द्र एवं अपाला के ऐसे सम्बन्धों का शिष्ट प्रस्तुतीकरण हो । किन्तु सायण ने इसमें इन्द्र की चंचल चित्तवृत्ति के ही दर्शन किए हैं[2] कीथ महोदय भी इस आख्यान में अस्पष्टरूप से ऐसे ही संकेत पाते हैं[3]। बृहद्देवता में तो इसी आख्यान को और भी स्पष्ट किया गया है :--

अपालात्रि सुता त्वासीत् कन्या त्वग्दोषिणीपुरा ।
तामिन्द्रश्चकमे दृष्ट्वा विजने पितुराश्रमे ।। ६।९९

यहां ऋग्वेद के उल्लेख के विपरीत स्वयं इन्द्र की रति-याचना का

---

१ अहल्यायां ह मैत्रेय्याः (इन्द्रः) जार आस ।
—शत० ३।३, एवं ३।३।४।१८ जैमिनी २।७९

२ ऋ० ८।९१।४ पर सायण भाष्य --'संगम शब्देनेन्द्रोऽपालामचकमतेति ।'

३ वै० ध० द०, पृ० १६५ (प्रथम भाग)

उल्लेख है । जिसके फलस्वरूप वह तीन वरों का प्रतिदान पाती है[१]।

इसी प्रकार बृहद्देवता व्यंस नामक दानव की ज्येष्ठ स्वसा के साथ इन्द्र के ऐसे ही सम्बन्धों की ओर एक अस्पष्ट उल्लेख करता है[२]। उधर जैमिनीय ब्राह्मण इन्द्र को `अहल्या जार'[३] एवं दीर्घजिह्वी के प्रेमी[४] के रूप में पुकारता है । जहां वह अपना रूप छिपाकर क्रमशः गौतम एवं सुमित्र का रूप धारण कर अहल्या एवं दीर्घजिह्वी के साथ अभिगमन करता है । जैमिनीय ब्राह्मण में ही हात्रपत्नि उपमा के समक्ष इन्द्र के प्रकट होने की कथा में भी विद्वानों ने ऐसे ही संकेत देखे हैं[५]। अथर्ववेद में भी इन्द्र के ऐसे चरित्र के सम्बन्ध में एक कथा मिलती है जहां एक आसुरी द्वारा इन्द्र को देव स्थान से च्युत करने का उल्लेख है[६]:--

येना निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परि ।
तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेसानि सुप्रिया ।। अथर्व० ७।३८।२

इस रूप में हम पाते हैं कि इन्द्र का चरित्र उसकी चंचल चित्तवृत्तियों से घिरा नितान्त मानवीय है और नाटकीय दृष्टि से धीरोद्धत नायक के अतिनिकट है, किन्तु इन्द्र के जिन गुणों की चर्चा हमने पिछली पंक्तियों में की वे उसके चरित्र की अंगी विशेषताएं अथवा गुण हैं । जब कि प्रचण्डता किंवा प्रतापवत्ता अथवा वीरता उसके रग रग में भरी है । अतः वही उसका प्रधान गुण है ।

इन्द्र का प्रचण्ड तथा उद्धत स्वरूप

जिस प्रकार धीरोदात्त नायकों में चरित्र की उदात्तता, धीरललित में

---

१ द्रष्टव्य : बृहद्देवता, अध्याय ६। ६६-१०८

२ ,, ,, अध्याय ६।७६-७७

३ जैमिनी: २।७९, पृ० १६१

४ जैमिनी: १।१६१-१६३, पृ० ६७-६८

५ जैमिनी : ३।२४६ देखें - वै० ध० द०, पृ० १५५ पर टिप्पणी सं० ६

६ काठकसंहिता के अनुसार विलिस्तेंगा नामक किसी दानवी के चक्कर में फंसकर इन्द्र असुरों के बीच रहने लगे थे और वहां वे अपनी माया का पूरा उपयोग कर स्त्रियों में स्त्री रूप से तथा पुरुषों में पुरुष रूपधारण कर विचरते थे ।
--वै० दे० शा०, पृ० १३६ ।

लालित्य की प्रधानता और धीरशान्त में शम की प्रचुरता रहती है उसी प्रकार धीरोद्धत नायक में औद्धत्य का प्राधान्य रहता है । यह औद्धत्य मात्र विध्वंसकारी भी हो सकता है एवं सृजनात्मक भी । शब्दान्तर से इसे ही औद्धत्य-आदर्शोन्मुख और औद्धत्य-आदर्श-प्रतिमुख भी कहा जा सकता है । विश्वामित्र (त्रिशंकु के प्रसंग में), परशुराम, रावण, बालि, दुर्योधन, शकुनि जैसे धीरोद्धत चरित्र दूसरी कोटि में रखे जा सकते हैं जो अन्त में आदर्श की ओर उन्मुख होते हैं । जबकि अर्जुन, भीम, लक्ष्मण एवं घटोत्कच, चाणक्य एवं राक्षस जैसे अनेक चरित्र हमारे कथा शास्त्र, काव्यों एवं नाटकों में प्रारम्भ से अन्त तक आदर्शोन्मुख धीरोद्धत नायकों के रूप में दृष्टिगत होते हैं ।

इन्द्र के चरित्र में जो औद्धत्य दृष्टिगत होता है वह आदर्श है और विशेषकर सोमपान के उपरान्त उत्पन्न उन्माद अधिकतर धार्मिक उन्माद है । वह सोमपान के उपरान्त क्या नहीं कर सकता ? इस तथ्य से सभी देव एवं ऋषि परिचित हैं । वैसे उसकी प्रचण्डता के लिए सम्पूर्ण ऋग्वेद साक्षी है । उसकी स्तुतियों में उसकी उदारता के साथ-साथ उसकी प्रचण्डता और वीरता के गीत उत्कीर्ण हैं । सुपुष्ट एवं आजानु बाहुवों वाले[1] विशालकाय अतएव विशाल उदर[2] स्वर्ण वर्ण[3] एवं लम्बी भूरी दाढ़ी एवं मूछों से सुशोभित[4] इन्द्र का वर्णन किसी महाकाव्य के नायक के समान प्रभावशाली है।[5] उसके अस्त्र के रूप में उसके तीक्ष्ण वज्र का उल्लेख बार-बार हुआ है । इसी कारण उसे वज्री, वज्रबाहु[6] भी कहा गया है । ऋग्वेद में इन्द्र के धनुर्धर रूप के भी दर्शन होते हैं[7] जिसके बाण अत्यन्त तीक्ष्ण स्वर्णाभ एवं सहस्रों पंखों वाले हैं । उसके हाथों में अंकुश के भी दर्शन होते हैं जिससे वह प्रमुख रूप से धन दान करते हैं एवं शत्रुविनाश का कार्य लेते हैं[8]। धीरोद्धत नायक के लिए निर्धारित गुणों में चण्ड या प्रचण्ड इस गुण का तात्पर्य उसके क्रोध अथवा रौद्र स्वभाव से है । उसका क्रोध अत्यन्त भयानक है । प्रतिद्वन्द्वियों से युद्ध के प्रसंग में उसके क्रोध की अभिव्यक्ति सुतरां हुई है । और उन प्रसंगों में उसका प्रचण्ड रूप देखने योग्य है ।

---

१ ऋ० ६।१९।३   २ ऋ० ३।३६।८
३ ऋ० १।७।२   ४ ऋ० १०।२३।४
५ तुलनार्थ, वाल्मीकि: बालकाण्ड १।८-१६
६ ऋ० १०।४४।३   ७ ऋ० १०।५८।५
८ ऋ० ८।१७।१० एवं १०।४४।६

इस महान् देवता के चरित्र में संस्कृत काव्यों अथवा नाटकों के धीरोद्धत नायक के समान औद्धत्य की प्रधानता है । `देवा: धीरोद्धता:` की मान्यता यद्यपि इन्द्र के अतिरिक्त मरुत्, अग्नि एवं बृहस्पति के चरित्र पर भी घटित होती है किन्तु इन्द्र के चरित्र पर वह जितनी सटीक है उतनी अन्य पर नहीं । ऋग्वेद में इन्द्र का चरित्र कहीं-कहीं इतना उद्धत हो उठा है कि वह किसी प्रतिनायक के समान प्रतीत होने लगता है । संस्कृत काव्यों एवं नाटकों में जहां कहीं प्रतिनायक का चरित्र उभरा है नायक प्राय: धीरोद्धत हैं । और उनके चरित्र में औद्धत्य का पक्ष कहीं-कहीं इतना सबल हो उठता है कि कुछ अपवादों को छोड़कर यह निर्णय कर पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि नायक कौन है और प्रतिनायक कौन है[१]?

ऋग्वेद में इन्द्र सोमपान के बाद जितने कृत्य करता है उनमें कुछ महनीय कार्यों के अतिरिक्त ऐसे भी हैं जिनमें मृच्छकटिकम् के `शकार` के चरित्र का आभास होने लगता है[२]। सोमपान के बाद निश्चय ही उसकी शक्ति में अभिवृद्धि होती है[३] फिर भी उसका चौरकर्म[४] श्लाघ्य नहीं हो सकता । इसी प्रकार इन्द्र द्वारा उत्पन्न होने के निमित्त किसी अस्वाभाविक मार्ग की खोज[५] उसकी उद्दण्डता का परिचायक है । इन्द्र की उद्दण्डता का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि वह अपने पिता को पैरों से उठाकर पटक देता है और उनका वध कर देता है[६]। ऐसे इन्द्र को हम मानवीय रूप में देखें तो कोई अनौचित्य न होगा[७]। वैसे संस्कृत नाट्य परम्परा में विवेक, मोह जैसे भावों का मानवीकरण अपारम्परिक नहीं है और न ही देवों की रंगमंच पर उपस्थिति कोई आश्चर्यजनक घटना है फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर देवों की मण्डली में इन्द्र (ऋग्वैदिक) ही ऐसे गुणों से युक्त है जिसमें नाटकीयता का सन्निवेश अपने उच्चतम शिखर पर है ।

---

१ द्रष्टव्य;, मुद्राराक्षस (राक्षस अथवा चाणक्य), वेणीसंहार (भीम अथवा सुयोधन), दूतवाक्यम् (कृष्ण अथवा दुर्योधन), दूतघटोत्कचम् (सुयोधन अथवा घटोत्कच), मध्यमव्यायोग (घटोत्कच अथवा भीम) ।

२ ऋ० ४।२६।१ ३ ऋ० ६।१०।११

४ आमुष्या सोममपिबश्चमू सुतं ज्येष्ठं तद्दधिषे सह: ।ऋ०८।४।४,३।४८।४

५ ऋ० ४।१८।२ पर देखें सायण भाष्य

६ कस्ते मातरं विधवामचक्रच्छयुं कस्त्वामजिघांसच्चरन्तम् ।
कस्ते देवो अधि मार्डीक आसीद् यत्प्राक्षिणा: पितरं पादगृह्य।।ऋ०४।१८।१२

७ मैक्डानल - वैदिक देवशास्त्र - अनु० डा० सूर्यकान्त, पृ० १५८ ।

यज्ञों के लिये नियमित वृष्टि, शस्यसम्पदा की अविरल उत्पत्ति, गौओं का दुग्ध, ये कुछ ऐसी वस्तुएं हैं जो जीवन के लिए नितान्त आवश्यक हैं। इन्द्र आदि देव ऋषियों को यह वस्तुएं सदा सुलभ कराते रहते हैं। इन्द्रादि देवों के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी इन वस्तुओं की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करते हैं। जिससे कि देवों को उनका यथेष्ट भाग नहीं मिल पाता। वस्तुत: यज्ञबाधा के कारण असुरों की सीधी प्रतिद्वन्द्विता ऋषियों से है जैसा कि हम कालान्तर में रामायण, महाभारत एवं पुराणों के युग में देखते हैं, किन्तु अपनी प्रतिद्वन्द्विता को निरीह ऋषियों ने अपने रक्षकों पर थोपा है। रामायण में ऋषि विश्वामित्र यज्ञों की रक्षा के लिए राम की याचना करते हैं[1]। यह ऋषि विश्वामित्र का पलायन नहीं है। वस्तुत: विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुए भी युद्ध से बचना चाहते हैं क्योंकि वे ऋषि कर्म को ही उपयुक्त समझते हैं। अत: चाहे कल्पना हो अथवा सत्य देवताओं का युद्धभूमि में अवतरण ऋषियों की कर्म सम्बन्धी आस्था का प्रतीक है। देवता भी कर्म करते हैं अपने फल के उपभोग के लिए यह एक गूढार्थ है इन संघर्षों के पीछे।

इन्द्र का प्रचण्ड तथा पराक्रमी स्वरूप वृत्रविजय एवं अहिमर्दन के अवसर पर देखने को मिलता है। वज्र उनका अमोघ अस्त्र है जिसके प्रहार से द्युलोक एवं पृथिवी लोक में प्रकम्प मच जाता है[2]। युद्ध एवं संघर्ष से सम्बन्धित ऋचाओं में बड़ी प्रभावपूर्ण भाषा में ऋषियों ने इन्द्र के पराक्रम का उल्लेख किया है। ऋग्वेद के प्रतिनायक वे चाहे क्षणभर के लिए ही बच्चों हो ऋषि उनकी भी शक्ति को कम करके आंकने के अभ्यस्त नहीं हैं जैसा कि हम परवर्ती काव्यों एवं नाटकों में पाते हैं। इसी कारण इन्द्र के उद्दात्त चरित्र, उसके पराक्रम और वीररूप को उभारने में कठिनाई नहीं हुई है। इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वी ही उसकी महानता के कारण हैं।

इन्द्र का क्रोध काल के समान सब पर अपनी छाया छोड़ता है,

---

१ वाल्मीकि : बालकाण्ड १६।८ एवं रघुवंश - ११।१

२ इन्द्रो महां सिन्धुमाशयानं मायाविनं वृत्रमस्फुरन्नि:।
अरेजेतां रोदसी भियाने कनिक्रदतो वृष्णो अस्य वज्रात् ।। ऋ० २.११.९

अतएव ऋषिगण भी उसके क्रोध से भयभीत रहते हैं। इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता देवों से भी है। वरुण, मरुत्, उषा, एवं सूर्य के अतिरिक्त त्वष्टा भी उसके क्रोध से काँप उठते हैं[१]। अर्बुद को वह बड़ी नृशंसता पूर्वक अपने पैरों से मसल डालता है[२]। वह सुदास के निमित्त तो छियासठ हजार छः सौ विरोधियों को मारता है[३]। अपने प्रतिद्वन्द्वियों के नाश के लिए इन्द्र उचित अनुचित सभी प्रकार के कर्म करता है। वह कुत्स के लिए शुष्ण के गुप्त स्थलों पर प्रहार करता है[४]। शम्बर को ऊंचे पर्वत से नीचे गिरा देता है[५] और दास नमुचि के सिर को मथ डालता है[६]। इन्द्र इतना शक्तिशाली एवं पराक्रमी है कि वर्चिन के एक लाख योद्धाओं को अकेले ही मार गिराता है। और शम्बर के सौ किलों को ध्वस्त कर डालता है[७]। एक अन्य स्थल पर इन्द्र द्वारा अपनी माया से तीस हजार दासों को मारने[८] तथा रज्जु (माया) के बिना ही एक हजार दस्युओं को नष्ट करने का उल्लेख है[९] ये दोनों ही कार्य वह दभीति के लिए करता है। उसके पराक्रम की प्रशस्तियों से सूक्त के सूक्त भरे पड़े हैं[१०]। इसी कारण सूर्य एवं वरुण भी उसकी महानता को स्वीकार करते हैं।[११] इस प्रकार इन्द्र उन सभी गुणों से सम्पन्न है जो किसी धीरोद्धत नायक के लिए अपेक्षित हैं। वह धीर, उदार और अकातर है। बौद्धिक एवं शारीरिक अहंकार से युक्त है, मायावी एवं कुटिल है। वह प्रचण्ड, पराक्रमी, चतुर, आत्मश्लाघी एवं चंचल चित्तवृत्तियों वाला नायक है। वह अपने इस परिवेश में जहां भरत के `देवा: धीरोद्धता:` का आदर्श प्रस्तुत करता है वहीं अपने इन्हीं गुणों के परिवेश में मानव-प्रतिनिधि प्रतीत होता है।

---

१ ऋ० १।८०।१४

२ महान्तं चिदर्बुदं नि क्रमी: पदा सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे ।ऋ०१।५१।६

३ ऋ० ७।१८।१४

४ उतो नु चिद्य ओजसा शुष्णस्याण्डानि भेदति जेषत्स्वर्वतीरप: ।ऋ०८।४०।१० एवं ११

५ ऋ० १। १३० । ७

६ युवं हि मामकृथा आदिदिन्द्र शिरो दासस्य नमुचेर्मथायन् । ऋ०५।३०।८

७ ऋ० २।१४।६

८ ऋ० ४।३०।२१

९ ऋ० २।१३।६

१० ऋ० १।५१ से ५७ सूक्त

११ यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्य: । ऋ० १।१०१।३, २,३८ । ६

इस महान् नायक के चरित्र से यदि उसके प्रतिद्वन्द्वियों को हटा दिया जाये तो वह सम्भवतः ऋग्वेद का सबसे निस्तेज नायक प्रतीत होने लगेगा। ऋग्वेद के प्रमुख देवताओं में अग्नि का स्थान सम्भवतः द्वितीय है – ऋचाओं की दृष्टि से। इसी प्रकार वरुण, जो जल के नियन्ता हैं, देवत्व की दृष्टि से उनका महत्त्व कम नहीं है, किन्तु नायक की दृष्टि से दोनों पीतवर्ण लगते हैं। जिसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि वरुण अथवा अग्नि युद्ध-प्रिय देव नहीं हैं। अग्नि तो यत्र-तत्र अकेले अथवा इन्द्र के साथ समरभूमि में उतरते भी हैं किन्तु वरुण तुलसी के राम की भांति शील, सदाचार एवं अन्य महनीय गुणों के अधिष्ठाता के रूप में मानवीय स्तर से बहुत ऊपर उठ गये हैं। दूसरी ओर इन्द्र कुछ अपवाद स्थलों को छोड़कर देवों के ऐसे आदर्शों को लाघने का अभ्यस्त नहीं है। वह अवसर आने पर छलकपट, हत्या और बलात्कार भी करता है। वह मानववत् प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने एवं पितृवध जैसे जघन्य कृत्य कर डालने में संकोच नहीं करता। अतः वह सरलता से अपने इस स्वरूप में पाठकों एवं दर्शकों (रंगमंचीय स्तर पर) में साधारणीकरण की स्थिति तक आ पहुंच सकता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वी उसके धीरोदात्त चरित्र के प्राण हैं, अतः अन्य नायकों प्रतिनायकों की चारित्रिक मीमांसा के पूर्व इन्द्र की प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी भूमिकाओं की परीक्षा अधिक संगत होगी।

इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वी

इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वियों के सन्दर्भ में यह तथ्य दृष्टिसापेक्ष है कि वे कई प्रकार से उसकी प्रतिद्वन्द्विता में आते हैं। दृष्टि भेद से इन्द्र की सीधी प्रतिद्वन्द्विता किसी से नहीं है। युयुत्सा से फड़फड़ाती उसकी भुजाओं ने सारे ऋषियों, मुनियों, शासकों एवं उपासकों के प्रतिद्वन्द्वियों किंवा शत्रुओं का वैर अपने कन्धों पर ओढ़ लिया है। अर्थात् ऋषियों-मुनियों अथवा अपने मित्र- शासकों के आह्वान पर वह तुरन्त विचारों से भी तीव्रगति-अश्वों वाले रथ पर आरूढ़ होकर उनकी सहायता के निमित्त पहुंच जाता है[1]। अतिथिग्व दिवोदास, सुदास प्रभृति की सहायता के लिए उनके

---

[1] द्रष्टव्य : वैदिकदेवशास्त्र – पृ० ४०५– 'पुरानी वैदिक धारणा के अनुसार एक देवता का एक ही राक्षस के साथ युद्ध होना उचित था जैसे कि इन्द्र और वृत्र का। किन्तु बाद में यह धारणा देव सामान्य और असुर सामान्य के पारस्परिक युद्ध में परिवर्तित हो गयी और इसने देवों और असुरों को दो प्रतिद्वन्द्वी दलों में एक दूसरे के प्रतिकूल खड़ा कर दिया।' एव वही पृ० १५५-१५६

पुरोहितों के आह्वान पर वह तुरन्त आता है । मरुत, अग्नि, बृहस्पति, अंगिरसों, वैदथिन ऋजिश्वा एवं कुत्स प्रभृति देवों एवं देवेतर जनों की सहायता के लिए भी वह स्वयं युद्ध में कूदता है । इन्हीं कारणों से इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वियों की संख्या अतिविशाल है । इन्हीं कारणों से ऐसे स्थलों पर उसके नायकत्व निर्धारण में कठिनाई उपस्थित हो जाती है और कहीं वह उपनायक तो कहीं प्रतिनायक सा प्रतीत होने लगता है । विशेषकर पणियों के प्रसंग में कभी-कभी उसकी भूमिका प्रतिनायक जैसी लगने लगती है। यह स्वरूप देखने एवं सुनने में जितना अटपटा लगता है, पौराणिक कथाओं के नायकों को भास के रूपकों में प्रतिनायक अथवा प्रतिनायकों को नायक के कटघरे में खड़ा देखने के उपरान्त उतना ही सत्य प्रतीत होता है । यद्यपि संस्कृतनाट्य परम्परा में ऐसे रूपकों की संख्या नगण्य है और उनमें नायकत्व प्रतिनायकत्व का निर्धारण भी विवादास्पद हो सकता है किन्तु यह नाटककारों की क्रान्तिदृष्टि का ही परिचायक है ।

इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वियों में वृत्र, अहि, बल, अर्बुद, शम्बर, पिप्रु, धुनि, चमुरि, पणि, दृभीक, इलीविश, सृबिन्द, प्रभृति असुर, राक्षस, दानव, अनार्य एवं दास आते हैं । इनके अतिरिक्त इसी वर्ग के कुछ अन्य विरोधी भी हैं । कहीं-कहीं इन्द्र का विरोध देवों एवं मानवों द्वारा भी हुआ है । कीथ महोदय ने इन्द्र के विरोधियों को देव शत्रु एवं मानव शत्रु के रूप में दो भागों में विभक्त किया है।[1] किन्तु प्रबन्ध की दृष्टि से यह विभाजन उपयुक्त नहीं है क्योंकि इस रूप में इन्द्र के वे विरोधी छूट जाते हैं जो न तो देवों के शत्रु हैं और न तो मानवों के शत्रु हैं । अत: प्रकृत सन्दर्भ में हम इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वियों को चार भागों में विभक्त करके देखेंगे :-- (क) प्रतिद्वन्द्वी दानव-असुर-राक्षस,(ख) दास-दस्यु अथवा अनार्य प्रतिद्वन्द्वी (ग) प्रतिद्वन्द्वी देव एवं (घ) प्रतिद्वन्द्वी आर्य-शासक गण ।

(क) प्रतिद्वन्द्वी दानव असुर अथवा राक्षस

यहाँ प्रथम वर्ग के कुछ प्रतिनिधि प्रतिनायकों की ही विवेचना अभीष्ट है उनमें भी वृत्र की भूमिका सबसे महत्त्वपूर्ण है ।

---

१ वैदिक धर्म एवं दर्शन, अध्याय १५, पृष्ठ २८६-३०२

वस्तुत: वृत्र इन्द्र के चरित्र का उन्नायक प्रतिद्वन्द्वी दानव है। क्योंकि इन्द्र का जन्म इस दानव के वध के लिए ही होता है। पुराकथाशास्त्र में हम पाते हैं कि महान् नायकों, देवों, देवताओं के जन्म सोद्देश्य एवं पूर्व निर्धारित कार्य के लिए ही होते हैं, अत: इन्द्र के कार्यों का भी निर्धारण उसके जन्म से पूर्व ही हो चुका था। भस्मासुर हो अथवा हिरण्यकश्यपु, रावण हो अथवा कंस अथवा शिशुपाल सभी के विनाश के लिए पुराकथा शास्त्र एक सुव्यवस्थित योजना की दिशा में संकेत करता है। और तदनुसार समय-समय पर विभिन्न अवतारों की अवधारणा की गयी है। निश्चय ही इस परम्परा का बीज वेदों में निहित है जहां ऋषि कहता है :--

यज्जायथा अपूर्व्य मघवन् वृत्रहत्याय।

तत्पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उतद्याम ।। ऋ० ८.८९.५

अर्थात् इन्द्र उत्पन्न तो हुआ है वृत्र वध जैसे महान् कार्य के लिए किन्तु उसने पृथिवी को भी स्थिर किया। यह उसका गौण कर्म है यद्यपि यह भी उसके कीर्तिस्तम्भ के रूप में ही स्थित है। वृत्र, पणि, बल, अर्बुद तथा शम्बर प्रभृति शत्रुओं से लोहा लेते समय इन्द्र का चरित्र, उसका यश नित्यप्रति बढ़ता जाता है। अत: ये प्रतिद्वन्द्वी अपनी भूमिकाओं द्वारा नायक इन्द्र के चरित्र का निर्माण करते हैं इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

पुराकथाशास्त्रों में तो हम पाते हैं नायक के कार्यों के निर्धारण के साथ ही, प्रतिनायक को अपने प्रतिद्वन्द्वी नायक का ज्ञान हो जाता है, कंस को अपने प्रतिद्वन्द्वी वसुदेव के आठवें पुत्र के बारे में पहले से ही ज्ञान था। किन्तु ऋग्वेद के किसी भी प्रसंग में ऐसी पूर्व सूचना प्रतिद्वन्द्वियों को नहीं रहती। इसी कारण यह संघर्ष कृत्रिम प्रतीत नहीं होता। पणियों को इन्द्र का ज्ञान होता है पर दूती सरमा द्वारा, जो युद्ध की नैतिक परम्परा का ही अंश है।

वृत्र का प्रतिनायकत्व

`यज्जायथा` जैसी ऋचाओं से स्पष्ट है कि इन्द्र का जन्म वृत्र वधार्थ होता है, अत: वृत्र इन्द्र का प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी है और शास्त्रीय शब्दावली में एक सशक्त प्रतिनायक। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नायक फल का उपभोक्ता है और प्रतिनायक

उसकी फल प्राप्ति में बाधक तत्व । नायक को प्राप्त होने वाला फल- साम्राज्य, यश, स्त्रीरत्न, अथवा अन्य धनधान्य के रूप में कुछ भी हो सकता है । इन्द्र जो कि ऋषियों एवं अन्य उपासकों से प्रशंसा के गीत सुनने का अभ्यस्त है, सोम के नाम पर जिसका हृदय नाँच उठता है, हविष् की सुगन्धि पा जिसके नथुने फड़फड़ाने लगते हैं, वह इन सारी वस्तुओं की प्राप्ति में बाधक वृत्र की सत्ता को कैसे स्वीकार कर सकता था । प्रशंसा के गीत, सोम की आहुति, मधुमिश्रित पुरोडाश् के ग्रास इन्द्र को तभी मिल सकते हैं जब चतुर्दिक शान्ति हो, मही शस्य श्यामला हो, गोधन उन्मुक्त हो विचरें एवं ऋषियों को यथेष्ट हव्य-भव्य प्राप्त हो, अतिवृष्टि एवं अनावृष्टि से कृषि एवं अन्य उपासक संत्रस्त न हो । किन्तु यह तभी सम्भव था जब सृष्टि पर से वृत्र जैसे महान् मायावी का अखण्ड साम्राज्य समाप्त हो जाये । पर वृत्र पृथिवी के सर्वोच्च स्थल. पर्वत पर अजगर की भांति पड़ा रहता था और अपनी सुख सुविधा के निमित्त अथवा अपने दुष्ट स्वभाववश अपनी माया से सारी नदियों के जल को यथेष्ट समय तक रोक कर मुनियों एवं अन्य देवप्रिय लोगों को संत्रस्त किये रहता था । जल पर अपने प्रभाव के कारण कभी अनावृष्टि तो कभी अकालवृष्टि द्वारा वह ऋषियों के धन-धान्य को क्षति पहुंचाया करता था । यही कारण है कि ऋषियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से अनेक बार वृत्र के इन दुष्कर्मों की चुगली इन्द्रादि देवों से की । जिस पर सर्वाधिक उत्तेजित होने वाले देवता इन्द्र थे । वैसे `वृत्रहन्` का प्रयोग अग्नि एवं सोम के लिए भी हुआ है किन्तु मुख्य रूप से यह कार्य इन्द्र ही करते हैं । मरुत् (ऋ० १।२३।६, ८।७।२३), अग्नि (ऋ० १।५६।६, ६।१६।१४), एवं बृहस्पति (ऋ० ६।७३।२) प्रभृति देवों पर यह मात्र आरोपित तथ्य है क्योंकि वे यत्र तत्र इन्द्र की सहायतामात्र करते हैं । वृत्र की प्रतिद्वन्द्विता इतनी सशक्त है कि इसकी चर्चा पर्याप्त समय बाद तक होती रही । इसी कारण देवी भागवत एवं अन्य पौराणिक ग्रन्थों में इस आख्यान को महत्वपूर्ण स्थान मिला ।

किसी को उत्पीड़ित करना, लोगों पर अत्याचार करना, व्यक्तिगत सुख के लिए समाज के अधिकांश जन को दुःखी करना, ये ऐसी वृत्तियां हैं जो मानवीय मूल्यों के विपरीत हैं, सार्वकालिक एवं सार्वभौम हैं और पाप की पर्याय हैं । शतपथ-ब्राह्मण इसी कारण इन प्रवृत्तियों वाले वृत्र को `पाप्मा वै वृत्रः (११।१।५।७)` कह कर

उसे साक्षात् पाप का पर्याय मानता है । प्रतिनायक के लक्षण में भी यही संकेत है,

'लुब्ध: धीरोद्धतस्तब्ध: पापकृद् व्यसनी रिपु:' - दशरूपक ; २।८

यह कहना अनुचित न होगा कि ऐसी दुष्प्रवृत्तियों के पीछे बुद्धि में उत्पन्न प्रबल अहंकार की भावना होती है । इसे दर्प कहना अधिक संगत होगा । जिससे आत्मा विमूढ़ हो जाती है और मनुष्य कार्य-अकार्य, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म के मध्य अन्तर करना भूल जाता है । श्रीकृष्ण कहते हैं :--

प्रकृते क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ता अहमिति मन्यते ।।-- गीता ३।२७

अतएव रावण हो या कंस, दुर्योधन हो अथवा दु:शासन केवल निर्धारित मर्यादा एवं आदर्शों से च्युत होने पर ही पापी असुर अथवा राक्षस माने जाने लगे । वृत्र भी ऐसा ही दानव है जो अपनी शक्ति के उन्माद में अपने को मनुष्य नहीं मानता :--

अरोरवीद्वृष्णो अस्य वज्रोऽमानुषं यन्मानुषो निजूर्वात् ।
नि मायिनो दानवस्य माया अपादयत्पपिवान्त्सुतस्य ।।ऋ०२।११।१०

यहां सायण 'अमानुषं' की व्याख्या 'मानुषोऽहं न भवामि इत्येवं मन्यमानं' के रूप में करते हैं जिससे वृत्र के सम्बन्ध में उपर्युक्त धारणा का समर्थन होता है । क्योंकि हम देखते हैं वृत्र का चरित्र आरम्भ से अन्त तक पर-उत्पीड़न कर्म से पूर्ण है । वह दानव है । क्योंकि उसकी मां का नाम 'दानु' है[1]। जिसका समर्थन ऋग्वेद भी करता है । जहां कहा गया है कि वह इन्द्र के प्रहारों से वृत्र की रक्षा उसी प्रकार करती है जिस प्रकार गौ अपने बछड़े की रक्षा करती है[2]।

यद्यपि वृत्र का चरित्र अधिक स्पष्ट नहीं है तथापि उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह प्रमाणित हो जाता है कि जल, पर्वत, आकाश, प्रकाश, सूर्य एवं अन्धकार पर वृत्र का अधिकार है । उषा और नदियां, शरद् ऋतु तथा सिन्धु

---

१ ऋ० ३।३०। ८ पर सायण भाष्य

२ ऋ० १।३२।९

भी (सागर अथवा नदी) उसके आधीन हैं[1]। पुराकथाओं में हम पाते हैं कि रावण प्रभृति अन्य उत्तरकालिक प्रतिनायक भी ऐसी शक्ति से सम्पन्न हैं और सूर्य, चन्द्र,वायु, कुबेर प्रभृति देव तथा षड्ऋतु एवं अन्य प्राकृतिक शक्तियां उनके आधीन हैं। वस्तुत: इस पौराणिक आख्यान के बीज उद्धृत प्रमाणों में ही विद्यमान हैं। वृत्र से इन सभी को मुक्त कराने का श्रेय इन्द्र को है इसी कारण उसे इनका जनक कहा गया है[2]।

अस्पष्ट शब्दों में वृत्र के शासक होने का उल्लेख भी हमें ऋग्वेद में मिलता है। गृत्समद ऋषि इन्द्र की महानता के सन्दर्भ में इस महत्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन करते हैं :--

इन्द्रो महां सिन्धुमाशयानं मायाविनं वृत्रमस्फुरन्नि: । ऋ०२।११।६

अर्थात् महान् सिन्धु पर वृत्र का साम्राज्य था। वस्तुत: इन्द्र पर (ऋग्वेद में) वर्षा अथवा अप्रत्यक्षरूपेण जल का देवता होने का आरोप जल के किसी शासक को जीतने के कारण ही हुआ है और वह शासक वृत्र ही है। वह शासक के अपेक्षित गुणों से भी युक्त है। अपने अधिकार क्षेत्र को सीमित कर लेने का वह अभ्यस्त नहीं है। अत: अपने वश में कर रखे जल को न तो वह सरलता से मुक्त करता है और न तो बिना युद्ध के गौओं को समर्पित करता है। वह अपने प्रतिद्वन्द्वी इन्द्र को युद्ध के लिए ललकारता है —

अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम् ।
नातारीदस्य समृतिं वधानां सं रुजाना: पिपिष इन्द्रशत्रु:।।ऋ०।१।३२।६

---

1 ऋ० १।५४।१० (पर्वत, नदी, एवं अन्धकार पर अधिकार देखें -सायण)
ऋ० १।५६।४ (पर्वत पर निवास एवं वृत्र के अधिकार से सूर्य की मुक्ति का उल्लेख)
ऋ० १।३२।१० (जल पर अधिकार के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख हैं)
ऋ० १।५२।६ (अन्तरिक्ष पर अधिकार, जल पर अधिकार--४।१६।७, २।१४।२
ऋ० ४।१७।१ (सिन्धु पर अधिकार)
ऋ० ४।१६।८ (सिन्धु, नदी, उषा, शरद् पर अधिकार)
ऋ० २।३०।३ (वृत्रवध) अन्तरिक्ष, एवं जल पर अधिकार)
ऋ० ८।१२।२६ (जल-नदी पर अधिकार)

2 ऋ० १।३२।४, ऋ० ६।३०।५, ३।४६।४, २।१२।७, २।११।४, ऋ० ३।३२।८, ३।३६।१५

इतना ही नहीं वृत्र के चरित्र में हम ऐसे प्रतिद्वन्द्वी का स्वरूप पाते हैं जो वास्तविक योद्धा है और कभी भी युद्ध से भागता नहीं। यहां तक कि क्षत विक्षत हो जाने पर भी वह युद्धरत रहता है। इन्द्र उस पर पूरी शक्ति से अपना वज्र प्रहार करता है और उसके कन्धों को इस तरह छिन्न कर डालता है जैसे कोई किसी वृक्ष पर कुल्हाड़ी से प्रहार कर उसके स्कन्ध को नृशंसतापूर्वक काट डालता है[1] फिर भी वृत्र अपनी युद्ध लिप्सा नहीं छोड़ता और प्रकारान्तर से इन्द्र को पुनः युद्ध के लिए ललकारता है। इन्द्र पुनः उसके स्कन्ध प्रदेश पर निर्ममतापूर्वक प्रहार करता है और अन्त में वह मारा जाता है[2]। शासक के न रह जाने पर जिस प्रकार आधीनस्थ जन उसका उल्लंघन करने लग जाते हैं उसी प्रकार प्रतिबन्धित जल एवं नदियां वृत्र के मृत शरीर के ऊपर से बहने लगती हैं[3]

वृत्र ही ऐसा अकेला प्रतिद्वन्द्वी है जो इन्द्र से लोहा ले पाने में समर्थ है। उसके ६६ पुरों का उल्लेख है[4]। क्योंकि वह पुरों में एवं पर्वतों पर रहता है[5]। चरित्र चित्रण की दृष्टि से वृत्र के सम्बन्ध में ऋग्वेद में कुछ भी नहीं कहा गया है। फिर भी उसके जो उल्लेख हैं उनसे उसकी शारीरिक एवं मायावी शक्ति, मुख्यतया इन्द्र से उसकी शत्रुता, उसकी वीरता, भयंकरता आदि तथ्यों की पुष्टि हो जाती है।

निश्चय ही एक शासक के लिए अपेक्षित सभी गुण उसमें उपलब्ध हो जाते हैं। गृत्समद ऋषि के अनुसार वृत्र महान् बलशाली प्रतिद्वन्द्वी है जिसके बल को इन्द्र ने अपने बल से प्रभावहीन कर डाला, ऋषि के शब्दों में देखें :--

महत्तदस्य पौंस्यं वृत्रं ह जघन्वाँ असृजदर्चन्ननु स्वराज्यम्। ऋ० १।८०।१०

यहां अन्तिम पद `असृजदर्चन्ननु स्वराज्यम्` से उसके अपने राज्य के प्रमाण मिलते हैं और `अस्य महत् पौंस्य` तथा `तविषी` =(बल-सायण) पद वृत्र की शक्ति सम्पन्नता की दिशा में संकेत करते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है वृत्र का राज्य अन्तरिक्ष तक विस्तृत है[6] और श्रुतियां तो `स इमान् लोकान् आवृणोत्`[7]

----

१ ऋ० १।३२।५ २ ऋ० १।३२।७ पर सायण भाष्य

३ ऋ० १।३२।८,११ ४ ऋ० १।५४।१०, १।३२।१०, ७।१६।५

५ ऋ० १।३३।१३ ६ ऋ० १।५२।६

७ ऋ० १।५२।६ पर सायण भाष्य

के रूप में उसकी सार्वभौम सत्ता को स्वीकार ही करती हैं ।

वृत्र इन्द्र का भयंकर प्रतिद्वन्द्वी है । इस तथ्य का उल्लेख अनेक बार ऋषियों ने किया है[1]। उसकी भयंकरता का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि उसकी हुंकार से सारे देवता भयभीत होकर भाग जाते हैं[2]।

वृत्र अत्यन्त मायावी प्रतिद्वन्द्वी है[3] जो केवल हुंकार से ही नहीं अपितु अपने प्रतिद्वन्द्वियों को भांति-भांति से भयभीत करने की कला में प्रवीण है[4]। इन्द्र एवं वृत्र के आमने सामने होकर युद्ध के संकेतों से भी उसके पराक्रम एवं वीरता के अनेक प्रमाण मिलते हैं[5]। यद्यपि इन्द्र एवं वृत्र का युद्ध अकेले ही होता है किन्तु इन्द्र के पीछे उसकी सेना है एवं देवता भी हैं । ऋषिगण उसे उत्साहित करने को भी सदा सन्नद्ध हैं । उधर वृत्र अकेला ही है और उसका पराक्रम ही है जो उसे उत्साहित करता है[6]।

इस रूप में हम पाते हैं वृत्र इन्द्र का जन्मजात शत्रु है और शक्ति-सन्तुलन में इन्द्र के समकक्ष है फिर भी अपने दुष्कर्मों की अति के कारण उचित फल भोगता है । उसका भी अन्त वैसा ही होता है जैसा कि अन्य प्रतिनायकों का होता है । अर्थात् इस सत् और असत् के युद्ध में सत् के ठेकेदार, देवताओं के प्रतिनिधि[7], इन्द्र के हाथों वह बड़ी नृशंसतापूर्वक मारा जाता है । इन्द्र अपने वज्र से उसका मुख कूच डालते हैं,[8] उसके पृष्ठभाग पर वे भीषण आघात करते हैं[9], उसे अपाद और हस्तहीन

१- ऋ० ३।३०।८ में गृहीत `पियारु = हिंस्र ` विशेषण
२ वृत्रस्य त्वा श्वसथा दीषमाणा विश्वेदेवा अजहुर्ये सखाय: ।ऋ८।९६।७
३ ऋ० २।११।६, १०, ५
४ न वेपसा न तन्यतेन्द्रं वृत्रो वि बीभयत् ।
अभ्येनं वज्र आयस: सहस्रभृष्टिरायतार्चन्नु स्वराज्यम् ।। ऋ०१।८०।१२ एवं ८।६।६
५ यद्वृत्र तव चाशनिं वज्रेण समयोधय: । ऋ० १।८०।१३,१०
एवं - यौशिवदस्यामवाँ अहे: स्वनादयोयवीद्भियसा वज्र इन्द्र ते।
वृत्रस्य यद्बधानस्य रोदसी मदेसुतस्य शवसाभिनच्छिर: ।।ऋ० १।५२।१०
एवं ऋ०७।२१।६
६ ऋ० १।१६५।८,७।२१।६,१०।१३८।६, १०।१११।६
७ ऋ० ८।१२।२९
८ ऋ० १। ५२।१५, १।५२।६
९ १।८०।५, १।३२।५ (सायण ने ` सानु` का अर्थ `स्कन्ध` किया है)

करके उसका सिर काट डालते हैं[१]। और इस प्रकार इन्द्र के एक ऐसे महान प्रतिद्वन्द्वी का नाश हो जाता है जो अपने दर्प, शक्ति, शौर्य, प्रचण्ड स्वभाव अत: उद्धत रूप में अपनी माया, छलकपट, कूटनीति[२] द्वारा इन्द्र को कभी चैन से नहीं रहने देता है। फिर भी वृत्र के चरित्र में कहीं भी वासना को स्थान नहीं है वह कामुक नहीं है उसका यह स्वरूप प्रतिनायक चरित्र के विकास पर प्रकाश डालता है-जिसके गुणों में कालान्तर में `व्यसन` एवं `चंचल चित्तवृत्ति` का समावेश कर लिया गया है।

अहि एवं वृत्र की अभिन्नता

अहि एवं वृत्र के चरित्र में इतनी समानता है कि ऋग्वैदिक आलोचक उन दोनों का पृथक् अस्तित्व नहीं स्वीकार कर पाते। कीथ एवं मैकडानल महोदय सम्भवत: इसी कारण अहि का पृथक् उल्लेख नहीं करते। यहां तक कि ऋग्वैदिक कवि भी अपनी उक्तियों द्वारा दोनों का पृथक् चरित्र-दर्शन नहीं करा पाये हैं। जहां हम वृत्र को `कुण्डली मारे हुए` रूप में पाते हैं वहां वस्तुत: उस पर अहि (सर्प) का आरोप ही है। अन्यथा `अहिवध` का आख्यान प्रस्तुत करता हुआ ऋषि वृत्र विजय को इतनी प्रमुखता न देता। और `वृत्रवध` की कथा का श्रीगणेश करता हुआ ऋषि वृत्र के स्वभाव की कुटिलता को ध्यान में रखकर उस पर अहि का आरोप न कर देता[३]। अहि के सम्बन्ध में वाजसनेयिसंहिता का कथन --`सोऽग्नीषोमावभिसंबभूव सर्वां विद्यां सर्वं यश: सर्वमन्नाद्यं सर्वां श्रियं स यत्सर्वमेतत्समभवत्तस्मादहि:` तथा तैत्तिरीयसंहिता में वृत्र की व्युत्पत्ति--`यदिमान् लोकानवृणोत्तद्वृत्रस्य वृत्रत्वम्[४]।` तैत्ति०सं २।४।१२।२ यह दोनों इतने समान हैं कि भाष्यण-भाष्यवत् प्रतीत होते हैं। अंगिरा ऋषि--`अहिवध` को इन्द्र का महानतम कर्म बताते हैं,[५] यद्यपि वह (इन्द्र) वृत्रवध के लिए ही उत्पन्न होता है[६]। यहाँ अहिवध को यदि इन्द्र का आनुषंगिक कर्म मानेंगें तो फिर वह महत्तम कर्म नहीं हो सकता और यदि वही महत्तम कर्म है तो वृत्रवधार्थ इन्द्र जन्म को कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है। इस शंका का समाधान वस्तुत: अहि वृत्र की एकरूपता में ही

---

१ ऋ० १।५२।१०,८।६।६,८।७६।२
२ ऋ०३।३४।३(`शर्धनीति:` पर सायण की व्याख्या)
३ द्रष्टव्य : वै०ध०द० पृ० २४०
४ तै०सं० ऋ० १।५१।४ पर सायण भाष्य
५ ऋ० १।३२।१
६ ऋ० ८।८९।५

निहित है ।

मैकडानल महोदय के अनुसार `अहिर्बुध्न्य` जिन्हें अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओं के रूप में माना गया है ; वृत्र अथवा अहि के शुभकर्मों का प्रतीक[1] है । अर्थात् ऋषियों द्वारा अहिवृत्र के शुभकर्मों को उद्घाटित करने की दृष्टि से `अहिर्बुध्न्य` यह संज्ञा दी गयी है और उसकी देववत् पूजा की गयी है । अतएव ऋषिगण कहीं-कहीं उसकी हिंसात्मक प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए उसे ऐसी प्रवृत्ति से परे रहने की प्रार्थना करते हैं।[2] अहि एवं वृत्र का यह स्वरूप निश्चित रूप से प्रतिनायक के उस स्वरूप की ओर संकेत करता है जिसे कर्मानुसारिणी व्यवस्था के अनुरूप होना था। संस्कृत के नाटकों के प्रतिनायक का चरित्र ऐसा ही है जहां रावण भी महान् है और बालि भी, राक्षस तो चाणक्य की भी स्पृहा का पात्र है और दुर्योधन तथा कर्ण तो भास के रूपकों में नायक भी हैं । यही वह उत्स है जहां से प्रतिनायक तो उत्पन्न होते हैं किन्तु खल-नायक उत्पन्न होते ही मर जाते हैं ।

<u>प्रतिद्वन्द्वी पणिगण</u>

वृत्र के उपरान्त पणि अथवा पणिगण ही इन्द्र के सर्वाधिक शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी हैं । इसमें सन्देह नहीं कि पणिगण सामूहिक रूप से इन्द्र का विरोध करते हैं । किन्तु पणियों का चरित्र इतना मानवीय है कि उनके दिव्य,अलौकिक अथवा काल्पनिक होने की सम्भावना नहीं है ।

<u>पणियों का प्रतिनायकत्व</u>

ऋषियों ने यद्यपि पणियों को सोम, अग्नि, पूषा, अश्विनौ तथा सरस्वती[3] आदि की प्रतिद्वन्द्विता में उतारा है किन्तु उनकी मुख्य प्रतिद्वन्द्विता इन्द्र से ही है । क्योंकि इन्द्र ही वह नायक है जो सरमा के माध्यम से पणियों को युद्ध का सन्देश प्रेषित करता है । सरमा जो कि एक कुतिया है उसके द्वारा सन्देश भेजना ही अपमानजनक है उस पर भी पणियों को भला-बुरा कहते हुए उन्हें युद्ध का सन्देश देना उनकी सम्पन्नता, शक्ति एवं शिष्टाचार के विरुद्ध है । अतएव पणिगण भी

---

१ द्रष्टव्य,वैदिक देवशास्त्र, पृ० १७६ एवं ३६६ | २- ऋ० ५।४१।१६, ७।३४।१७

३ द्रष्टव्य, ऋ० ६।५१।१४, ६।२२।७ (सोम), ऋ० ६।१३।३, ८।७५।७ (अग्नि), ऋ० ६।५३।३,५,६ एव ७(पूषन्), ऋ० ८।२६।१०(अश्विनौ),ऋ०६।६१।१(सरस्वती)।

निःसंकोच रूप से इन्द्र का अपमान करते हैं। वस्तुतः पणिगण इन्द्र के सशक्त प्रतिद्वन्द्वी हैं। उनकी अपनी सेना है[१]। सरमा के साथ उनके संवादों में उनकी चतुरता, धनधान्य से सम्पन्नता एवं एक निश्चित क्षेत्र में उनकी राज्यसत्ता के प्रमाण मिलते हैं[२]। वे वाक्पटु एवं युद्धनीति के ज्ञाता हैं। (के सरमा को) अपनी भगिनी बनाकर अर्थ साधना चाहते हैं[३] और उसके साथ कोई दुर्व्यवहार भी नहीं करते हैं। एक ओर तो वे अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाए रखना चाहते हैं दूसरी ओर अपनी सम्पत्ति बढ़ाने तथा विजित सम्पत्ति पर अपना आधिपत्य बनाए रखना चाहते हैं[४]। इस सम्पत्ति को छीनने वाले इन्द्र का वे डटकर विरोध करते हैं[५]।

सायण प्रभृति आचार्यों ने `पणि` का अर्थ प्रायः दान न देने वाले, यज्ञ न करने वाले कंजूस व्यापारियों से किया है जिसकी स्पष्ट व्यंजना अपने धन की यथासम्भव सुरक्षा में है। ऋग्वेद में पणियों के अधिकांश विशेषणों से निश्चय ही दान, यज्ञ-यागादि में श्रद्धा न रखने वाले लोगों की ओर संकेत किया गया है[६]। जो भी हो इसमें सन्देह नहीं कि इन्द्र हो अथवा उससे चुगली करने वाले ऋषिगण सभी पणियों से उनकी सम्पन्नता और उनकी मितव्ययिता के कारण असन्तुष्ट हैं।

आरम्भ में ही संकेत किया जा चुका है कि अधिकांश संघर्षों के पीछे, दूसरों की सम्पन्नता सुख-सुविधा और तज्जन्य ईर्ष्या-द्वेष की भावना ही होती है, पणियों के प्रति इन्द्र की कोप दृष्टि का कारण भी यही है। पणियों के चरित्र में ऐसी कोई भयंकर प्रवृत्ति दृष्टिगत नहीं होती जो उन्हें नर-संहारक, देव-संहारक, या किसी को पीड़ित करने वाला सिद्ध कर सके। इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक आलोचक विद्वानों ने पणियों को `बल` नामक असुर का अनुचर मानकर उनकी

---

१ ऋ० ६।२०।४　　२ ऋ० १०।१०८ वां सम्पूर्ण सूक्त

३ ऋ० १०।१०८।६　　४ ऋ० १०।६०।७　　५ ऋ० १०।१०८।६

६ ऋ० १।१२४।७, ४।५१।३, ८।६४।२, १०।६०।६, ७।६।३ एवं ८।६६।१०

७ ऋ० १०।१०८।१ पर सायण भाष्य, एवं १०।१०८ में सूक्त की भूमिका में सायण [illegible]

नृशंसता की ओर संकेत करने का प्रयास किया है[1] किन्तु एक दो अवसरों पर 'बल' एवं पणि का एकत्र उल्लेख[2] जो सम्भवत: ऐसी धारणा का मूल हो सकता है, अधिक युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता । जहां तक पणियों द्वारा गौ चुराने की घटना का सम्बन्ध है, वह उनकी विजिगीषा अथवा प्रतिद्वन्द्वियों को छेड़कर उनकी शक्ति-परीक्षा अथवा निजी सम्पत्ति को बढ़ाने के कर्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है । महाभारत के दुर्योधन प्रभृति प्रतिनायक भी, विराट-नगर में पाण्डवों की शक्ति परीक्षा के निमित्त ऐसा ही करते हैं[3]।

पणियों की सम्पत्ति मुख्यतया गोधन है । जिसे सोम भलीभांति जानते हैं तथा छीनने का प्रयत्न करते हैं[4]। उनका दुग्ध, घृत आदि भी पणियों की सम्पत्ति के भाग हैं जो स्मृतिसम्मत वैश्यों के कर्म के अनुकूल है । इन्द्र स्वयं भी पणियों की सम्पत्ति चुराकर ऋषियों को दे देते हैं । इन्द्र की यह चोरी, पणियों की बढ़ती हुई शक्ति से इन्द्र के भयभीत होने की दिशा में संकेत करती है । ऐसा स्वाभाविक भी है, क्योंकि पणिगण अपनी वाक्पटुता, नीति निपुणता और सम्पन्नता में इन्द्र से बढ़कर हैं ही । वे अपने अस्त्र-शस्त्रों की ओर संकेत करते हुए अपने को इन्द्र से अधिक शक्तिशाली सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं[5]। लोभी, कंजूस, और उद्धत होने के साथ ही उन पर दान न देने, कटुभाषी होने तथा यज्ञ यागादि से विरत होने के अनेक आरोप हैं[6]। ऋषियों की गौवें छीनना भी एक अपराध ही है । उनके ऐसे ही अपराधों से कुछ ऋषियों ने उन्हें ऐसे विशेषणों से अलङ्कृत किया है कि वे ऋषियों के ही प्रतिद्वन्द्वी प्रतीत होने लगते हैं ।

> न्यक्रतून्ग्रथिनो मृध्रवाच: पणींरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान् ।
> प्रप्र तान्दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून् ।।ऋ०७।६।३
> कदु महीरधृष्टा अस्य तविषी: कदु वृत्रघ्नो अस्तृतम् ।
> इन्द्रो विश्वान् बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणींरभि ।।ऋ०८।६६।१०

---

१ ऋ० १०।६७।६ पर सायण भाष्य एवं १०।१०८वें सूक्त की भूमिका में सायण का कथन।

२ ऋ० १०।६७।६ एवं ऋ० ६।४४।२२ में सायण द्वारा पणि को बल का पर्याय मानना, ८।१४।८ में सायण के द्वारा बल के सारे कर्म पणियों के हाथों करा कर उसे असुर सिद्ध किया है ।

३ द्रष्टव्य : भास कृत 'पंचरात्रम्'

४ ऋ० ६।१११।२

५ ऋ० १०।१०८।५

६ ऋ० १।१२०।२४, ८।६४।२ तथा १०।६०।६

उपर्युक्त ऋचाओं में पणियों को पूर्वोक्त अनेक दुर्गुणों से युक्त कहने के साथ ही उन्हें ग्रथी[1] (कुटिल स्वभाव) मृध्रवाक् (मारपीट की भाषा बोलने वाले या हिंसक स्वभाव) अश्रद्धः एवं बेकनाटान् के रूप में सूदखोर तथा नास्तिक कहा गया है[2] जिससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि धनोपार्जन के लिए वे कोई भी कार्य करने में संकोच नहीं करते । यहां तक वे तदर्थ युद्ध की स्थिति का भी साक्षात् करने को तत्पर रहने वाले जन हैं । पणियों को दस्यु, दास, असुर, अनार्य मानने वाले विभिन्न मतों को यदि ध्यान में रखकर देखें तो शायद पणिगण उस जाति या कबीले के लोग प्रतीत होते हैं जो लुटेरे भी रहे हों तो सन्देह नहीं ।

पणियों की हिंसक, कंजूस एवं यज्ञ यागादि में श्रद्धा न रखने की प्रवृत्ति के कारण ही पूषा से प्रार्थना की गयी है कि वे पणियों के मन को दानदेने के लिए प्रेरित करें तथा उनके मन से कठोरता हटाकर मृदुता का संचार करें[3] :--

अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन्दानाय चोदय । पणेश्चिद्वि म्रदा मनः ।।
वि पूषन्नारया तुद पणेरिच्छ हृदि प्रियम् । ऋ० ६।५३।३ एवं ६

ऋषियों ने अग्नि से भी ऐसी प्रार्थनाएं की हैं[4]। इस प्रकार के चरित्र वाले पणियों द्वारा देवत्व प्राप्ति के प्रयत्न निश्चय ही ऋषियों की ईर्ष्या के कारण रहे होंगे, उनकी अतुल सम्पत्ति तो ईर्ष्या का कारण थी ही :--

न वां द्यावोऽहभिर्नोत सिन्धवो न देवत्वं पणयो नानशुर्मघम् ।।
ऋ० १।१५१। ६

इस रूप में हम पाते हैं कि यद्यपि पणियों के इन्द्र प्रभृति देवों के साथ भीषण युद्ध के उल्लेख सीमित हैं और इसी कारण पणियों के पराक्रम, उनके प्रचण्ड स्वभाव एवं तदनुरूप पूर्णउद्धतस्वरूप के दर्शन नहीं होते । तथापि उनकी भूमिका को प्रतिनायक चरित्र के विकास की उस श्रृंखला के रूप में देखा जा सकता है जो पूर्वोक्त वृत्र एवं संस्कृत रूपकों में रावण प्रभृति उन प्रतिनायकों के मध्य की है जिनका औद्धत्य

---

१ परमतखण्डनपूर्वकं स्वमत-स्थापनम् - जटाधरोगौतमश्च । देखें `शब्दकल्पद्रुम`

२ ऋ० ८।६६।१० पर सायण भाष्य

३ ऋ० ६।५३।५ एवं ७ भी देखें ।   ४ ऋ० १०।१५६।३

रंगमंच पर युद्ध नियुद्ध की वर्जनाओं के कारण अविकसित ही रह गया है । इस सन्दर्भ में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि पणियों का मुख्यरूप से उल्लेख ऋग्वेद के परवर्ती सूक्तों में (मण्डल ५ से १०) में हुआ है विशेष कर जिनमें दशम मण्डल का १०८ वां सूक्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । उनके स्वरूप को देख कर कभी-कभी ऐसे नायकों का भी स्मरण हो जाता है जो अपने स्वभाव से प्रतिनायक न होते हुए भी केवल इसलिए प्रतिनायक है क्योंकि उन्होंने किसी पौराणिक नायक का विरोध किया है ।

प्रतिद्वन्द्वी अर्बुद

इन्द्र के प्रथम वर्गीय प्रतिनायकों में अहि अथवा वृत्र एवं पणियों के बाद हम अर्बुद को एक सशक्त प्रतिद्वन्द्वी के रूप में पाते हैं । यद्यपि उसका उल्लेख केवल ५,६ बार ही होता है किन्तु वह विश्वरूप, स्वमानु एवं वर्चिन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है । वर्चिन की शक्ति विशेषत: सैन्य-शक्ति, कम नहीं है किन्तु वह सदा शम्बर के साथ है अत: वह शम्बर का सहायक अथवा सहकर्मी प्रतिनायक है[1]। इसके विपरीत अर्बुद स्वतन्त्र सत्तात्मक प्रतिद्वन्द्वी है और उसका उल्लेख केवल इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता में हुआ है । वह महान् मायावी है । उसका आचरण पशुवत् है, यही कारण है उसको मृगय एवं मायी कहा गया है[2]। अर्बुद को मारने के लिए इन्द्र उस पर हिम-प्रहार करते हैं[3]। वह मायावी होने के साथ सम्भवत: विशाल-व्यापक क्षेत्र का अधिपति है[4]। वह इन्द्र के समान महान् है किन्तु युद्ध क्षेत्र में दोनों की महानता एवं शक्ति का जब परीक्षण होता है इन्द्र ही शक्तिशाली सिद्ध होता है । इन्द्र उसे युद्धभूमि में औंधे मुंह गिरा देते हैं[5] और अपने पैरों से रौंद कर उसकी सत्ता समाप्त कर डालते हैं[6]।

---

१ इन्द्राविष्णू दृंहिता: शम्बरस्य नवपुरो नवतिं च श्नथिष्टम् ।
शतं वर्चिन: सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान् ।। ऋ० ७।९९।५
अहन्दासा वृषभो वस्नयन्तोदव्रजे वर्चिनं शम्बरं च ।। ६।४७।२१, (ऋ.)
एवं २।१४।६, ४।३०।१५

२ निरर्बुदस्य मृगयस्य मायिन: नि: पर्वतस्य गा आव: ।८।३।१९ (ऋ.)

३ ऋ. ८।३२।२६ — ४ ऋ. ८।३२।३

५ ऋ. २।१४।४ — ६ ऋ. १।५१।६, २।११।२०

(ख) प्रतिद्वन्द्वी दस्यु अथवा दास किंवा अनार्य शत्रु

जैसा कि कहा जा चुका है ऋग्वेद में दासों, दस्युओं अथवा असुरों, दानवों एवं राक्षसों के मध्य कोई स्पष्ट रेखांकन नहीं हो सका है। यही कारण है ऋग्वेद एक ओर वर्चिन एवं शम्बर, आ पिप्रु को दास या दस्यु कहता है[1] दूसरी ओर उन्हें ही असुर कह कर पुकारता है[2]। मैकडानल महोदय भी इस सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं कर सके हैं[3]। वे नमुचि एवं शुष्ण को दासो में गिनते हैं किन्तु कीथ महोदय उसे दानव ही मानते हैं[4]। जो भी हो शुष्ण, शम्बर, नमुचि, चुमुरि, पिप्रु, धुनि, सृबीक, रुधिक्र, इलीबिश, सृबिन्द, अनर्शनि, वृषशिप्र, प्रभृति को अनार्य अथवा दास प्रतिनिधि मानना अधिक उचित है। इनमें भी सृबीक (ऋ० २।१४।३), रुधिक्रा (२।१४।५ रुधिक्राम्), इलीबिश (१।३३।१२ इलीबिशस्य), सृबिन्द (८।३२।२), अनर्शनि(८।३२।२) का उल्लेख अत्यन्त संक्षिप्त है। किन्तु इतना तो इनके नामों से स्पष्ट हो जाता है कि ये आर्य संज्ञाएं नहीं हैं। अनास, दास-दस्यु एवं कृष्णयोनि, विशेषण सम्भवत: इन्हीं लोगों के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

प्रतिद्वन्द्वी नमुचि

जहां तक प्रश्न नमुचि, धुनि एवं चुमुरि का है वे भी अनार्य ही प्रतीत होते हैं और उनमें भी अधिक शक्तिशाली एवं मायावी प्रतिद्वन्द्वी है नमुचि। उसे असुर कहीं दास तो कहीं दस्यु कहा गया है[5]। जो सम्भवत: उसकी प्राणवत्ता एवं शक्तिमत्ता की दिशा में संकेत है। ऋग्वेद में नमुचि की गणना उन प्रतिनायकों में की गयी है जिन्हें मार कर इन्द्र महान् विजयी नायक के रूप में उभरता है[6]। इसी कारण उसकी गणना वृत्र एवं शम्बर जैसे शक्ति सामन्तों के साथ होती है[7] और अश्विनों से

---

१ दास, शम्बर, वर्चिन ऋ० ६।४७।२१, दास-पिप्रु ८।३२।२, दस्यु-पिप्रु १।५१।५

२ असुर-शम्बर, वर्चिन ऋ० ७।९९।५ तथा असुर-पिप्रु १०।१३८।३

३ वै० दे० पृ० ४२३

४ तुलना करें वै० दे० पृ० ४१८, ४२१,एवं ४२४ तथा वै०ध०द० अध्याय १५, पृ० २६३

५ दास ऋ० ५।३०।७,८, दस्यु ७।१९।४, असुर १०।१३१।४

६ ऋ० २।१४।५   ७ ऋ० ७।१९।५

प्रार्थना की जाती है कि वे नमुचि से युद्ध की वेला में इन्द्र की रक्षा करें[1]। नमुचि यज्ञों में बाधा डालता है, ऋषियों को अन्नादि एवं अन्य यज्ञीय सामिग्री प्राप्त नहीं होने देता[2]। अतएव ऋषि कठोर शब्दों में इन्द्र से पुनः प्रार्थना करते हैं कि वे दास नमुचि के शिर को काट डालें, मथ डालें और चूर्ण चूर्ण कर डालें[3]। फलतः इन्द्र मायावी नमुचि के शिर को फेन द्वारा मथ डालते हैं। नमुचि का उल्लेख अन्य श्रुतियों में भी हुआ है। जहां नमुचि के शिर को जल-फेन द्वारा नष्ट करने का उल्लेख है[4]।

प्रतिद्वन्द्वी धुनि एवं चुमुरि

धुनि एवं चुमुरि का उल्लेख दभीति की प्रतिद्वन्द्विता में हुआ है। किन्तु नायक के रूप में राजर्षि दभीति का उल्लेख ऋग्वेद में लगभग ९, १० बार ही हुआ है, किन्तु सदा इस सन्दर्भ में कि इन्द्र ने उसके प्रतिद्वन्द्वी धुनि एवं चुमुरि को सदा सदा के लिए सुला दिया। इस दृष्टि से धुनि एवं चुमुरि का संघर्ष दभीति से न हो कर इन्द्र से होता है। केवल एक स्थल पर धुनि एवं चुमुरि द्वारा प्रत्यक्षतः दभीति के घर को घेर कर उस पर आक्रमण करने एवं उसे बांध ले जाने का उल्लेख मिलता है।

इस रूप में दभीति स्वयं धुनि एवं चुमुरि की प्रतिद्वन्द्विता में बड़े-छोटे लगते हैं। किन्तु इन्द्र की महनीय शक्ति के समक्ष धुनि एवं चुमुरि दोनों बौने लगते हैं। दोनों अत्यन्त शक्तिशाली एवं सुसंगठित योद्धा हैं। वे युद्ध में पहल भी करते हैं। किन्तु इन्द्र के पराक्रम के समक्ष वे तुच्छ हैं। एकबार दभीति के शत्रुओं (जो सम्भवतः धुनि एवं चुमुरि ही हो सकते हैं) को मारने के निमित्त इन्द्र अपनी अद्भुत माया का भी प्रयोग करते हैं[5]। एक अन्य स्थल पर इन्द्र के पराक्रम के ही सन्दर्भ में इन्द्र द्वारा दभीति के अज्ञात शत्रुओं को बिना रस्सी के फांसी पर चढ़ा देने का उल्लेख मिलता है[6]। वैसे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि धुनि एवं चुमुरि दभीति के हितैषी इन्द्र से लोहा लेने युद्ध-भूमि में उतरते हैं किन्तु ऋग्वेद की लाक्षणिक शब्दावली

---

१ ऋ० १०।१३१।४   २ ऋ० १०।७३।७

३ ऋ० ५।३०।७,८ तथा ६।२०।६   ४ वै० दे० पृ० ४२२

५ ऋ० ४।३०।२१   ६ ऋ० २।१३।९

में इन्द्र उन्हें निद्रामग्न कर नष्ट करते हैं। निद्रामग्न करने एवं दभीति के शत्रुओं के विरुद्ध मायाप्रयोग एवं बिना रस्सी के फांसी लगा देने के आख्यान के परिप्रेक्ष्य में धुनि एवं चुमुरि की शक्ति का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। फिर भी (दभीति द्वारा प्रदत्त) सोम के उन्माद एवं पुष्टहवि के लोभ में इन्द्र दभीति को बांध ले जाने वाले - धुनि एवं चुमुरि को चिरनिद्रामग्न कर देते हैं[1]।

अनार्य शत्रु

अनार्यों, अनासों अथवा कृष्णवर्णी शत्रुओं की चर्चा के प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि वे आर्य शासकों और अन्य वैदिक ऋषियों के विरोधी थे। ऋग्वेदीय ऋचाओं में अभिव्यक्त घृणा, भय एवं विद्वेष की भावना से इन आर्य-विरोधियों की शक्ति सम्पन्नता का अनुमान सरलता से हो सकता है और यह भी कहा जा सकता है कि आर्य अपने इन प्रतिद्वन्द्वियों से किसी प्रकार का समझौता नहीं करना चाहते थे, कम से कम यह स्थिति ऋग्वैदिक युग तक जीवित थी[2]। तात्पर्य यह कि ऋग्वैदिक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध कर पाना कठिन नहीं है कि आर्यों से आर्येतर-दस्युओं, दासों, अनासों, और कृष्णवर्णियों के इस पार्थक्य के कारण तथा उसे जीवित रखने की उत्कट भावना के कारण घृणा एवं विद्वेष और उसके कारण संघर्ष की स्थिति प्राय: आउपस्थित होती थी[3]। इस रूप में आर्यों में इतर जातीय जनों से घृणा के अतिरिक्त धार्मिक विभेद बनाए रखने की भावना भी प्रबल थी इसी कारण हमें यहां अनासों एवं लिंगोपासकों से विद्वेष की भावना भी दृष्टिगत होती है।

इन अनार्यों से इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता के सन्दर्भ में इतना ही ज्ञात होता है कि वे लोग अनास (चिपटी नाक वाले) कृष्णवर्णी एवं शिश्नदेव अर्थात् लिंगोपासक हैं। शिश्नदेव का तात्पर्य निरुक्तकार, सायण एवं वेंकटमाधव ने अब्रह्मचर्य से लिया है किन्तु यह ठीक प्रतीत नहीं होता[4]। वस्तुत: इसका तात्पर्य उन लोगों से लेना अधिक उचित प्रतीत होता है जिनसे आर्यों ने कालान्तर में लिंगोपासना की परंपरा

---

१ ऋ० २। १५। ८ २ द्रष्टव्य : कीथ वै० ध० द० अध्याय १, पृ० ११

३ कीथ वै० ध० द० अध्याय १, पृ० १२

४ ऋ० ७। २१।५, १०।९९।३ पर भाष्य देखें

ग्रहण की । ऋग्वेद में इन लिंगोपासकों का दो बार उल्लेख है[1] और दोनों बार इनका उल्लेख आर्य किंवा ऋग्वैदिक ऋषियों के विरोधियों के रूप में हुआ है । इन्द्र से कहा गया है कि सुरक्षित शत द्वारों वाले शिश्नदेवों के पुरों को तोड़कर उनके रक्षक लिंगोपासकों को मार कर धन प्राप्त करें । जिससे यह भी स्पष्ट है कि वे भी पणियों की भांति धन-सम्पन्न-जन थे जो पुरों में रहते थे । सम्भव है कृष्ण एवं अनास भी वही रहे हों । अनासों (आस्य रहितान् । आस्य शब्देन शब्दोलक्ष्यते । अशब्दान् मूकान् दस्यून् सायण ऋ० ५।२९।१०) शिश्नदेवों एवं कृष्ण वर्णियों के कर्मों की समानता उन्हें एकत्र खड़ा कर देती है । अनासों के विशेषण रूप में 'मृध्रवाच:' (हिंसितवचन बोलने वाले या मृदु वचन बोलने वाले)[2] का प्रयोग हुआ है । यह प्रयोग अन्यत्र पणियों के निमित्त भी हुआ है[3] और सम्भवत: एकबार प्रतिद्वन्द्वी आर्यों के प्रति भी[4]। जो भी हो प्रतिद्वन्द्वियों के भाषण एवं भाषा की निन्दा स्वाभाविक है । यह तथ्य आर्यों और अनासों के भाषागत वैभिन्य का भी परिचायक है तथा आर्यों के दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व में विस्तार की ओर भी संकेत करता है ।

ये देवशत्रु वाले मृध्रवाक् (शतपथ० ३।२।१ एवं २।३।२४) होने से पराजित हुए हों अथवा कठोर भाषी होने से अथवा आर्यों की शक्ति-सम्पन्नता के कारण, वे आर्य नहीं थे । ऐसे ही एक अन्य शत्रु को जिसे सम्भवत: कृष्णवर्णी होने के कारण ही कृष्ण कहा गया है, जो इन्द्र मार डालता है । इन्द्र उसकी पत्नी एवं पुत्रों को भी मारता है[5]। अंशुमती के तट पर किसी गुह्य स्थान पर वह अपने दशसहस्र सहायकों के साथ निर्द्वन्द्व होकर रहता है[6]। ऋग्वेद में कृष्णयोनि सेना को दबाने तथा बहुवचन में कृष्णों को नष्ट करने की प्रार्थना की गयी है । इसके अतिरिक्त एक अन्य

---

१ ऋ० ७।२१।५, १०।९९।३ पर पुन: भाष्य देखें ।

२ ऋ० ५।२९।१० पर सायण एवं निरुक्त ६।१३ एवं ६।३१ की तुलना करें । वेंकटमाधव भी यही अर्थ (परुषवाच:, हिंसकवाच:) मानते हैं देखें-ऋ० ५।२९।१०, ७।६।३ एवं ७।१८।१३ पर वेंकटमाधव ।

३ ऋ० ७।६।३ ४ ऋ० ७।१८।१३ देखें : 'ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि' पृ० २२८ पर टिप्पणी ।

५ ऋ० १।१०१।१ पर सायण भाष्य ६ ऋ० ८।९६।१३

स्थल पर पांच सौ एवं एक सहस्र कृष्णवर्णियों का उल्लेख पिप्रु के साथ हुआ है जिन्हें इन्द्र मारते हैं[1]। वस्तुत: कठोर भाषी (भाषा वाले) नासिका हीन (चिपटी नाक वाले) लिंगोपासक एवं कृष्णवर्णी ये विशेषण उस जाति-विशेष के लोगों की ओर संकेत करते हैं जो प्राय: यज्ञों में विघ्न विधान करते थे, ऋषियों मुनियों को परेशान करते थे और उससे भी अधिक आर्यों की संस्कृति एवं धर्म पर विश्वास अथवा श्रद्धा नहीं रखते थे। वे चाहे भारत के मूल निवासी हों अथवा आक्रान्ता अथवा मूलत: आर्य किन्तु वर्णसंकरता एवं व्यभिचार के कारण आर्यत्व-हीन-जन, ये इन्द्र के शत्रु हैं[2]।

(ग) प्रतिद्वन्द्वी देवता

देवासुर संग्राम के परिप्रेक्ष्य में हम पाते हैं कि इस संग्राम में भाग लेने वाले देवता एवं असुर एक ही धर्म एवं संस्कृति के लोग थे। वस्तुत: उनके गुण, स्वभाव एवं कर्म के कारण ही उन्हें `असुर` कहा गया है। इस निर्णायक युद्ध के उपरान्त ही दो भिन्न संस्कृतियों के विकास का मार्ग प्रशस्त हो सका। इसे इन्द्र एवं वरुण के मध्य सत्तासम्बन्धी विवाद के रूप में भी देखा जा सकता है[3]। ऋग्वेद में बिना प्रयास के ही ऐसे स्थल ढूंढे जा सकते हैं जहां इन्द्र एवं अन्य अनेक प्रतिनिधि देवताओं के मध्य संघर्ष के प्रमाण हैं। कहीं कहीं संघर्ष की यह स्थिति उत्पन्न होती और टल जाती है। किन्तु ध्यान देने की बात है ऐसी स्थिति प्राय: तब उपस्थित होती है जब इन्द्र सोम के उन्माद में अपने समक्ष किसी को नहीं गिनता। विस्तार से देखा जाए तो इन्द्र एवं देवों के संघर्ष का अपना ऐतिहासिक महत्व है जो परवर्ती साहित्य में इन्द्र की प्रतिष्ठा के गिरने, अन्य अनेक आर्य सम्प्रदायों के विकसित होने एवं देवासुर संग्राम के रूप में अनेक फलीभूत होने एवं आर्यों के प्रव्रजन की ऐतिहासिक गुत्थी को सुलझाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है[4]।

प्रतिद्वन्द्वी वरुण

कहना न होगा कि इन्द्र-वरुण की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता, इन्द्र से अन्य देवताओं की प्रतिद्वन्द्विता की तुलना में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यद्यपि ऋग्वैदिक

---

१ ऋ० ४।१६।१३ २ ऋ० २।२०।७

३ `ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि`, पृ० २२०-२२६

४ ,, ,, ,, ,, ,,

कवियों की पक्षपातपूर्ण भाषा में वरुण का स्थान इन्द्र से छोटा है किन्तु उन्हें भी एकछत्र सम्राट् कहा गया है । स्वराट् शब्द का प्रयोग सर्वाधिक बार वरुण के साम्राज्य के सन्दर्भ में ही होता है । वैसे इसका प्रयोग इन्द्र एवं अग्नि के लिए भी हुआ है पर इन्द्र के विशेषण के रूप में इसका प्रयोग वरुण की तुलना में आधा ही है।[1] इस सम्बन्ध में जितनी अधिक स्तुतियां वरुण से सम्बन्धित हैं उतनी इन्द्र से नहीं । ऋषि उसे इस विश्व का, विश्व के सारे प्राणियों का एकमात्र नियन्ता कहता है ।

त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुर ये च मर्ताः ।
शतं नो रास्व शरदो विचक्षेऽश्यामायूंषि सुधितानि पूर्वा ।।

ऋ० २।२७।१०

ऋषि उससे प्रार्थना करता है कि वह उसे सौ वर्ष तक जीवित रहने का सौभाग्य प्रदान करे । वरुण ऋत का नियन्ता है और नैतिकता का सजग प्रहरी है । उसकी शक्ति महान् है, जिसे कोई नहीं पा सकता, ऊंचे उड़ने वाले पक्षी, शाश्वत प्रवाहित सरितायें और स्वयं आकाश भी उसके साम्राज्य का उल्लंघन नहीं कर सकता । वह सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, भूत, भविष्य एवं वर्तमान का ज्ञाता है[2]। परवर्ती काव्यों, महाकाव्यों एवं अन्य रूपकग्रन्थों के धीरोदात्त नायकों का मूल ऐसे ही वरुण के चरित्र में खोजा जा सकता है ।

वरुण का धीरोदात्त स्वरूप

वस्तुत: यह संक्षिप्त विशेषतायें वरुण के नायकत्व की स्थापना करती हैं किन्तु इन्द्र के पक्षपाती ऋषियों की वाणी वरुण को इन्द्र से ऊंचा नहीं उठने देती । इसका कारण यह है कि किसी न किसी रूप में यह सारे गुण इन्द्र के चरित्र में भी मिला डाले गए हैं । पहले ही कहा जा चुका है कि नैतिकता की दृष्टि से वरुण को कोई भी देवता छू नहीं सकता किन्तु इन्द्र ही ऐसा देवता है जो उसे इस क्षेत्र में भी ललकारने का दम्भ भरता है[3]। वह यहां तक कह डालता है कि `वरुण कोई और नहीं मैं ही हूं'[4] वरुण सभी लोकों के स्थापक हैं किन्तु इन्द्र इस कर्म को भी अपना बताते हुए कहता है, `मैंने ही द्युलोक को धारण किया है[5]।` इतना ही

---

१ द्रष्टव्य, वैदिक-देवशास्त्र, पृ० ४६
२ ऋ०१।२४।६,१।२५।७,६,११;१।१४१।६,२।२८।१,५।२८।१,५।८५।३, ७।८७।६
३ ऋ० ४।४२।३ ४ अहं राजा वरुणो, ऋ० ४।४२।२
५ अहमपो अपिन्वमुक्षमाणा धारयं दिवं सदन ऋतस्य । ऋ० ४।४२।४

नहीं 'मैंने ही तो यह विश्व रचा है'[1]। वस्तुत: वरुण एवं इन्द्र के इस विवाद में दो तथ्य उभरते हैं, एक तो यह कि इन्द्र एक एक करके वरुण के सारे कर्मों को अपना बताता है और वरुण को चिढ़ाने का प्रयास करता है। दूसरे इससे वरुण का वह वास्तविक स्वरूप उभरता है जिससे इन्द्र को द्वेष है और जो इन्द्र के अहं को चोट पहुंचाता है। नाटकीय दृष्टि से देखें तो इन्द्र की यह झल्लाहट और तज्जन्य आक्रोश और वरुण का प्रकृति के अनुकूल मौन, एक दूसरा चित्र उपस्थित कर देता है और वहां इन्द्र तो प्रतिनायक वत् किन्तु वरुण धीरोदात्त नायक वत् प्रतीत होते हैं जैसे राम के सम्मुख परशुराम अथवा वशिष्ठ के सम्मुख विश्वामित्र खड़े हों।

नायक प्रतिनायक का निर्णय परिस्थितियों के आधार पर ही किया जाना चाहिए और इस कारण एक ही व्यक्ति जब दो भिन्न परिस्थितियों में दो भिन्न प्रकार के कार्य करता है तो उसे सदा नायक या सदा प्रतिनायक कहना उचित नहीं है। उदाहरणार्थ, ऐसी ही भिन्न परिस्थिति में मृत्यु शैय्या पर स्थित दुर्योधन जहां अपने पुत्र से आग्रहपूर्वक कहता है कि 'पुत्र! पाण्डवों की सेवा वैसे ही करना जैसे मेरी करते हो, माता कुन्ती की आज्ञापालन करना, अभिमन्यु की मां सुभद्रा एवं द्रौपदी को मानना तथा पाण्डवों के साथ मुझे पिण्डपात्राञ्जलि देना मत भूलना'[2]। वहां दर्शक उसे नायक मानने को बाध्य हो जाता है। दूसरी ओर वही दर्शक युद्ध-नियमों के विरुद्ध आचरण करने वाले कृष्ण एवं भीम को धिक्कारता भी है।

तात्पर्य यह कि इन्द्र चाहे जितना पराक्रमी हो वरुण की उदात्तता के समक्ष एक उद्धत प्रतिनायक ही प्रतीत होता है। इन दोनों के मध्य संघर्ष का कोई प्रमाण नहीं है किन्तु उनके विवाद से वरुण की महानता ही प्रमाणित होती है जो निश्चित रूप से एक ओर धीरोदात्त नायक के विकास की दिशा में संकेत करती है तो दूसरी ओर प्रसिद्ध नायक को प्रतिनायक के कटघरे में खड़े करने की अनुमति देती है।

इन्द्र-मरुत् प्रतिद्वन्द्विता

ऋग्वेद में मरुतों का चरित्र नायकों जैसा है। वे प्रतिष्ठित कुल

---

१ अहं ता विश्वा चकरम्, ऋ० ४।४२।६
२ 'ऊरुभङ्गम्' -भास

के हैं। प्रश्निमातर:, रुद्रिया:, के रूप में उच्चप्रतिष्ठ देवों तथा पूज्य लोगों से सम्बद्ध हैं[1]। इतना ही नहीं इन्द्राणी, सरस्वती एवं रोदसी से भी उनका घनिष्ट सम्बन्ध है[2]। वे शक्तिशाली हैं, वे भाला धारण करते हैं जो उनका प्रमुख अस्त्र है वैसे हिरण्यमयी वाशी (सम्भवत: कुल्ही) एवं धनुषबाण भी उनके अस्त्रों के रूप में यत्र-तत्र उल्लिखित हैं। वे व्योम व्यापी, एवं अपरिमेय महिमान्वित, द्यावा-पृथिवी को अतिक्रान्त करने वाले ऐसे वीर हैं जिनका पार कोई नहीं पा सकता[3]। मरुत् अपनी भयानकता, कृष्णता, उग्रता एवं भीमता के कारण उद्धत नायक प्रतीत होते हैं[4]। इतना ही नहीं वे भयंकर स्वरूप में लोहे के समान दांतों वाले वराह एवं सिंह के रूप में ऋषियों की कल्पना में उभरते हैं[5]। इन्द्र के उपरान्त सम्भवत: मरुत् ही सर्वाधिक उद्धत है। उनके पदार्पण करते ही द्युलोक भय से चीत्कार कर उठते हैं। उनके कार्य तो और भी भयंकर हैं। ऋषि के ही शब्दों में :--

> मायिनो वाहि मायिनश्चित्रभानवो गिरयो न स्वतवसो रघुष्यद: ।
> मृगा इव हस्तिन: खादथा वना यदारुणीषु तविषीरयुग्ध्वम् ।।
>
> ऋ० १।६४।७

अर्थात् वे मायावी प्रज्ञावान् किंवा बुद्धि चातुर्य से सम्पन्न हैं,शक्तिशाली हैं। वे अपनी शक्ति से पर्वतों को विदीर्ण कर डालते हैं तथा हाथियों के समान पेड़ों को खा जाते हैं। उनकी इसी शक्ति के कारण बड़े-बड़े वृक्ष उनके सामने सिर झुका लेते है और पर्वत तथा पृथिवी उनके भय से कांप उठती है[6]। मरुतों का यह संहारक रूप केवल प्रकृति पर ही नहीं मनुष्यों पर भी कहर ढाता है। मरुतों से प्रार्थना की गयी है कि वे मनुष्यों एवं गौओं को मारने वाले अपने वज्र को दूर ही रखें[7]। इस रूप में मरुत् चाहे तूफान के मानवीयकरण हो अथवा प्रेतात्माओं के[8], उनका चित्रण एक शक्ति सम्पन्न धीरोद्धत नायक के रूप में हुआ है। ऐसे मरुत् गण की शक्ति को सह पाना

---

१ ऋ० १।३८।४,७, २।३४।२,१०

२ अथर्व० १०।६।३ पर सायण भाष्य

३ ऋ० ५।५६।८

४ ऋ० १।१६६।४, ५।५६।२, ७।५८।२

५ ऋ० १।८८।५, १।६४।८

६ वना चिदुग्रा जिहते नि वो भिया पृथिवी चिद्रेजते पर्वतश्चित् ।ऋ० ५।६०।२, एवं १।१६६।४

७ ऋ० ७।५६।७

८ देखें : वै० दे० पु० २०३,४

इन्द्र जैसे असहिष्णु नायक के लिए अस्वाभाविक ही है और इसी कारण हम कहीं कहीं इन्द्र को मरुत् के साथ विवाद करते हुए पाते हैं। विद्वानों ने प्रथम मण्डल के सूक्त १६५ से १७० तक अपितु १७१वें सूक्त में भी इन्द्र एवं मरुत् के मध्य विवाद के संकेत पाये हैं। इन संवादों में नाटकीयता के दर्शन तो होते ही हैं, इन्द्र द्वारा मरुत् को नीचा दिखाने के प्रयत्न भी स्पष्ट हैं[1]। जहां युद्ध में अकेला छोड़ जाने वाले मरुत् की निन्दा करते हुए इन्द्र अपनी शक्ति की सराहना करता है। किन्तु मरुत् की स्तुतिपरक एक अन्य ऋचा में इस आरोप को नितान्त भ्रामक कहा गया है :--

कद्ध नूनं कधप्रियो यदिन्द्रमजहातन। को वः सखित्व ओहते ।।ऋ०८।७।३१

अर्थात् हे मरुत् युद्ध करते हुए इन्द्र को भला तुमने कब अकेला छोड़ा है? अर्थात् कभी नहीं[2]। ऐतरेय ब्राह्मण भी इस शंका को निर्मूल करता है --

`मरुतो हैनं नाजहुः प्रहरमणो अहि वीर्यस्य।` ऐ० ब्रा० ३,२०

कधप्रिय = स्तुतिप्रिय मरुतों पर लगाए गए आरोप एवं उसके खण्डन के परिप्रेक्ष्य में जो शंका उसके चरित्र के सम्बन्ध में उठती है उसे कीथ महोदय ने इन्द्र की प्रतिशोध एवं खीझ की भावना के रूप में माना है[3]। जिसके प्रमाण ऋग्वेद में तो मिल ही जाते हैं, तैत्तिरीयब्राह्मण भी उसका समर्थन करता है[4]। इसके अतिरिक्त इन्द्राणी से मरुत् के घनिष्ट सम्बन्ध (जिसे वह गर्व के साथ स्वीकार[5] करती है) तथा रोदसी एवं सरस्वती से उनकी मैत्री को भी मरुत् से इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता के मूल में देखा जा सकता है। क्योंकि इन्द्राणी एवं कुत्स की मैत्री तथा उषा सूर्य के प्रेम के कारण ही हम असहिष्णु एवं शंकालु इन्द्र को कुत्स एवं सूर्य से प्रतिशोध लेते हुए पाते हैं। इस रूप में मरुतो से इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता के पीछे मरुतों की शक्ति-सम्पन्नता (जिसे इन्द्र बार-बार ललकारता[6] है), मरुतों के प्रति ऋषियों की अनन्य श्रद्धा (जिसे इन्द्र अगस्त्य द्वारा

---

१ कीथ - वै० ध० द० पृ० ३-४ २ द्रष्टव्य सायण भाष्य तथा देखें :ऋ०१।१६५।

३ कीथ - वै० ध० द० अध्याय ६, पृ० १८८ ४ तैत्त० २।७।११।१

५ अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते

उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।।
ऋ० १०।८६।६

६ ऋ० १।१६५।६,८, १०

कृत अपमान के रूप में ग्रहण करतो है।), अनेक नारियों की स्नेहभाजनता, मित्र होने पर भी विश्वासघात, आदि कई कारणों को देख सकते हैं ।

मरुत् के इन सभी कार्यों में इन्द्र का क्रोध बाधक तत्व के रूप में आता है अत: इस सन्दर्भ में इन्द्र की भूमिका में प्रतिनायकतत्व सरलता से मिल जाता है । फिर भी जिस प्रकार चाणक्य एवं राक्षस के मध्य नायक प्रतिनायक का निर्णय कठिन है उसी प्रकार इन दोनों के मध्य भी कुछ स्थलों पर यह निर्णय कठिन है । चाणक्य अपनी कूटनीति के माध्यम से राक्षस पर अनेक झूठे आरोप लगाने में समर्थ होकर भी राक्षस की तुलना में सामाजिक की सम्पूर्ण सद्भावना नहीं प्राप्त कर पाता, उसी प्रकार इन्द्र भी है । अन्त में राक्षस के समान ही मरुत् भी इन्द्र के समक्ष आत्मसमर्पण करके प्रतिनायक की भूमिका को सार्थक करते हैं । दोनों ही स्थलों पर हम पाते हैं नायक के क्रोधभाजन होने के कारण ही उन पर प्रतिनायक का आरोप है। इतना प्रबल विरोध होने पर भी इन्द्र को मरुतों का ज्येष्ठ कहा गया है[2] और दोनों एक दूसरे के उपकार से लदे हैं[3]। जिससे उनके विरोध का प्रभाव नष्ट हो जाता है । इस विरोध को क्रियाहीन करने के निमित्त ही मरुतों को कहीं इन्द्र का पुत्र[4] तो कहीं उनका भाई[5] कहा गया है । प्रतिनायक द्वारा अन्त में आत्मसमर्पण की यह भावना निश्चय ही संस्कृत नाटकों में चिरस्थायी विरोध की भावना को नष्ट करती है और इसी कारण पाश्चात्य त्रासदी जैसी नाट्यविधा को पनपने के सारे अवसर भी नष्ट हो जाते हैं ।

<u>सूर्य एवं उषा</u>

इसी प्रकार सोम का मद हो अथवा सत्ता का मद, शक्तिसम्पन्नता हो अथवा असहनशीलता, कारण जो भी हो पर इन्द्र का विरोध अन्य अनेक देवों के साथ भी उभरा है । सूर्य भी इन्द्रविरोधी देव के रूप में आये हैं । 'उषा' जो सूर्य

---

१ ऋ० १।१७०।२,३ २ इन्द्र ज्येष्ठा: मरुद्गणा: ।ऋ०१।२३।८

३ ऋ० १।१६५।१-२ ४ ऋ० १। १०० ।७

५ ऋ० १ । १७० । २

की प्रेयसी है उससे भी इन्द्र का विरोध है। यह विरोध चाहे सूर्य विरोध के कारण हो अथवा अन्य किसी कारण से किन्तु उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर हम इन दोनों देवताओं की इन्द्र से प्रतिद्वन्द्विता के सूत्र पा जाते हैं।

इस रूप में यहां केवल यह कहना ही पर्याप्त होगा कि नायक होने पर भी इन्द्र में प्रतिनायकीय गुण हैं तथा वरुण, मरुत्, सूर्य, उषा प्रभृति इन्द्र विरोधी देव प्रतिनायक होने पर भी नायक के गुणों से सम्पन्न हैं। वरुण जैसा धीरोदात्त नायक भी इसी कारण इन्द्र के नायकत्व का उल्लंघन नहीं कर पाता। मरुत् तो आत्मसमर्पण करके, कहीं प्रतिनायक तो कहीं उपनायकवत् प्रतीत होता ही है, ऐसे भी स्थल हैं जहां इन्द्र का स्वरूप भी नितान्त प्रतिनायकों जैसा है। ऋषियों द्वारा निर्मित यह चारित्रिक वैचित्र्य ही वह उत्स है जहां से संस्कृत नाटककारों एवं महाकवियों को राम और बालि, कृष्ण और दुर्योधन तथा चाणक्य और राक्षस जैसे चरित्रों के निर्माण की प्रेरणा मिली है।

(घ) प्रतिद्वन्द्वी आर्य

कुत्स के लिए सूर्यचक्र को खण्डित करने वाले, शुष्ण एवं कुयव को मारने वाले तथा अतिथिग्वदिवोदास[1] के समक्ष शम्बर को नतमस्तक करने वाले इन्द्र को कभी-कभी कुत्स, आयु एवं अतिथिग्वदिवोदास के विरोध का भी साक्षात्कार करना पड़ता है[2]। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि इन्द्र को स्वयं किन्हीं कारणों से आर्यों की भी शक्ति का प्रतिरोध करना पड़ता है। इसी प्रकार तुर्वश व यदु को इन्द्र द्वारा कभी अभिषिक्त किये जाने का उल्लेख मिलता है[3], किन्तु दाशराज्ञ युद्ध में सुदास के निमित्त युद्ध के लिए सन्नद्ध इन्द्र का वे प्रतिरोध नहीं कर पाते और भाग खड़े होते हैं[4]। जिससे हम यह निष्कर्ष सरलता से निकाल सकते हैं कि सुदास विरोधी होने के कारण पहले यदु एवं तुर्वश या तुर्वशजन इन्द्र के विरोधी थे किन्तु दाशराज्ञयुद्ध में इन्द्र की शक्ति के

---

१ अतिथिग्व, दिवोदास एक ही हैं देखें : वै० दे० पृ० १५६ एवं वैदिक कोश, पृ० १०

२(क) त्वमाविथ सुश्रवसं तवोतिभिस्तव त्रामभिरिन्द्र तूर्वयाणम् ।
त्वमस्मै कुत्समतिथिग्वमायुं महे राज्ञे यूने अरन्धनायः ।। ऋ० १।५३।१०

(ख) अन्यत्र एक साथ उल्लेख के लिए देखें : ऋ० २।१४।७, ६।१८।१३, ८।५३।२

३ ऋ० ४। ३०। १६

४ वैदिक कोश – यदु, पृ० ४२६ एवं तुर्वश, पृ० १७५-७६

अथवा उन्हें नतमस्तक होना पड़ा । इसी कारण बाद में वे इन्द्र से मैत्री करके उपकृत होते रहे[1]। ऋग्वेद में उपलब्ध कुछ अन्य प्रमाणों से सुदास के पिता या पितामह दिवोदासअतिथिग्व के ऊपर तुर्वश एवं यदु के आक्रमण का भी पता चलता है । उस समय तुर्वश एवं यदु के साथ शम्बर भी था जिन्हें इन्द्र ने पराजित किया :--

पुर: सद्य इत्थाधिये दिवोदासाय शम्बरम् ।
अधत्यं तुर्वशं यदुम् ।। ऋ० ९।६१।२

एक अन्य परवर्ती उल्लेख में जो इन्द्र के स्वगत भाषण के रूप में है,इन्द्र स्वयं भी यदु,तुर्वश को जीतने, वश में करने की बात कहते हैं :--

अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टर: प्राश्रावयं शवसा तुर्वशंयदुम् ।
अहंन्यन्यं सहसा सहस्करं नव व्राधतो नवतिं च वक्षयम् ।। ऋ०१०।४९।८

इसी प्रकार दाशराज्ञ युद्ध में जिसे राजा सुदास ने तृत्सुओं सम्भवत: भरतों के साथ लड़ा था, इन्द्र एक प्रमुख सहायक के रूप में आते हैं । इस युद्ध में पैजवन सुदास नायक हैं और इन्द्र उपनायक हैं फिर भी अपनी शक्ति की प्रखरता एवं सुदास की भीरुता के कारण इन्द्र सुदास के नायकत्व को तिरस्कृत करता प्रतीत होते हैं । जो भी हो इसमें सन्देह नहीं कि इस युद्ध में भी इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में अनेक शासकों, गणों अथवा जनों का चरित्र उभरता है । वे सुदास के प्रतिद्वन्द्वी तो हैं ही, इन्द्र के भी विरोधी हैं । इनके नाम — शिम्यु, तुर्वश, द्रुह्यु, कवष, पुरु, अनु, भेद, शम्बर, दोनों वैकर्ण एवं यदु[2] हैं । इनमें से अनेक नामों का उल्लेख सुदास के पिता या पितामह अतिथिग्वदिवोदास के विरोधियों के रूप में भी हुआ है[3]। इन विरोधियों के अन्य सहायकों में मत्स्य, पक्थ, भलानस, अलिन्, विषाणिन्, शिव, अज, शिग्रु, यक्षु लोगों का भी उल्लेख है[4]। ये सभी जन आर्य थे अथवा इनमें से कुछ

---

१ ऋ० १।५४।६, ५।३१।८, ६।२०।१२, ८।४५।२७

२ वैदिक कोश, पृ० १७७ एवं ऋ० ७।१८।५, ६, १२, १३, १४, १८, १९

३ वैदिक देवशास्त्र, पृ० १५७ एवं ऋ० ७।१९।८, ९।६१।२

४ ऋ० ७।१८।६ (यक्षु एवं मत्स्य), ७।१८।७ (विषाणिन्, पक्थ, भलानस्, शिव, अलिन) ७।१८।१९ (अज, शिग्रु एवं यक्षु) के उल्लेख देखें

अनार्य भी थे इसमें विवाद हो सकता है, किन्तु इनमें प्रायः सभी संज्ञाएं जातिवाचक प्रतीत होती हैं। यादवों या यदुवंशियों, पौरवों और मत्स्यों की उत्तरवैदिक एवं पौराणिक व्याख्याएं इसका समर्थन करती हैं। सम्भव है सुदास की बढ़ती हुई शक्ति ने आर्यों को विषाणिन्, अलिन, भलानस् जैसे अनार्यों के साथ भी संगठित होने का अवसर दिया हो[1]। जो भी हो यह तो स्पष्ट ही है कि पूर्वोक्त वृत्र, प्रभृति प्रतिद्वन्द्वियों की भांति इन पर प्राकृतिक शक्तियों के मानवीयकरण का आरोप नहीं लगाया जा सकता। ये निश्चय ही इन्द्र एवं प्रकारान्तर से सुदास और अतिथिग्व-दिवोदास के मानव प्रतिद्वन्द्वी हैं। सुदास की अपेक्षा इनका अधिक संगठित एवं शक्तिशाली होना इन्द्र के साथ ही सुदास के नायकत्व को भी गरिमा प्रदान करता है,क्योंकि इन्द्र इन्हें पराजित करके सुदास को विजयी बनाते हैं।

इस प्रकार ऋग्वेद में इन्द्र एवं उसके प्रतिद्वन्द्वी चरित्र नाट्यशास्त्रीय कसौटी पर पूरी तरह खरे भले ही न उतरते हों, किन्तु इसमें दो राय नहीं कि उनके चरित्रों में नाटकीयता है और चरित्र-चित्रण का पर्याप्त सीमा तक निर्वाह है। कम से कम इन्द्र तो नायकीय सीमा में सरलता से बांधा जा सकता है। प्रतिनायकों में भी वृत्र एवं पणि तथा कुछ अन्य बौने प्रतिनायक जहां इन्द्र के नायकत्व को उभारने में सफल हुए हैं वहीं उनका स्वयं का चरित्र भी प्रतिनायकीय परिप्रेक्ष्य में दृष्टि-सापेक्ष्य है।

<u>अन्य नायक एवं उनके प्रतिद्वन्द्वी</u>

इन्द्र के अतिरिक्त भी अनेक नायक ऋग्वेद में इस दृष्टि से महान् हैं, उनमें हम मरुत् की चर्चा कर चुके हैं जो अपने उद्धत स्वभाव के कारण ही यत्र-तत्र इन्द्र का विरोधी होकर भी उभरा है। उसके अतिरिक्त कुछ अन्य नायक भी हैं जो धीरता एवं औद्धत्य के कारण तो नहीं किन्तु अपने प्रतिद्वन्द्वियों के कारण हमारा ध्यान अवश्य आकृष्ट करते हैं। इनमें अग्नि, बृहस्पति, अङ्गिरस, सोम, कुत्स, दभीति, अतिथिग्वदिवोदास, सुदास, वैदथिनऋजिश्वा, वसिष्ठ, विश्वामित्र, जैसे

---

1 वैदिक कोश, पृ० ५१८ पर शिम्यु (त्सिमर का मत)

नायकों तथा बल, शुष्ण, शम्बर तथा सुवंश और यदु, प्रभृति (जिन्होंने दशराज्ञ युद्ध में भाग लिया था) प्रतिनायकों का उल्लेख किया जा सकता है । प्रस्तुत स्थल पर इनमें से कुछ बहुवर्णित नायकों और उनके विरोधियों पर ही संक्षेप में विचार अभीष्ट है ।

अग्नि, बृहस्पति एवं अङ्गिरस

ऋग्वेद के अनेक देवों के चरित्र एवं स्वरूप में कहीं-कहीं इतनी अधिक समानता है कि प्रबन्ध की दृष्टि से उन्हें पृथक्-पृथक् देखना उचित प्रतीत नहीं होता है । अग्नि, बृहस्पति एवं अङ्गिरस ऐसे ही नायक हैं जिनमें 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की भावना के दर्शन किए जा सकते हैं । वस्तुतः अग्नि, बृहस्पति एवं अङ्गिरस के चरित्र एवं स्वरूप में निहित समानता अपाद एवं अशीर्ष[1] अग्नि के स्वरूप से उठकर बृहस्पति के किंचित् मूर्त एवं विकसित स्वरूप के बाद अङ्गिरस के रूप में पूर्णतः मूर्त होकर मानवीय धरातल पर उतरने लगती है । इसी कारण अङ्गिरस में ऋषियों ने अग्नि एवं बृहस्पति के एक साथ दर्शन किए हैं । जिस प्रकार इन्द्र से अग्नि एवं बृहस्पति का सम्बन्ध है उसी प्रकार अङ्गिरस का भी सम्बन्ध इन्द्र से अत्यन्त घनिष्ट है । एकाधिकबार अग्नि एवं बृहस्पति को अङ्गिरस कहकर पुकारा गया है । इतना होने पर भी उनमें, अग्नि एवं बृहस्पति का मानवीयरूप (मानवीकरण) देखना उचित नहीं है। यज्ञीय अनुष्ठानों में उनकी आत्यन्तिक वृत्ति ही इस भावना के मूल में है । मैकडानल महोदय उन्हें अग्निज्वालाओं का मानवीय रूप मानते हैं[2]। जो भी हो प्रस्तुत स्थल पर अग्नि एवं बृहस्पति की एकरूपता एवं अङ्गिरस के स्वरूप में उसके संक्रमण को स्वीकार करते हुए ही यहां बृहस्पति एवं अङ्गिरस के नायकत्व पर विचार किया जा रहा है ।

अङ्गिरस को ऋग्वेद में किसी देवता के समान सभी गुणों एवं कर्मों से संयुक्त बताया गया है । उन्हें सोम[3] दिया जाता है । उन्होंने ऋत, अमृतत्व को पाया है[4], और अन्य देवों की भांति अनेक देवों से वे सम्बन्धित हैं[5]। इसके साथ उनका सम्बन्ध कुछ अन्य पार्थिव नायकों उदाहरणतः भृगुओं एवं अथर्वों के साथ भी है[6]।

---

१ ऋ० १।१६४।१ एवं ४।७३।१

२ वै० दे०,पृ० ३७२

३ ऋ० ६।६२।६

४ ऋ० १०।६७।२

५ ऋ० १०।१४।३,४,५,७।४४।४

६ ऋ० १०।१४।६

अङ्गिरसों का चरित्र विशेषत: उनके प्रतिद्वन्द्वी पणियों एवं बल के दर्प को चूर्ण करने के सन्दर्भ में उभरा है। बल से उनकी प्रतिद्वन्द्विता में सहायक के रूप में इन्द्र एवं बृहस्पति का उल्लेख हुआ है। पणियों से युद्ध में हम इन्द्र, अग्नि, सोम, बृहस्पति, मरुत् प्रभृति देवों के साथ अङ्गिरसों को भी देखते हैं। यहां सोम, इन्द्र एवं मरुतों की उपस्थिति उतनी कुतूहलजनक नहीं जितनी अग्नि एवं बृहस्पति के अतिरिक्त अङ्गिरसों की उपस्थिति कुतूहलजनक है। इस युद्ध में अग्नि का स्वल्पोल्लेख, बृहस्पति का कुछ अधिक और इन सबसे अधिक अङ्गिरसों का उल्लेख एक क्रमिक विकास की ओर संकेत करता है। वस्तुत: ऐसा प्रतीत होता है कि यह युद्ध इन्द्र ने मुख्यरूप से लड़ा था किन्तु अङ्गिरसों ने भी उसके कन्धे से कन्धा लगाया था। कहीं-कहीं तो पणियों से इनकी सीधी प्रतिद्वन्द्विता का उल्लेख हुआ है[1]। ऐसा ही उल्लेख बल के साथ भी हुआ है[2]। ऋग्वेद के जिन स्थलों पर पणियों एवं बल के साथ उनके संघर्ष की बात कही गयी है, उसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि अङ्गिरसों की प्रशंसा में कवियों ने पणि एवं बल के साथ इन्द्र, अग्नि एवं बृहस्पति द्वारा किए गए संघर्षों को भी उनसे जोड़ दिया है। फिर भी इस संघर्ष को अङ्गिरसों के सन्दर्भ में जितना सुन्दर एवं मूर्तरूप मिला है उतना अग्नि एवं बृहस्पति के सन्दर्भ में नहीं, कम से कम अग्नि के सन्दर्भ में यह नहीं के बराबर है।

इसी प्रकार - <u>बृहस्पति</u> अपने प्रतिद्वन्द्वी बल को बड़ी निर्ममतापूर्वक मारते हैं, उसके निवास स्थान को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं, पर्वतों को तोड़ डालते हैं[3]। वे एक अतुलनीय देव हैं जिन्हें कोई भी पराजित नहीं कर सकता - जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है अङ्गिरस एवं बृहस्पति कभी-कभी पृथक्-पृथक् रूप में भी पणियों एवं बल से युद्ध करते हुए देखे जाते हैं। किन्तु दोनों को ही उनका हन्ता माना गया है। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने पणियों को बल का अनुचर तो किसी-किसी ने सहायक माना है और इस परिप्रेक्ष्य में अङ्गिरस एवं बृहस्पति की एकरूपता को तो बल मिलता ही है, बल एवं पणियों की शक्तिसम्पन्नता का भी आभास मिलता है।

----

१ द्रष्टव्य - १०।१०८।८,१०,१।८३।४   २ ऋ० १०।६२।२

३ ,, ऋ० १०।६८ वां सूक्त, १०।१०३।४

इस रूप में अङ्गिरस हों अथवा बृहस्पति उनके चरित्र में जहां भी औद्धत्य प्रकट होता है वहां उनके प्रतिद्वन्द्वी उनके समक्ष हैं। ऋषियों की भांति अङ्गिरस प्राय: धार्मिक वृत्ति वाले उदात्त नायक के रूप में भी दिखायी पड़ते हैं। किन्तु सरमा एवं पणियों के मध्य बातचीत में एकबार सरमा पणियों को भयभीत करने के निमित्त अङ्गिरसों का नामोल्लेख करती है। वह कहती है कि वह व्यर्थ नहीं आयी है, क्योंकि उसके आने की सार्थकता तब सिद्ध हो जाएगी जब सोम से उन्मत्त अङ्गिरस लोग वहां पहुंच जाएंगे :--

एह गमन्नृषय: सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वा: ।
त एतमूर्वं विभजन्त गोनामथैतद्वच: पणयो वमन्नित् ॥
ऋ० १० । १०८ ।८

इससे स्पष्ट होता है कि पणिगण अङ्गिरस के नाम से भय का अनुभव किया करते थे। इतना समझाने पर भी जब पणिगण उसे फुसलाना चाहते हैं तो वह स्पष्ट रूप से इन्द्र के साथ भयंकर स्वभाववाले अङ्गिरसों की दुहाई देती है :--

नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोरा: ।
गोकामा मे अच्छदयन्यदायमपात इत पणयो वरीय: ॥
ऋ० १०।१०८।१०

अङ्गिरसों के साथ ही वह बृहस्पति की भी दुहाई देती है[1]। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर इन विप्रों (अङ्गिरसों) के साथ इन्द्र पणियों का नाश करते देखे जाते हैं[2]।

बल के साथ भी अङ्गिरसों एवं बृहस्पति का संघर्ष कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। कम से कम बल से युद्ध के समय वे अत्यन्त जागरूक प्रतीत होते हैं। उनका वीरोद्धत रूप भले ही बृहस्पति से अधिक न उभर पाया हो, किन्तु बल का भेदन करते समय अङ्गिरस एक संघर्षशील योद्धा के रूप में उभरते हैं। अङ्गिरसों का यह संघर्ष इतना लोकप्रिय था कि उनके सहायक इन्द्र को अङ्गिरस्तम[3] तथा बृहस्पति को अङ्गिरस[4]

---

१ ऋ० १०।१०८।११, एवं १०।१०८।६ २ ऋ० ६।३३।२

३ ऋ० १।१३०।३, १।१००।४ ४ ऋ० २।२३।१८

कहा जाने लगा था । अनेक बार अग्नि को भी अङ्गिरस एवं अङ्गिरस्तम(अंगिरसों के प्रमुख) के रूप में स्मरण किया गया है[1]। वस्तुत: अन्य देवों को अङ्गिरसों से सम्बद्ध करके स्मरण करने का कारण बल युद्ध में उनकी यश: प्राप्ति ही है । बल के साथ होने वाले संघर्ष में इन्द्र के नेतृत्व को भी कभी-कभी चुनौती मिली ऐसा प्रतीत होता है । बल का कार्य गौवों और अश्वों को घेर रखना है जिससे मुक्ति दिलाने के कर्म में इन्द्र यदाकदा मात्र सहायक रूप में दिखायी देते हैं और प्रमुख भूमिका अङ्गिरस ही निभाते हैं[2]। फिर भी इस संघर्ष में इन्द्र अङ्गिरसों की ही नहीं बृहस्पति की भी सहायता करते हैं । सत्य यह है कि बल जैसे मायावी प्रतिद्वन्द्वियों का सामना करना इन्द्र के ही सामर्थ्य की बात है । अतएव अन्ततोगत्वा अङ्गिरसों एवं प्रतापी बृहस्पति को भी इन्द्र की सहायता लेनी पड़ती है । सम्भवत: बल से लोहा लेने के समय ही इन्द्र बृहस्पति को एकत्र सोमपान का अवसर सुलभ होता है, यही एक अकेला सूक्त है जहां इन्द्र एवं बृहस्पति को युग्म के रूप में स्मरण किया गया है[3]। सम्भवत: इस संघर्ष के ही कारण वे इन्द्र के साथ इतने घनिष्ट हो गए हैं कि उन्हें वज्रिन् एवं असुर-हन्ता के रूप में भी स्मरण किया जाने लगा[4]। सम्भवत: इस मैत्री के कारण ही उन पर शम्बर के दुर्गों को ध्वस्त करने का आरोप कर दिया गया है ।

<u>प्रतिद्वन्द्वी बल</u>

अङ्गिरसों द्वारा इन्द्र की बल भेद के निमित्त प्रार्थना निश्चित रूप से इस दिशा में संकेत करती है कि बल प्राय: ऋषियों की गौवें, अश्व तथा अन्य धनधान्य चुराकर उन्हें पीड़ित किया करता था[5]। यह कर्म प्रतिद्वन्द्वी पणि एवं वृत्र भी करते हुए देखे जा चुके हैं । बल के ऐसे ही कर्म की ओर संकेत करते हुए अङ्गिरा ऋषि कहते हैं :--

इन्द्रो बलं रक्षितारं दुघानां करेणेव वि चकर्ता रवेण ।
स्वेदाञ्जिभिराशिरमिच्छमानोऽरोदयत्पणिमा गा अमुष्णात् ॥

ऋ० १०।६७।६

---

१ त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषि: ।१।३१।१ एवं ऋ० १।७५।२
२ द्रष्टव्य वै० दे० पृ० ३७० एवं ४।३।११, १०।६२।२,७, २।१५।८
३ ऋ० ४।४९ वां सूक्त ४ ऋ० १।४०।८ ५ ऋ० १।६२।४

अर्थात् बल, चुराकर लायी गयी इस गोधन की सुरक्षा के प्रति सदा सजग रहता था । इन्द्र अथवा इन्द्र के समान महान् देव बृहस्पति ने घनघोर शब्द करते हुए उसे मारा था । एक अन्य स्थल पर उसकी इस प्रवृत्ति का स्पष्ट उल्लेख उपमामुखेन उपलब्ध होता है :--

हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलोगा: ।

अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरात: ।। ऋ०१०।६८।१०

अर्थात् जिस प्रकार हिम द्वारा (सघन हिमपात होने पर)वन उपवन की लताएं, औषधियां अथवा वृक्षों के पत्र पुष्प छुपा दिये जाते हैं (ढंक जाते हैं) उसी प्रकार किसी समय बल ने (ऋषियों की) गौ आदि धन को चुराकर कहीं छुपा रखा था, बृहस्पति ने उसे वापस करने के लिए बल को विवश कर दिया । बल का यह कर्म लोकविश्रुत है । वह प्राय: ऐसी सम्पत्ति को गुहाओं अथवा अन्य गुप्त-स्थलों में छुपाकर रखता था[1]। यह स्थल इतने गुप्त थे कि बृहस्पति को भी क्षण भर सोचना पड़ता था कि उसने धन को कहां छुपा रखा है[2]।

बल एक महान् पराक्रमी प्रतिद्वन्द्वी है इसी कारण बृहस्पति एवं अङ्गिरसों की वीरता का पता सर्वाधिक बल की प्रतिद्वन्द्विता में ही उभरा है । बल का चरित्र भी एक सशक्त शासक के रूप में है । ऋग्वेद में उसके नगर एवं दुर्गों का भी उल्लेख मिलता है । वहीं उसकी हिंसात्मक-प्रतिहिंसात्मक प्रवृत्ति का विशेषण रूप में प्रयोग हुआ है तथा बृहस्पति द्वारा अङ्गिरसों की सहायता से उसके आयुधों को नष्ट करने का उल्लेख है[3]।

आयुधधारी बल के शक्तिशाली दुर्ग तोड़ना, एवं नगरों को नष्ट कर पाना न तो एकाकी बृहस्पति के लिए सम्भव है न अङ्गिरसों के लिए । अतएव उसके निमित्त वे इन्द्र की सहायता लेते हैं :--

तन्न: प्रत्नं सख्यमस्तु युष्मे इत्था वदद्भिर्वलमङ्गिरोभि: ।

हन्नच्युतच्युद् दस्मेषयन्तमृणो: पुरो वि दुरो अस्य विश्वा: ।।

ऋ० ६।१८।५

---

१ ऋ० ८।१४।८, २।१५।८, २।२४।३ २ ऋ० १०।६८।५

३ ऋ० ६।१८।५, १०।६८।६

अर्थात् अपनी पुरातन मैत्री की दुहाई देने वाले अङ्गिरसों के साथ, दुर्दम प्रतिद्वन्द्वियों, उनके पुरों एवं दुर्गों को भी नष्ट करने वाले हे इन्द्र। (इष्यन्तं = आयुधानि प्रेरयन्त--सायण) युद्ध के निमित्त अपने शस्त्रास्त्रों पर शान करते हुए, बल को तुमने नष्ट किया है। तुम्हीं ने उसके नगरों को ध्वस्त किया एवं उनके (दुर्गों के) द्वारों को नष्ट किया है[1]।

वस्तुत: बल के गुप्त दुर्गों, पुरों एवं गुहाओं का ज्ञान अङ्गिरसों को भी है किन्तु इन्द्र उनके साथ ही इनका आविष्कर्ता है[2] और तदुपरान्त बल को वे पतनोन्मुख करते हैं। स्वाभाविक है जब नायक को अपने प्रतिद्वन्द्वी का गोपनीय रहस्य ज्ञात हो जाए तो वह शीघ्र ही पराजित किया जा सकता है। बल इस लूट के माल को जहां रखता था वे स्थल गुप्त हैं, दृढ हैं, एवं दुर्भेद्य है। इतना ही नहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि ये दुर्ग प्राकृतिक नहीं अपितु मानव निर्मित हैं।--

> भिनद्वलमङ्गिरोभिर्गृणानो वि पर्वतस्य दृंहितान्यैरयत् ।
> रिणग्रोधांसि कृत्रिमाण्येषां सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ।।
>
> ऋ० २। १५ ।८

अर्थात् इन्द्र ने इन कृत्रिम दुर्गों को नष्ट किया था। इन शक्तिशाली दुर्गों एवं पुरों का स्वामी स्वयं भी कम शक्तिशाली नहीं है। उसकी शक्ति की प्रचण्डता का ही प्रताप था जो सूर्य के चक्र को रोके रखता था, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि सूर्य उसके भय से अपने चक्र नहीं घुमा पाता था[3]। बल का यह कर्म जहां उसके प्रताप का परिचायक है वहीं सदा दिन ही दिन अथवा रात्रि ही रात्रि की माया फैलाने वाली, ऋषियों एवं अन्य सामान्य जन की दिनचर्या में बाधा पहुंचाने वाली, उसकी आसुरी प्रवृत्ति का भी परिचायक है। इस प्रकार बल को हम इन्द्र, अङ्गिरस, बृहस्पति प्रभृति अपने प्रतिद्वन्द्वियों से शक्ति परीक्षण के निमित्त सदा तत्पर तथा बृहस्पति प्रभृति को उसके आयुधों को खण्डित करते हुए पाते हैं। इस आधार पर बल चाहे एक काल्पनिक चरित्र हो अथवा ऐतिहासिक इसमें सन्देह नहीं कि वह एक सशक्त एवं सजीव प्रतिनायक है।

---

१ अन्यत्र देखें:- त्वं दृळ्हानि वि बलस्य सानुं पणींर्वचोभि रभियोधदिन्द्र :।। ऋ० ६।३६।२

२ उस्रा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन्गुहा सतीः।अर्वाञ्चं नुनुदे वलम्।।ऋ०८।१४।८

३ अवर्तयत् सूर्यो न चक्रं भिनद्वलमिन्द्रो अङ्गिरस्वान् ।। ऋ० २।११।२०

नायक कुत्स एवं उसके प्रतिद्वन्द्वी

कुत्स भी ऋग्वेद के यशस्वी नायकों में हैं। सायण आदि ने एक गोत्र प्रवर्तक ऋषि के रूप में उनका स्मरण किया है[1]। ब्राह्मणों में भी इसके उल्लेख मिल जाते हैं[2]। ब्राह्मण ग्रन्थ उसे इन्द्र पुत्र के रूप में भी स्मरण करते हैं। जैमिनीय-ब्राह्मण में उसे इन्द्र की जंघा से उत्पन्न एवं इन्द्र का शतप्रतिशत स्वरूप भी बताया गया है[3]। वे ओजस्वी एवं तेजस्वी नवयुवक योद्धा हैं[4]। उनके वीरोचित कर्म ही सम्भवतः इन्द्र के आकर्षण का केन्द्र हैं जिसके कारण कुत्स को इन्द्र के साथ एक ही रथ पर बैठने का सुअवसर मिल जाता है और वे इतने विश्वासपात्र हो जाते हैं कि यदाकदा इन्द्र के सारथि का भी कर्म करते हुए देखे जाते हैं[5]। एक स्थल पर देवता द्वन्द्व रूप में भी उनका आह्वान हुआ है[6]। इन्द्र अपने इस परम मित्र से इतने प्रसन्न होते हैं कि अपना रथ भी उसे दे देते हैं। इन्द्र स्वयं को अर्जुनीयकुत्स कहते हैं,[7] जिससे उनके रूप-साम्य के साथ-साथ नायक कुत्स की ख्याति एवं उसके प्रति सभी की श्रद्धा का अनुमान किया जा सकता है। जैसे अनेक स्थलों पर कुत्स को आर्जुनेय विशेषण के साथ स्मरण किया गया है जो उनके पिता का वास्तविक नाम प्रतीत होता है। वाजसनेयी-संहिता इसे इन्द्र का गुह्य नाम बताती है[8]।

जो भी हो इसमें सन्देह नहीं कि कुत्स के चरित्र में किसी प्रकार के भी अनैतिक गुणों की उपलब्धि नहीं होती अपितु ऋग्वेद और उत्तर वैदिक साहित्य में उनके चरित्र के स्वतंत्र स्वरूप के दर्शन नहीं होते हैं। फिर भी वे कभी-कभी अपूर्ण नायक अथवा उपनायक से लगते हैं। एक कूप में गिरने पर उससे निकलने के लिए इन्द्र का आह्वान उनके नायक, तेजस्वी, दिव्य और वीर पुरुष होने के सम्बन्ध में एक

---

१ ऋ० १।३३।१४ पर सायण भाष्य एवं वैदिक इण्डेक्स (मैक० एवं कीथ)

२ ताण्ड्य० १४।६।८ एवं ऋ० १०।१०५।११

३ जै० ब्रा० ३।१९९ एवं ऋ० ४।१६।१० पर सायण

४ ऋ० ११ ६३ । ३ ५

५ ऋ० ४।१६।११, ८।१।११, १०।४०।६ पर सायण तथा ऋ० ५।२९।९+, ६।२०।५

६ ऋ० ५।३१।८,९ ७ ऋ० ४।२६।१

८ ऋ० १।११२।२३ पर सायण (एतद्वा इन्द्रस्य गुह्यनाम यदर्जुनः:-वा०सं०)

प्रश्नचिह्न लगा देता है[1]। वैसे शुष्ण के विरोध के कारण उनके चरित्र का यह कलंक धुल जाता है। बहुत सम्भव है यह कूप पतन उनके चारित्रिक पतन, नास्तिक हो जाने अथवा इन्द्र के प्रति कभी उनके श्रद्धाहीन हो जाने का लाक्षणिक प्रयोग हो और इन्द्र का आह्वान सन्मार्ग की प्राप्ति का एक रूप हो।

कुत्स इन्द्र के परममित्र है, चाहे शुष्ण से युद्ध हो अथवा कूप-पतन, कुयव से संघर्ष हो अथवा तुग्र एवं स्मदिभ से विरोध, इन्द्र सदा उसकी सहायता को तत्पर रहते हैं[2]। ~~किन्तु भी~~ इन्द्र से कहा गया है कि वे शुष्ण वध के निमित्त कुत्स को लावें अथवा प्रेरित करें :--

वह शुष्णाय वधं कुत्सं वातस्याश्वैः ।।ऋ० १।१७५।४

जिससे शुष्ण के सन्दर्भ में उनका नायकत्व प्रकट होता है, सम्भवतः इसी कारण सायण ने इन्द्र को कुत्स का सहायक ही माना है[3]। स्वयं इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता में उभरने वाला कुत्स का चरित्र भी उसके पराक्रम, साहस एवं वीरता का प्रमाण माना जा सकता है। अतिथिग्व के साथ उसका उल्लेख भी सम्भवतः इसी दिशा में संकेत करता है। वैसे भी उसका एकल एवं इन्द्र के साथ बहुविध आह्वान उसकी महानता का परिचायक है।

<u>प्रतिद्वन्द्वी शुष्ण</u>

कुत्स के नायकत्व का मुख्य बिन्दु 'अशुष' इस विशेषण वाला शुष्ण है। उसकी शक्ति का परिचय तो अकेले कुत्स से उसके पराजित न होने से ही स्पष्ट है। कुत्स की रक्षा के लिए इन्द्र का पुनः पुनः आना शुष्ण के शौर्य एवं पराक्रम का परिचायक है। नायक कुत्स की अपेक्षा प्रतिनायक शुष्ण के सम्बन्ध में ऋग्वेद पर्याप्त मुखर है। वह मायावी है, उसकी माया को सायण ने नानाविध कपट का पर्याय माना है। उसे पराजित करने के लिए इन्द्र को भी माया का प्रयोग

---

१ ऋ० १। १०६ ।६

२ ऋ० १।६३।३, १।१०६।६, २।१६।६, ४।१६।१२, ६।३१।३, १०।४६।४

३ ऋ० १।६३।६ पर सायण भाष्य

करना पड़ता है --

मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः ।। ऋ० १।११।७

उससे संघर्ष के पूर्व इन्द्र द्वारा सोमपान शुष्ण की दुर्धर्षशक्ति का परिचायक है[1] और उस संग्राम की भयंकरता की ओर भी संकेत करता है जहां कुत्स अकेले लड़ने से घबराते हैं। इस संग्राम में शुष्ण को पराजित कर इन्द्र उसे कारागार में डाल देते हैं। उसकी माया वास्तव में, असाधारण, निर्बाध एवं अति विकट है जिसे नष्ट कर पाना केवल इन्द्र के सामर्थ्य की बात है[2]। वस्तुतः इन्द्र ही पुनः पुनः जायमान शुष्ण की इस माया के मर्म को एवं उसके गुप्त स्थानों को जानते हैं[3]।

शुष्ण स्वभाव से द्रोही है। यह द्रोह सम्भवतः ऋषियों, देवों एवं मनुष्यों की धन सम्पत्ति एवं समृद्धि के प्रति उसकी ईर्ष्या ही है। किन्तु इन्द्र उससे अधिक ईर्ष्यालु हैं, क्रूर हैं -अपने प्रतिद्वन्द्वियों के प्रति, अतएव वह 'शुष्ण'; इस पापमूलक भावना को उसके वध द्वारा नष्ट कर डालते हैं। इस अवसर पर नायक कुत्स इन्द्र के साथ हैं[4]। शुष्ण की माया, उसका फुत्कार, उसका शृङ्गीरूप, उसके पुरों का उल्लेख तथा उसके सम्पर्क में जलमुक्ति एवं गोमुक्ति के आख्यान[5] वृत्र आदि से उसकी शक्ति की तुलना के लिए पर्याप्त हैं। सम्भवतः इसी कारण उसे दानवों के क्रोध से उत्पन्न कहा गया है[6] जिससे उसके ऐतिहासिक स्वरूप पर सन्देह हो सकता है किन्तु उसकी क्रूरता, युद्धलिप्सा एवं उसकी परपीड़कता[7] स्वतः सिद्ध हो जाती है। वृत्र के समान वह भी एक शासक के रूप में उभरता है। जिसके अपने सुदृढ़ दुर्ग एवं नगर हैं[8]। वह स्वयं भी अप्रतिमेय एवं अनुपमेय शक्ति से सम्पन्न है।

---

१ ऋ० १।५६।३   २ ऋ० ५।३१।७, १०।२२।१४

३ ऋ० १०।६९।१३ पर सायण भाष्य   ४ ऋ० ६।२०।५

५ ऋ० १।५४।५ (श्वसन-फुत्कार), १।३३।१२ (शृङ्गी शुष्ण),
ऋ० १।५१।११ (जल रोकना एवं पुर), ८।९६।१७ (गौओं की मुक्ति)

६ ऋ० ५।३२।४ पर सायण भाष्य

७ ऋ० ८।५१।८

८ ऋ० ८।१।२८, ४।३०।१३, १।५१

ऋग्वैदिक ऋषिगण-शुष्ण का उल्लेख इलीविश, शम्बर एवं अर्बुद, कुयव, पिप्रु, वृत्र, अश्न, व्यंस, नमुचि, रुधिक्रा, चुमुरि, धुनि, पणिगण प्रभृति प्रतिनायकों को मारने वाले इन्द्र के सामर्थ्य की चर्चा के साथ करते हैं। प्रकारान्तर से ऋषियों ने कहीं इन्द्र को इन उपर्युक्त प्रतिनायकों को मारने वाला कहकर उसे शुष्ण के हन्ता के रूप में पुकारा है तो कहीं इन्द्र को इन्हें मारने में समर्थ कह कर, उनसे शुष्ण को भी मारने की प्रार्थना की है जिसमें स्पष्टत: इन्द्र एवं प्रतिद्वन्द्वी शुष्ण की शक्ति की तुलना का पक्ष उभरता है। जो भी हो इसमें सन्देह नहीं कि शुष्ण एक शक्ति-सम्पन्न दानव है जिसका वैर केवल द्युलोकवासियों से ही नहीं, मनुष्यों से भी है[2]।

असुर-शुष्ण के साथ कुत्स की प्रतिद्वन्द्विता में कुयव नामक एक अन्य प्रतिद्वन्द्वी का उल्लेख पुन: पुन: हुआ है। सम्भव है कुयव शुष्ण का सहायक (अत: उपप्रतिनायक) रहा हो। हम पाते हैं कि वृत्रघ्न इन्द्र प्राय: शुष्ण के साथ ही कुयव का भी वध करते हैं।-

स रन्धयत्सदिव: सारथये शुष्णमशुषं कुयवं कुत्साय।
दिवोदासाय नवतिं च नवेन्द्र: पुरो व्यैरच्छम्बरस्य ।।ऋ० २।१९।६

कुयव के सहायक होने न होने से शुष्ण के चरित्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह तो इन्द्र से एक वीर-योद्धा की भांति आमने सामने होकर लड़ता है। अपने प्रतिद्वन्द्वी की शक्ति छीनने में समर्थ शुष्ण युद्ध में हुंकार भरता है[3]। आयुध-धारी[4] शुष्ण से, (वृके) वीरों का मरना जहां स्वाभाविक है और (पुरा) जहां वीर लोग स्वयं आकृष्ट होकर पहुंच जाते हैं, ऐसे (वाणी) संग्राम में, (धुते) ओजस्वी एवं (युने), कुत्स के लिए, इन्द्र का युद्ध अत्यन्त रोमहर्षक है[5]। इस युद्ध में, इन्द्र की शक्ति की तुलना में कुण्ठित पड़कर ही शुष्ण अन्धकार में छुप जाता है[6]। इन्द्र उसको खोज

---

१ ऋ० १।३३।१२, १।१०३।८, २।१४।५, ६।१८।८

२ 'शुष्णो दानव: प्रत्यङ्पलित्वा मनुष्याणामक्षीणि प्रविवेश।'
श० ब्रा० ३।१।३।११

३ ऋ० १।५४।५ पर स्कन्द स्वामी का भाष्य   ४ ऋ० १।१२१।१०

५ ऋ० १।६३।३ एवं उस पर सायण भाष्य

६ ऋ० ५।३२।४ एवं मैकडानल वै० दे०, पृ० ४९६

निकालता है, उसके आयुधों को छिन्न-भिन्न कर डालता है, उसके गुप्त स्थलों पर प्रहार करता है,[1] उसके धन (वेदन = धन (सायण), प्रज्ञा (वेंकट) तथा नगरों को छीन लेता है[2] और अन्त में अपने वज्र से उसके सिर पर प्रहार कर उसे मार डालता है[3]।

वस्तुत: शुष्ण की तुलना में नायक कुत्स बहुत बौना है । फिर भी शुष्ण की प्रतिद्वन्द्विता ने ही उसके चरित्र को इतना महत्त्व प्रदान किया है कि वह इन्द्र के साथ उसके रथ पर बैठने योग्य समझा गया । शुष्ण से भीषण संघर्ष करने से नायक इन्द्र को भी पर्याप्त यश मिला । इस रूप में वह इन्द्र एवं कुत्स दोनों के साथ अन्त तक लड़ता है । वस्तुत: कुत्स का नायकत्व उसकी तुलना में बड़ा बौना है ।

नायक कुत्स का प्रतिनायकत्व

कुत्स जिसे अभी हमने नायक के रूप में देखा है, कभी-कभी इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता में भी आता है । यदु, तुर्वश, अतिथिग्व दिवोदास के अतिरिक्त कुत्स भी उन ऐतिहासिक व्यक्तियों में हैं जिन्हें इन्द्र की सहायता एवं मैत्री भी मिलती है और प्रतिद्वन्द्विता का प्रतिफल भी । वस्तुत: ऐसा चरित्र,नायक प्रतिनायक के विकास की वह शृंखला है जिसके अनेक प्रमाण उत्तरवैदिक साहित्य में भी मिल जाते हैं । जहां ऋग्वेद के अनेक प्रसिद्ध नायकों को यदा-कदा प्रतिनायक बनाकर खड़ा कर दिया गया है ।

जैमिनीय-ब्राह्मण में कुत्स एवं इन्द्र की ऐसी ही प्रतिद्वन्द्विता का एक आख्यान मिलता है, इसका मूल ऋग्वेद के उस आख्यान में खोजा जा सकता है जहां एकबार इन्द्र द्वारा कुत्स को अपने घर ले जाने का उल्लेख है[4]। चूंकि इन्द्र एवं कुत्स में रूपसाम्य के भी प्रमाण ऋग्वेद में उपलब्ध हैं और इन्द्राणी कुत्स के सम्बन्धों पर भी कहीं-कहीं सन्देह व्यक्त किया गया है । अत: जैमिनीयब्राह्मण के अनुसार एकबार इन्द्राणी के समक्ष कुत्स अपने को इन्द्र के समकक्ष मान बैठता है जिससे असहिष्णु इन्द्र क्रुद्ध

---

१ ऋ० ६।२०।५, ८।४०।१०,११, ६।२०।५ २ ऋ० ४।३०।१३

३ ऋ० १।५४।५, ८।६।१४, ८।६८।१७ ४ ऋ० ४।१६।१०

हो उठता है[1]। फलस्वरूप क्रुद्ध इन्द्र, कुत्स को यज्ञफल नहीं प्राप्त होने देता। इन्द्र द्वारा कुत्स के पुरोहित रुशमा के पुत्र का वध एवं रुशमा की स्तुति पर इन्द्र द्वारा उसे जीवित कर देने के आख्यान[2] को भी इसी सन्दर्भ में देखा गया है। ताण्ड्य एवं जैमिनीय ब्राह्मण तथा बृहद्देवता के एक अन्य आख्यान के अनुसार एकबार कुत्स एवं लुश ने एकसाथ यज्ञ में इन्द्र का आह्वान किया किन्तु इन्द्र (मैत्री के कारण) कुत्स के समीप ही गए। कुत्स ने वहां इन्द्र को रस्सियों में बांध लिया। जिस पर लुश ने इन्द्र को बहुत बार ताने मारे[3]। इस कथानक में इन्द्र के साथ ही कुत्स एवं लुश की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता के भी दर्शन होते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों के इन आख्यानों को छोड़ भी दें तो ऋग्वेद में ही अनेक स्थलों पर इन्द्र को अतिथिग्व एवं आयु के साथ कुत्स को दण्डित करने वाला तथा पीड़ित करने वाला कहा गया है :--

त्वमाविथ सुश्रवसं तवोतिभिस्तव त्रामभिरिन्द्र तूर्वयाणम् ।
त्वमस्मै कुत्समतिथिग्वमायुं महे राज्ञे यूने अरन्धनायः ।।ऋ० १।५३।१०

अर्थात् हे इन्द्र तुमने युवक, एवं महान् आयु, अतिथिग्व एवं कुत्स राजाओं को वश में किया। इस कथन से स्पष्ट है यह तीनों कहीं उच्छृंखल भी थे। इसी प्रकार अन्य अनेक स्थलों पर भी इन तीनों का इसी रूप में उल्लेख है,[4] जिसके आधार पर इन्द्र से इनकी प्रतिद्वन्द्विता स्वतः स्पष्ट है। जहां तक कुत्स का सम्बन्ध है, इन्द्राणी के समक्ष उसकी अहमन्यता हो अथवा इन्द्र की असहनशीलता निश्चित रूप से इन दोनों के मध्य प्रतिद्वन्द्विता निःसन्दिग्ध है।

अतिथिग्वदिवोदास का नायकत्व

अतिथिग्व, आयु एवं कुत्स को इन्द्र द्वारा हराने या वश में करने का उल्लेख किया जा चुका है। इन्द्र किसी तूर्वयाण नामक राजा के निमित्त ऐसा करते हैं। इस रूप में एक ओर ये शासक या राजर्षि, इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वी हैं तो दूसरी

---

१ जै० ब्रा० ३।१९९ एवं आगे   २ द्रष्टव्य - वै०प०ध०, पृ० १५४-५५ पर टिप्पण

३ ताण्ड्य० ९।२।२२, जैमि० १।२२८, बृहद्देवता- २।१२९ तथा ३।५५

४ ऋ० २।१४।७, ६।१८।१३, ८।५३।२

और तूर्वयाण के विरोधी । तुर्वश एवं यदु भी अतिथिग्व के प्रतिद्वन्द्वी हैं । इन्द्र से भी यदु तुर्वश की प्रतिद्वन्द्विता के प्रमाण हैं जो कालान्तर में इन्द्र के कृपापात्र भी बन जाते हैं । इन आख्यानों की विप्रतिपत्तियों के परिप्रेक्ष्य में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुत्स और आयु तथा अतिथिग्व समकालीन थे । अतिथिग्व का वंश तृत्सु जो भरतों से सम्बद्ध था अत्यन्त प्राचीन था । आरम्भ में ये लोग इन्द्र को महत्त्व नहीं देते थे क्योंकि उनकी शक्ति पर्याप्त बढ़ी चढ़ी थी, किन्तु शम्बर एवं शुष्णरूपी आपत्ति आने पर इन्होंने इन्द्र की स्तुति की और फिर इन्द्र के कृपापात्र बन गये । आरम्भ में अतिथिग्व से यदुओं, तुर्वशों का युद्ध होता है किन्तु इन्द्र द्वारा वे पराजित होते हैं । परन्तु उनका वंशानुगत विरोध सुदास के साथ दाशराज्ञ युद्ध में भी उभरता है और पुनः इन्द्र उन्हें पराजित करते हैं, यह पराजय इतनी भयंकर होती है कि यदु, तुर्वश अपने अन्य साथियों को युद्धभूमि में मृत छोड़कर भागते हैं किन्तु अपने समक्ष भयंकर नदी को देखकर अपना सारा साहस खो बैठते हैं । न जाने क्यों इन्द्र दयाभिभूत हो वहां उन्हें पार तक पहुंचाते हैं।[1] यह सहायता ही सम्भवतः उन्हें इन्द्र के प्रति श्रद्धा से नत कर देती है ।

अतिथिग्व दिवोदास का चरित्र कुत्स की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है । वह एक पूर्ण नायक है । जिसे शम्बर, करञ्ज,[2] पर्णय, यदु, तुर्वश एवं तूर्वयाण जैसे प्रतिद्वन्द्वियों एवं इन्द्र जैसे महान् शक्तिशाली नायक से युद्ध का अवसर मिलता है ।

कुछ विद्वानों ने अतिथिग्व को दिवोदास से पृथक् माना है,[3] किन्तु यह एक भ्रमपूर्ण मान्यता है । वस्तुतः `शम्बर के हन्ता के रूप में इन दोनों नामों की एकता सिद्ध उठती है'[4]। जो भी हो ऋग्वैदिक प्रमाणों के आधार पर वे एक ऐतिहासिक नायक हैं ।

---

1 ऋ० ५।३१।८, १० १७४।६, ४।३०।१७ एवं ८।४।७   2 ऋ० १।५३।८

3 द्रष्टव्य- वै० को० पृष्ठ १० पर `अतिथिग्व' के सन्दर्भ में उद्धृत-राथ आदि विद्वानों के मत ।

4 वै० को० वही पृ० १०

जैसा कि कहा जा चुका है, अतिथिग्व दिवोदास एक कुलीन नायक हैं। वे भरतों के तृत्सु वंश में उत्पन्न हुए क्योंकि उनके पुत्र या पौत्र सुदास को इसी वंश से सम्बद्ध माना गया है। एक स्थल पर कुत्स एवं आयु के साथ उन्हें भी महान्, युवक एवं शासक के विशेषणों से अभिहित किया गया है[1]। वे निश्चित रूप से महान् हैं किन्तु ऋषियों की भांति भीरु भी हैं और शम्बर के भय से वह समाधि को उत्सुक प्रतीत होते हैं। उस समय इन्द्र उनकी सहायता करते हैं[2]।

दानशील[3] एवं यज्ञनिष्ठ[4] अतिथिग्व दिवोदास के ऋषिकल्प रूप की चकाचौंध में उनका सैनिक या वीर रूप कुछ धुंधला अवश्य पड़ गया है किन्तु इन्द्र द्वारा उनके लिये किये गये संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में उन्हें निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता। इन्द्र कम से कम १९९ पुरों को जीतते हैं जिनमें ९९ को वे नष्ट कर डालते हैं तथा १०० पुरों को प्रवेश योग्य बनाकर अतिथिग्व दिवोदास को दे देते हैं[5]। अतिथिग्व दिवोदास के लिए इन्द्र द्वारा दी गयी सम्पत्ति का स्थान-स्थान पर उल्लेख है[6]। जिससे यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि अतिथिग्व दिवोदास प्रभूत सम्पत्ति के साथ-साथ प्रभूत सेना के भी स्वामी थे। स्वाभाविक है इन्द्र इतनी सम्पत्ति ऐसे व्यक्ति को नहीं देंगे जो उसकी रक्षा भी न कर सके। कालान्तर में सुदास तक फलते-फूलते इस वंश की सत्ता भी इसी दिशा में संकेत करती है। शम्बर के प्रतिनायकत्व के कारण जो वस्तुतः इतना अधिक शक्तिशाली है कि उसे पराजित करने के निमित्त इन्द्र को सोम का मद करना पड़ता है, अतिथिग्वदिवोदास का नायकत्व खिल उठता है।

प्रतिद्वन्द्वी शम्बर

शम्बर चाहे अर्ध ऐतिहासिक हो, ऐतिहासिक अथवा मात्र गाथेय या काल्पनिक चरित्र, इसमें सन्देह नहीं कि उसका वीर रूप जो संक्षिप्त किन्तु सशक्त है इन्द्र एवं प्रतिद्वन्द्वी अतिथिग्व दिवोदास के यश का कारण है। अतिथिग्वदिवोदास

---

१ ऋ० १।५३।१० २ ऋ० १।११२।१४

३ ऋ० ६।४७।२२ एवं २३ पर सायण ४ ऋ० ६।१६।१६

५ ऋ० ४।२६।३, ४।३०।२० ६ ऋ० २।१३०।७, ६।३१।७

के प्रतिद्वन्द्वियों में, यदु, तुर्वश, पर्णय-करंज एवं इन्द्र की गणना की जा सकती है किन्तु इन सारे प्रतिद्वन्द्वियों का उल्लेख एवं उनकी प्रतिद्वन्द्विता अत्यन्त संदिग्ध है। निःसन्देह शम्बर ही ऐसा प्रतिद्वन्द्वी है जो इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है।

अतिथिग्वदिवोदास और इन्द्र के अतिरिक्त सोम, अश्विनौ एवं अग्नि को शम्बर के हन्ता के रूप में स्मरण किया गया है। किन्तु शम्बर से लोहा लेने का साहस केवल इन्द्र में है। जो अतिथिग्व की रक्षा का पूरा-पूरा भार अपने ऊपर उठाये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि शम्बर इन्द्र की शक्ति के समक्ष बहुत छोटा है पर इतना छोटा भी नहीं कि इन्द्र उसे पतंगे की भांति मसल कर फेंक दे। यह शम्बर की शक्तिसम्पन्नता, रणचातुर्य एवं उसकी उत्साह-शक्ति का ही प्रतिफल है कि इन्द्र उससे जूझने के पूर्व सोमपान से अपने को उन्मत्त बना लेते हैं। सोम का पुनः पान कराने के पूर्व ऋषि (भारद्वाज) बड़ी प्रसन्नता से कहते हैं :--

> यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय रन्धयः।
>
> अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब ॥ ऋ० ६।४३।१

अतिथिग्व दिवोदास इन्द्र को शम्बर वध के लिए प्रोत्साहित करने के निमित्त स्वयं भी सोमाभिषव करते हैं, इतना ही नहीं ऋषि (भरद्वाज सुहोत्र) उसे इसी निमित्त `सुतके` (सोम से खरीदे हुए) के सम्बोधन के साथ आह्वान करता है।[2]

शम्बर की सैन्य शक्ति प्रबल है, इन्द्र अतिथिग्व दिवोदास के निमित्त उसके लाखों सैनिकों का वध करते हैं।[2] शम्बर के चरित्र में माया (दैवी माया) का दर्शन नहीं होता वह निश्चित रूप से एक ऐतिहासिक प्रतिद्वन्द्वी प्रतीत होता है, जो आर्यों के प्रतिद्वन्द्वी दासों का मुखिया एवं दास कुलितर का यशस्वी पुत्र है[3]। उसका उल्लेख अन्यत्र चुमुरि, धुनि, पिप्रु एवं वर्चिन् प्रभृति अनेक दासों के साथ होता है[4]।

---

१ ऋ० ६।३१।४ इसी सन्दर्भ में देखें - ६।४७।२ ; ८।४९।२ (देवता सोम)

२ ऋ० ६।२६।५

३ उत दासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि। अवाहन्निन्द्र शम्बरम् ॥ ऋ० ४।३०।१४

४ ऋ० ६।१८।८, ६।४७।२१

डा० सूर्यकान्त उसे किसी पार्वत्य जाति का मुखिया मानते हैं[1]। उनकी धारणा का आधार सम्भवत: उसके पर्वत निवास से है ।

वह पर्वतीय जाति का मुखिया हो अथवा नहीं इसमें सन्देह नहीं कि वह पर्वतीय लड़ाकों की भांति युद्ध-प्रिय है । अपने प्रतिद्वन्द्वी को भयभीत करने एवं छकाने में वह सिद्धहस्त है । उसके भय से अतिथिग्व दिवोदास की जल-समाधि की उत्सुकता का उल्लेख किया जा चुका है, वह इन्द्र के हाथ न पड़ सके और इन्द्र का युद्धोन्माद कम हो जाए इस उद्देश्य से लगातार ४० वर्षों तक उसका गुप्तवास[2] उसकी रणनीति कुशलता का परिचायक है ।

स्वाभाविक है अपनी सैन्य शक्ति एवं सुरक्षित दुर्गों एवं पुरों में रहते हुए उसे किसी का भय न हो । ऋग्वैदिक उल्लेखों के अनुसार उसके पुरों की संख्या सम्भवत: ९९ थी, इन्द्र प्राय: उसके ९० या ९९ पुरों को नष्ट करने वाले बताये गए हैं । एक स्थल पर उन्हें स्पष्टत: शम्बर के प्रस्तर निर्मित १०० पुरों को अतिथिग्व दिवोदास के लिए दान करते हुए बताया गया है । इन्द्र द्वारा नष्ट किये जाने वाले पर्वतों की संख्या कहीं-कहीं १०० भी बतायी गयी है, पुरों की संख्या चाहे ९९ रही हो या २०० या कुछ अधिक अथवा न्यून- वे सभी सुदृढ़ प्रस्तरों से बने थे[3] और उनमें सरलता से प्रवेश पासकना सम्भव नहीं था[4]।

रणनीति कुशल होने के साथ ही शम्बर विकट योद्धा भी था । एकबार इन्द्र के आक्रमण के समय पुर भेद में वह आहत हो जाता है फिर भी युद्ध से पराङ्मुख नहीं होता और लड़ता ही रहता है । किन्तु इन्द्र युद्धोन्माद में इतना उन्मत्त है कि उस अवस्था में भी उसे उच्चशिखर से नीचे खींच कर मार डालता है[5]।

---

१ वै० को० पृ० ९९ `दिवोदास`   २ ऋ० २।१२।११

३ ऋ० ६।२६।३ ; ७।९९।५ ; ४।३०।२० ; ४।२६।३ ; २।१४।६, १।१३०।७

४ ऋ० ६।२१।४ -`अप्रतीनि - केनोप्यप्रतिगता: पुरी:`- सायण

५ ऋ० १।१३०।७, ४।३०।१४

वृत्र के समान ही शम्बर-वध के कार्य से इन्द्र को बहुत ख्याति मिली, किन्तु जैसा कि हम आरम्भ से ही देखते रहे हैं, इन्द्र जिसके लिए युद्ध करते हैं उस चरित्र का विकास नहीं हो पाता। अतिथिग्व के चरित्र के साथ भी यही हुआ है। सम्भव है अतिथिग्व का नायकत्व, इन्द्र के अभाव में और अधिक उभरता। किन्तु इन्द्र की उपस्थिति से उपलब्ध आख्यानों में हमें पुनः बृहस्पति, अङ्गिरस एवं कुत्स प्रभृति की भाँति ही अपने प्रतिद्वन्द्वी शम्बर के समक्ष अतिथिग्व-दिवोदास का चरित्र बौना ही लगता है।

उपसंहार :-

इस विवेचना की पृष्ठभूमि में हम पाते हैं कि वृत्र अथवा अहि, शुष्ण और बल प्रभृति प्रतिद्वन्द्वी अपने स्वरूप में चाहे प्राकृतिक व्याधियों, बाधाओं का प्रतिनिधित्व करते हों अथवा वैदिक ऋषियों के यज्ञ-विनाशक अनार्यों, दासों, दस्युओं और आदिम जातियों का प्रतिनिधित्व, वे विरोधी हैं और यदि इन्द्र, मरुद्, कुत्स, प्रभृति को नायक माना जाता है तो ये उनके विरोधी होने से निश्चय ही प्रतिनायक की कोटि में आ जाते हैं। इन देव शत्रुओं के अतिरिक्त पणि, शुष्ण, यदु, तुर्वश, करञ्ज, पर्णय, धुनि, चुमुरि प्रभृति अनेक ऐसे भी चरित्र हैं जो मानवों की, अतिथिग्व, कुत्स, सुदास प्रभृति आर्यों की प्रतिद्वन्द्विता अथवा विरोध करते हुए देखे जाते हैं।

विकास की दृष्टि से प्राकृतिक बाधाओं से, आधिदैविक बाधाओं से विकसित होती हुई विरोध की यह भावना आधिभौतिक बाधाओं का रूप धारण करती हुई प्रतीत होती है। वह दैवी से मानवीय हो उठती है। किन्तु जैसा कि आरम्भ में ही कहा जा चुका है बाधा अथवा विरोध कोई सद्यः उत्पन्न तत्व नहीं है वह काल-कालान्तर से मानवमन में, दुग्ध में विद्यमान जीवनदायिनी-शक्ति के समान घुली मिली भावना है। उसका न कोई आदि है और न अन्त।

काव्यों अथवा रूपक प्रबन्धों में दृष्टिगत प्रतिनायक की [illegible]का उसी भावना का प्रतिनिधित्व करती है। जिन नायकों की चर्चा प्रकृत [illegible] में की गयी उनमें से यदि इन्द्र को ही देखें तो हम पायेंगे कि अपने प्रतिद्वन्द्वि[illegible] [illegible]भाव की स्थिति में उसका अस्तित्व शून्य है। उसकी महानता, वीरता, उस[illegible] [illegible]लता,

उसकी धर्मपरायणता, उसकी उदारता सभी तो अपने प्रतिस्पर्धियों के परिप्रेक्ष्य में ही प्रकट होती हैं ।

संस्कृत के काव्यों एवं रूपकों में प्रतिनायक का जो स्वरूप हमें देखने को मिलता है उसके परिप्रेक्ष्य में, ऋग्वेद के नायकों-प्रतिनायकों को देखते समय, हम पाते हैं कि यहां उनके मध्य स्वाभाविकता अधिक प्रखर है और कृत्रिमता का अभाव है । ऋषि `इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्` कह कर भी उसके दुर्गुणों को,व्यसनों को, उसकी धृष्टता, उद्दण्डता को, उसके चारित्रिक दोषों को, पाप भावना या वासना को, उसके उन्माद अथवा उसकी असहिष्णुता को भुलाता नहीं है । इन सभी से युक्त जो स्वरूप है वही इन्द्र है । ये दुर्गुण इन्द्र के पर्याय हैं । फिर भी इन्द्र देवता है, सभी लोकों को धारण करता है, सभी का पालक है, धर्म का अधिष्ठाता और `देवानां देव:` है । उसकी उपस्थिति के बिना न तो सोमाभिषव पूर्ण होता है न ही यज्ञ-कर्म । यह तो नायक की स्थिति है । उसके प्रतिद्वन्द्वी भी किसी दृष्टि से निर्बल नहीं हैं, अशक्त अथवा असमर्थ नहीं हैं । उनमें शक्ति है, दर्प है, छलकपट सभी कुछ है और इसी कारण उन दोनों की प्रतिद्वन्द्विता में जीवन है, स्वाभाविकता है, स्पन्दन है, गति और प्रवाह है, कोई बन्धन नहीं है, सीमाएं नहीं हैं ।

कालान्तर में चाहे काव्य हो अथवा रूपक सामाजिक, धार्मिक और नैतिक सीमाओं के कारण उस स्वाभाविकता का ह्रास होने लगा । आदर्शों को सामने रखकर जब सीमाएं बना दी गयीं तो कुछ प्रतिभाएं ही ऐसी हुईं जिन्होंने इन सीमाओं में रहते हुए भी अद्वितीय और अनुपम साहित्य दिया । जो आज भी जीवित है फिर भी उन पर सीमाओं और उन बेड़ियों के चिह्न स्थान-स्थान पर उभरे हैं । ऐसा प्रतिनायक के ही शरीर (भूमिका) पर नहीं, नायक और नायिका के शरीर पर भी स्पष्ट है । फिर भी दार्शनिक विचारधारा एवं तन्निस्यूत सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवेश में नायक के चरित्र का आदर्शवादी स्वरूप तो विकसित होता रहा किन्तु प्रति-नायक का ह्रास होता गया । यह भुला दिया गया, या भुला दिया जाने लगा कि प्रतिनायक वृत्र और अहि का वंशज कैसा हो । इसी कारण यह भी भुला दिया गया कि प्रतिनायक के माध्यम से नायक के औदात्य को उसकी धीरता, गम्भीरता को,

उसकी मर्यादा और निष्ठा को, एक उद्धत और असहिष्णु, दुष्ट और निर्मर्यादित चरित्र के माध्यम से कैसे उद्भावित किया जाए ।

इसी कारण कुछ अपवादों को छोड़कर प्राय: सभी रूपक प्रबन्धों में प्रतिस्पर्धा का अभाव देखा जा सकता है । प्रतिस्पर्धी है, प्रतिनायक है, किन्तु वह भावना नहीं है जो इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वियों में दृष्टिगोचर होती है । रावण है परन्तु उसका राक्षसत्व मर गया है, दु:शासन है परन्तु अनुशासित है, दुर्योधन है पर सुयोधन के रूप में । यह विकास का एक पक्ष है ।

दूसरा पक्ष है नायक का प्रतिनायकत्व या प्रतिनायक का नायकत्व। किरातार्जुनीयम् के अतिरिक्त सम्भवत: किसी अन्य काव्य में ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा जहां किसी मान्य प्रतिनायक को नायकत्व मिल पाता हो । (नायकत्व तो दुर्योधन के यहां (किरात में) भी नहीं मिलता परन्तु उसका स्पर्श अवश्य किया जाता है) । ऋग्वेद में हम पाते हैं कि इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता में वरुण, वरुण की प्रतिद्वन्द्विता में इन्द्र, इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता में मरुत्, अथवा मरुत् की प्रतिद्वन्द्विता में इन्द्र, इसी प्रकार इन्द्र कुत्स की प्रतिद्वन्द्विता के परिप्रेक्ष्य में नायक कुत्स का प्रतिनायकत्व सीमित होते हुए भी मुखर है । अगले अध्यायों में हम देखेंगे कि महाकवि भास ने स्पष्टरूपेण ऐसे प्रसंग उठाए हैं जहां दुर्योधन एवं कर्ण को उन्होंने नायकत्व प्रदान किया है । ऋग्वेद के इस मूल का विकास हमें वहां भी देखने को मिल जाता है जहां नायक प्रतिनायक का निर्णय कर पाना कठिन है ।

इन सब विशेषताओं के होते हुए भी इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत रूपकों की परम्परा अपने नैतिक मूल्यों और मान्य आदर्शों के लिए उस दर्शन और संस्कृति की ऋणी है जिसका उत्स वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में है । नायक की जय, प्रतिनायक की पराजय, नायक का आदर्श, अथवा आदर्शों का नायकत्व, दु:ख, खेद एवं पराभव में भी नायक का धैर्य इन अयथार्थ तत्त्वों पर भी उसी दर्शन का प्रभाव है, ये भास से लेकर हर्ष तक विकसित होते रहे और उसके बाद भी चलते रहे ।

इसी प्रकार प्रतिनायक चाहे वृत्र हो अथवा बल, अर्बुद हो अथवा

नमुचि, पिप्रु हो अथवा शुष्ण, शम्बर हो अथवा धुनि सभी का अन्त होता है ठीक उसी प्रकार जैसे रावण, दुर्योधन, दु:शासन, कर्ण, शकुनि, यहां तक कि उनके सहायक बालि, भीष्म, द्रोण प्रभृति का होता है । गर्त से निकालने के लिए कुत्स द्वारा इन्द्र से की गयी प्रार्थना में और यदु-तुर्वश द्वारा नदी पार कराने की प्रार्थना में, बालि और शकार की क्षमायाचना, पश्चात्ताप अथवा प्रायश्चित्त की भावना का मूल है । भावों का यह परिवर्तन ही उस कुत्स का अन्त है जो इन्द्र विरोधी है, यही उन यदु-तुर्वशों का अन्त है जो अतिथिग्वदिवोदास एवं सुदास का विरोध करते हैं, क्योंकि इसके बाद ही वे इन्द्र के ऋणी और दिवोदास, सुदास के मित्र हो जाते हैं । प्रकारान्तर से दिवोदास, सुदास के अन्य प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा इन्द्र के समक्ष आत्मसमर्पण में हम जामदग्न्य और रावण तथा महासेन (प्रतिज्ञा०) के आत्मसमर्पण का मूल देख सकते हैं ।

जहां तक धीरोदात्तादिनायकों का प्रश्न है, इस साहित्यशास्त्रीय-दर्शन का भी मूल इन आख्यानों में है । इन्द्र-वरुण विवाद में एक उद्धत है दूसरा उदात्त । वस्तुत: वरुण का चरित्र तो नितान्त धीरोदात्त ही है । अग्नि, बृहस्पति और अङ्गिरसों का स्वरूप भी ऐसा ही है । राजर्षि से प्रतीत होने वाले अतिथिग्व में भी ऐसा ही आभास होता है । मरुत्-इन्द्र प्रतिद्वन्द्विता में दो धीरोद्धत भूमिकाओं का संघर्ष है,जैसा कि भीम और दुर्योधन के मध्य होता है । कुत्स-इन्द्र प्रतिद्वन्द्विता में एक ओर तो इन्द्र की असहिष्णुता है तो दूसरी ओर कुत्स में किंचित् शाठित्य । अहल्या, अपाला और उषा, दीर्घजिह्वी तथा विडिस्तैंगा के साथ इन्द्र के प्रसंगों में रत्याभास का अनुमान किया जा सकता है । सारा युद्ध लड़ने के बाद भी जिस प्रकार पुरुरवा, रघु और दशरथ की अपेक्षा इन्द्र को ही अधिक यश मिलता है, उसी प्रकार अतिथिग्व, सुदास, वायु और कुत्स से शुष्ण, शम्बर तथा अन्य आर्यों अनार्यों की प्रतिद्वन्द्विता में सारा यश,सारा श्रेय इन्द्र को ही मिल जाता है । सारांश रूप में आख्यानों, आख्यायिकाओं के कथन से लेकर नायक-प्रतिनायक प्रभृति भूमिकाओं और इनके माध्यम से उत्पन्न भावों तथा अनुभूतियों तक (जिसे कालान्तर में रस के रूप में व्याख्यायित किया गया) सभी का मूल वहीं है जहां भारतीय संस्कृति का उद्गम है, जहां भारतीय जीवन के आदर्शों का मूल है, जहां भारतीय दर्शन का मूल है ।

-०-

द्वितीय अध्याय

प्रतिनायक का शास्त्रीय स्वरूप

वंश-वीर्य-श्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनं च धिनोति नः ॥

काव्यादर्श १।२२

अध्याय- दो

-o-

प्रतिनायक का शास्त्रीय स्वरूप

अध्याय २
-०-

प्रतिनायक का शास्त्रीय स्वरूप

पृष्ठभूमि :-

काव्यों और नाटकों में नायक के उत्कर्ष चित्रण की दृष्टि से प्रतिनायक की भूमिका महत्वपूर्ण स्थान रखती है[१]। वस्तुत: संस्कृत साहित्य में नायक वैदिक मर्यादाओं का प्रतिनिधि है। उसकी भूमिका एक आदर्श भूमिका है। `रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्` यह साहित्य का कान्तासम्मित उपदेश है और इसी कारण नायक-विरोधी भूमिका वस्तुत: नायक के आदर्श, मान्यताओं और विश्वासों की विरोधी भूमिका है जिसका प्रतिनिधित्व करता है- प्रतिनायक। प्रतिनायक यह शब्द वस्तुत: नायक के प्रत्येक कार्य का विरोध करने के कारण ही नायक-विरोधी चरित्र पर आरोपित है, जिसे नाट्यशास्त्रियों ने तो `नेता` इस विशेषण से भी विभूषित किया है[२]। रावण केवल सीता हरण के कारण ही राम का विरोधी नहीं है। राम तो विवाह रचाने के पूर्व ही विश्वामित्र के साथ रावण के बन्धुओं के विनाश का कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। विवाहोपरान्त उनका वनवास भी सम्भवत: कुछ ऐसी ही कूटनीति का परिणाम है। सांस्कृतिक मर्यादाओं और पौराणिक मान्यताओं को छोड़ दें तो रावण का राम से विरोध, साम्राज्य विस्तार के रूप में देखा जा सकता है।

कौरवों और पाण्डवों का युद्ध यद्यपि सत्ता संघर्ष है और राम-रावण विरोध से अधिक यथार्थ है किन्तु सांस्कृतिक परम्परायें उसे भी एक शाश्वत-विरोध के रूप में प्रस्तुत करती हैं। इस कारण वह अच्छाई और बुराई के मध्य विरोध

१(क) अथवा प्रतिपक्षस्य वर्णयित्वा गुणान् बहून्।
 तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनं च मतं क्वचित्।। -- प्रतापरुद्रीयम्

(ख) बिना प्रतिनायक चरित के चित्रण के नायक चरित का सौन्दर्य नहीं चित्रित किया जा सकता।
 -- डा० सिंह, साहित्य दर्पण, १।१२१ विमर्श

२ व्यसनी पापकृद् लुब्धो नेता स्यात् प्रतिनायक:।
 --नरसिंहकवि (नञ्जराजयशोभूषण)

का रूप ग्रहण कर लेता है और तब सदा संघर्ष गौण और सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म के मध्य सीधा संघर्ष प्रमुख हो जाता है जिसके अन्यान्य रूप परस्पर टकराते हुए दृष्टिगत होते हैं। अतः जहां विरोध न हो वहां भी राम-रावण, कृष्ण-कंस, पाण्डवों और कौरवों के मध्य विरोध के अंकुर फूट जाते हैं। अतएव आचार्य धनञ्जय ने स्पष्ट शब्दों में नायक-विरोधी भूमिका को 'रिपु' कह कर संकेतित किया है और इसी कारण रूपक-प्रबन्धों अथवा काव्यों में नायक, प्रतिनायक किसी का भी मूल्यांकन करते समय हमारे लिए सांस्कृतिक मर्यादाओं, परम्पराओं और दार्शनिक मूल्यों को पृष्ठभूमि में रखना आवश्यक है।

प्रथम अध्याय में हम कह आये हैं कि 'रिपु' का जन्म कब हुआ, इस विषय पर विचार करते हुए हम पाते हैं कि स्वार्थ, प्रतिस्पर्धा और संघर्ष की भावना आदि काल से ही मनुष्य के जीवन के साथ सम्बद्ध रही है। कभी एक शिकार पर दो व्यक्तियों के अधिकार को लेकर तो कभी स्थान अथवा अन्य कारणों से उनमें कलह, विरोध और संघर्ष होते ही रहते थे। तत्वतः प्रतिस्पर्धा और स्वार्थ, विरोध अथवा संघर्ष के मूल में और यह विरोध और प्रतिस्पर्धा ही प्रतिनायक चरित्र के मूल में निहित है, अतएव प्रतिनायक 'रिपु' है, प्रतिपक्षी है[1]।

साहित्य के उपलब्ध अवशेषों में नाटक के उद्गम के समान ही प्रति-नायक चरित्र अथवा प्रतिनायक जैसे चरित्र के प्राथमिक स्वरूप को खोजते खोजते हम ऋग्वेद की उपत्यका में आ पहुंचते हैं। चूंकि वेद नाटक नहीं हैं अतः उनमें ऐसे नायक के सम्बन्ध में कोई धारणा बनाना उचित नहीं होगा, किन्तु वेदों को पुराकथाशास्त्र अथवा काव्य[2] रूप में स्वीकार करने के बाद उसमें नायकों और तदनुसारी प्रतिनायकों का अस्तित्व तो स्वीकार किया ही जा सकता है। जैसाकि हम देख चुके हैं इन्द्र, कुत्स, बृहस्पति, प्रभृति देवों और उनमें भी इन्द्र, मरुत, प्रभृति देवों का चरित्र लौकिक नायकों जैसा है जिन्हें नायक कहना किसी भी रूप में अनुचित नहीं है। अतएव इन्द्र आदि के विरोधियों

---

१ नाट्यदर्पण : ४।१६६ वृत्तिभाग

२ 'पश्य देवस्य काव्यत्वं न ममार न जीर्यति।'--अथर्ववेद

को संस्कृत नाट्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार प्रतिनायकों की कोटि में रखना कठिन नहीं है।

इन्द्र के प्रमुख विरोधी अहि, वृत्र, पणि प्रभृति चरित्र हैं जिन्हें बार-बार मारने की तथा उन्हें मारने के कारण इन्द्र के महनीय गुणों की स्तुति से ऋग्वेद की अपार प्रशस्तियाँ सी प्रतीत होती हैं। वृष्टि को रोककर अथवा गायों को बांधकर देवों अथवा मानवों को उत्पीड़ित करने में ही प्रतिनायकों को आनन्द आता है। यह पात्र चाहे जितने काल्पनिक हों किन्तु उनका चित्रण सजीव और यथार्थ है। इन्द्र चौड़े सीने और सुन्दर बाहुओं, आकर्षक दाढ़ी और मूछों से युक्त एक गर्वीला चरित्र है जो किसी महाकाव्य अथवा नाटक के नायक के समान प्रतीत होता है। उधर उसके प्रतिद्वन्द्वी अहि, वृत्र, अर्बुद, स्वर्भानु, चुमुरि, शुष्ण, शम्बर और पणिगण महान् मायावी, दुर्गों, पुरों में रहने वाले, घातक प्रहार करने वाले शिक्षित योद्धा हैं। उनमें और संस्कृत के नाटकीय प्रतिनायकों में अन्तर केवल यही है कि वृत्र प्रभृति शत्रु वास्तविक अर्थों में `रिपु' हैं जो मृत्युशैय्या पर भी विरोध नहीं छोड़ते जबकि रूपक प्रबन्धों में अधिकांश प्रतिनायक अन्ततोगत्वा अपनी त्रुटि को स्वीकार करते हुए प्रायश्चित्त करते देखे जाते हैं।

रूपक प्रबन्धों की संरचना को दृष्टि में रखते हुए हम पाते हैं कि आधिकारिक एवं प्रासंगिक इतिवृत्त का रूपकों के अनुरूप चयन, उसमें कथा के बीज का उपन्यास, बिन्दु के रूप में उसका प्रस्फुटन, आवश्यक स्थिति में पताका एवं प्रकरी की योजना, आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति एवं फलागम के रूप में नायक के कार्यों की पाँच अवस्थाओं का निरूपण एवं मुख्य रस, व्यभिचारिभावों एवं कथातन्तुओं को एक सूत्र में बांधते हुए स्थान-स्थान पर सन्ध्यङ्गों की योजना के रूप में पञ्च-सन्धियों का प्रयोग एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। यह तत्त्व ऐसे हैं जिन्हें ध्यान में रखकर नाट्यरचना नहीं की जाती अपितु प्रत्येक रूपकप्रबन्ध में ये तत्त्व स्वत: आ जाते हैं। अत: नाट्यशास्त्र की दृष्टि से, अध्ययन एवं आलोचना की दृष्टि से, इनका महत्त्व है इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसकी विस्तृत विवेचना तो पृथक् होगी किन्तु प्रकृत प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि इन्हें देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नायक के समान ही प्रतिनायक-भूमिका का यहां भी अपना महत्त्व है और इस दृष्टि से नाट्य-

शास्त्रियों ने पर्याप्त विचार भी किया है। सन्धियों एवं सन्ध्यङ्गों के उदाहरणों को देखने से यह तथ्य सरलता से समझा जा सकता है कि उनमें ऐसे तत्त्वों की योजना का विधान है जिससे द्वन्द्व, प्रतिस्पर्धा, द्वेष, युद्ध-नियुद्ध, संघर्ष एवं बाधाओं का निरूपण अनिवार्य हो जाता है और नायक-नायिका, प्रतिनायक तथा अन्य सक्रिय सहायक भूमिकाओं के कार्यों में इनके दर्शन सरलता से हो जाते हैं।

भावों विभावों का प्रतिनायकत्व

संस्कृत रूपकों में नायक विरोध के अनेक माध्यम हैं। कहीं यह विरोध नायक-नायिका के मध्य संयोग में बाधक तत्त्वों के रूप में मिलता है तो कहीं नायक प्रतिनायक के मध्य मात्र सैद्धान्तिक संघर्ष के रूप में देखा जाता है। यह सैद्धान्तिक विरोध भी कहीं कार्यों के माध्यम से उभरता है तो कहीं मात्र सत्ता-संघर्ष में पर्यवसान पाता है। यह विरोध ही कहीं स्वभावतः दुष्ट-शकार के चरित्र के रूप में है तो कहीं शास्त्रतः परिभाषित प्रतिनायक के रूप में।

भावों अथवा भावों के मानवीयकरण के माध्यम से प्रस्तुत किए जाने वाले विरोध की विविधता विस्मयकारिणी है। राजमाता, राजमहिषी अथवा राजमहिषी की सहायिकाओं द्वारा नायक-नायिका के मध्य संयोग के उपकरणों, योजनाओं को ध्वस्त करना उसमें विघ्न उत्पन्न करना कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। शृङ्गाररसप्रधान रूपकों में अंग रूप से विप्रलम्भ-शृङ्गार की योजना किंवा अनिवार्यता—'न विना विप्रलम्भेन शृङ्गारः पुष्टिमश्नुते' की सैद्धान्तिक मान्यता का तात्पर्य यही है कि ऐसे स्थलों पर ये विप्रलम्भकारी तत्त्व भी नायक-विरोध की भूमिका निभाते हैं। नायक की वासना (मन में रति रूप में विद्यमान) प्रेमभावना के प्रतिकूल आचरण करने वाली प्रकृति और प्रकृति में विद्यमान अन्य उद्दीपन विभाव भी नायक को पीड़ा पहुंचाते हैं। यह पीड़ा जो विप्रलम्भ अथवा वियोग के रूप में अभिव्यक्ति पाती है नायक के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से, उसके चरित्र को उभारने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस भावना अथवा उसकी योजना को प्रतिनायक या प्रतिनायिका तो नहीं कहा जा सकता किन्तु चरित्र चित्रण की दृष्टि से उसकी वही उपयोगिता है जो किसी प्रतिनायक की होती है[1]। यह एक ओर तो रसनिष्पत्ति में सहायक होती है तो दूसरी ओर द्वन्द्व-अन्तर्द्वन्द्व

---

१ 'भोज का शृङ्गारप्रकाश', पृ० २४०-४२ (डा० राघवन्)।

को जन्म देती है ।

वियोग के कारणों के रूप में राजमाता अथवा राजमहिषी के कोप को हम प्रतिकूल दैव तथा शाप एवं शाप मुक्ति की तन्निमित्तक योजनाओं के साथ समान कोटि में रख सकते हैं।[1] `अभिज्ञान शाकुन्तलम्` में `दैवमस्याः प्रतिकूलंशमयितुं सोमतीर्थं गतः` के रूप में दैव की प्रतिकूलता के शमन का प्रयास किन्तु दुर्वासा के शाप के रूप में उसका प्रति-फलित हो उठना और `विक्रमोर्वशीयम्` में पुत्रलाभरूप शाप-मुक्ति के कारण पुरुरवा से उर्वशी के वियोग की सम्भावना भी ऐसी ही है । इन्हें प्रतिनायक की कोटि में तो नहीं रखा जा सकता किन्तु नायक-नायिका की रति को उद्दीप्त करने की दृष्टि से एवं इस रूप में शृङ्गारी नायक के उत्कृष्ट चित्रण की दृष्टि से इनका महत्व सन्देह से परे है । क्योंकि किसी भी रूपक प्रबन्ध में नायक के चरित्र को उभारने के लिए प्रतिनायक की भूमिका की भी उपयोगिता यही है ।

अतएव ये योजनाएं भी नायकविरोधी हैं । किन्तु जिस प्रकार जामदग्न्य, बालि, शकार एवं शर्विलक, नायक की वीरता, धीरता और औदात्य की अभिव्यक्ति कराने के उपरान्त आत्म-समर्पण कर देते हैं उसी प्रकार उपर्युक्त प्रतिकूलदैव, शाप एवं कोप का भी पर्यवसान हो जाता है । इसे ध्यान में रखते हुए हम प्रकृत प्रसंग में प्रतिनायक के केवल उस रूप को ही लेंगे जिसे नाट्यशास्त्रियों ने रिपु, पापकृत्, व्यसनी, और नायक का प्रतिपन्थी माना है ।

औद्धत्य के आधार पर प्रतिनायक के रूप

प्रतिनायक का लक्षण करते हुए नाट्यशास्त्रियों ने उसका लोभ-मोह की भावना से युक्त होना, उसका हठी होना, नायक का प्रतिपन्थी होना आदि के रूप में अनेक विशेषण गिनाए हैं जिनके आधार पर आगे विचार किया जा रहा है । किन्तु लक्ष्य रूपकग्रन्थों की दृष्टि से प्रतिनायक की सामान्य विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए इसे उसके औद्धत्य, उसकी आदर्शपरायणता एवं उसकी प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से भी अनेक रूपों में देखा जा सकता है । केवल औद्धत्य के आधार पर धीरोद्धत, अर्धधीरोद्धत एवं पूर्णोद्धत रूप में उसके तीन स्वरूप देखे जाते हैं ।

१ अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवास शापहेतुक इति पञ्चविधः`--काव्यप्रकाश,पृ० १२३

(क) (क) धीरोद्धत प्रतिनायक की विशेषता होती है ; उसकी आदर्श परायणता और कुछ निश्चित आदर्शों के कारण नायक का विरोध यथा विशाखदत्त का राक्षस, मध्यम व्यायोग का घटोत्कच, महावीरचरितम् में माल्यवान् स्वर्णशाली। इनके चरित्र में प्रतिस्पर्धा और औद्धत्य तथा धीरता का नैरन्तर्य बना रहता है। जिस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से विनय, मधुरता, त्याग, प्रिय भाषण आदि सामान्य नायक के गुण धीरोद्धत नायक के लक्षणों के विपरीत प्रतीत होते हैं फिर भी धीरोद्धत नायक को नायक माना जाता है। उसी प्रकार प्रतिनायक भी अपने सामान्य गुणों के साथ धीरोद्धत नायक के गुणों से भी युक्त होता है। इस विप्रतिपत्ति की व्याख्या यही है कि नायक के सामान्य गुण सभी नायकों में सामान्य रूप से मिलते हैं यही उनकी धीरता, उदारता है किन्तु औद्धत्य, औदात्त्य, लालित्य आदि गुण ही उन्हें एक दूसरे से पृथक् करते हैं। इसी प्रकार प्रतिनायक धीरोद्धत नायक के गुणों से युक्त होता हुआ भी अपने व्यसन, पाप, नायक-विरोध, लोभ आदि के कारण धीरोद्धत नायक से पृथक् दिखाई देता है। प्रतिनायक को मात्र उद्धत न कह कर आचार्यों द्वारा उसे धीरोद्धत कहने के पीछे संस्कृत की नाट्यपरम्परा का वह आदर्श पक्ष है जिसका अपना पृथक् महत्त्व है। इसी कारण संस्कृत के अनेक रूपकों में नायक-प्रतिनायक के मध्य स्पष्ट रेखांकन पर्याप्त कठिन है। इतना ही नहीं संस्कृत काव्यशास्त्रीय-परम्परा के अनुसार नायक का सामान्य लक्षण कहीं-कहीं प्रतिनायक के चरित्र पर पूरा पूरा घटित होता है जो आश्चर्यजनक नहीं है। मुद्राराक्षस का प्रतिनायक राक्षस एक ऐसा ही चरित्र है जो प्रतिनायक होते हुए भी अपने गुणों से चाणक्य को पराभूत करने में पूर्णत: सक्षम है।

(ख) अधीरोद्धत प्रतिनायक - स्वभाव से उग्र होते हुए भी अधीरोद्धत प्रति-नायकों में औद्धत्य उभर नहीं पाता। फिर भी प्रतिस्पर्धा और प्रतिशोध की भावना उनमें बनी रहती है, उनके आदर्श किंवा जीवन मूल्य विशंखल से होते हैं। इन प्रतिनायकों एवं धीरोद्धत प्रतिनायकों के आदर्शों के मध्य कोई सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। -- 'महावीरचरितम्' में माल्यवान्, शूर्पणखा और वेणीसंहार में अश्वत्थामा', 'पञ्चरात्रम्' में द्रोणाचार्य, भीष्म तथा प्रतिज्ञायौगन्धरायण में महासेन एवं भरत रोहक की भूमिकाएं ऐसी ही हैं।

(ग) पूर्णोद्धत प्रतिनायक के चरित्र में कदाचित् आदर्शहीनता के भी दर्शन होते ही हैं किन्तु वह

पूर्णत: उद्धत, दुर्व्यसनी, पापी और महान् शक्तिशाली होता है । रावण, दुर्योधन (आमदगिन,) उसके सहायक दु:शासन, शकुनि, प्रभृति तथा ऐसे कुछ अन्य पौराणिक प्रतिनायक भिन्न-भिन्न रूपकों में भिन्न-भिन्न रूप में पुनरंकित प्रतिनायकों के रूप में दिखाई पड़ते हैं ।

(घ) औद्धत्य एवं आदर्शहीन प्रतिनायक - आदर्श ही नहीं औद्धत्य की दृष्टि से भी पिछड़ा हुआ एक अन्य प्रतिनायक है । जिसे शारिपुत्रप्रकरण में 'दुष्ट' अथवा मृच्छकटिकम् में शकार के रूप में देखते हैं । ऐसे प्रतिनायक के पीछे कोई आदर्श नहीं है वह स्वभावत: हर अच्छाई का विरोधी है कामुक, दम्भी, मूर्ख और कायर भी है । उसके औद्धत्य में प्राण नहीं है क्रोध में वह केवल मूर्खता ही प्रदर्शित करता है, जिसका आदर्श उसके आत्मसमर्पण के बाद ही प्रकट होता है वह भी उसकी सदाशयता का उतना परिचायक नहीं है जितना कि उसकी विवशता का । उसके चरित्र में जहां हास्यास्पद तत्त्व मिलते हैं वहीं प्रतिनायकीय दृष्टि से आवश्यक तत्त्व 'नायकविरोध' की भावना अधिक प्रबल दिखाई देती है[1]।

उपलब्ध नाट्य साहित्य में भास ऐसे सबसे प्राचीन नाट्यकार हैं जिनके नाटकों में प्रतिनायक का शास्त्रीय स्वरूप मिलता है । किन्तु प्रतिनायक सम्बन्धी वाङ्मय-साक्षियों में पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित 'बलिबन्धन' तथा 'कंसवध' के उल्लेख भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है[2]। इस उल्लेख में जहां नाटकों के अस्तित्व किंवा अभिनय कला का

---

1. 'Samsthanaka' by no means is an unfamiliar compound of villain and buffoon as he appears in Western drama, well known to the COMMEDIA DELL'ARTE and sufficiently exemplified as recently as the monstreus, braggart in Samuel Backett's Waiting For Godot. The Classical Drama of India.
—Henry W. Wells, Page 159

२ ये तावदेते शोभानिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षम् बलिं बन्धयन्ति । चित्रेषु कथम् ? चित्रेष्वप्युद्गूर्णा निपातिताश्च प्रहारा दृश्यन्ते कंस कर्षण्यश्च । ग्रन्थिकेषु कथं यत्र शब्दगडुमात्रं लक्ष्यते तेऽपि हि तेषामुत्पत्ति प्रभृत्याविनाशा-दृद्धीर्व्याचक्षाणा: सतो बुद्धिविषयान् प्रकाशयन्ति ।आतश्च सतो व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते: केचित् कृष्णभक्ता भवन्ति केचिद् वासुदेवभक्ता: । वर्णान्यत्वं खल्वपि पुष्यन्ति केचित्कालमुखा भवन्ति, केचिद् रक्तमुखा: । महाभाष्य -३।१।२

परिचय मिलता है वहीं बलि तथा कंस जैसे दो नायक विरोधियों के चरित्रों के आंगिक, वाचिक एवं आहार्य तीनों प्रकार के अभिनय की प्राचीनता पर भी प्रकाश पड़ता है। इतना ही नहीं नाट्य-साहित्य की प्राचीनता[1] के सन्दर्भ में भी इसका महत्व है।

पतञ्जलि के कथन में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य जो उभरता है वह है पात्रों का युद्ध-नियुद्ध। रंगमञ्च पर दर्शकों के समक्ष युद्ध-नियुद्ध भरत मुनि द्वारा पूर्णतः निषिद्ध था[2]। किन्तु पतंजलि के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि उनके समय नाटक का स्वरूप जो भी रहा हो इनका प्रदर्शन निषिद्ध नहीं था। ग्रन्थिकों के सन्दर्भ में विवाद जो लूडर्स व कीथ[3] के मध्य है उसे छोड़ दें और कृष्ण व कंस भक्ति को सामाजिक के संदर्भ में न भी मानें तो भी यह तो निस्सन्देह स्वीकार किया जा सकता है कि रङ्गमञ्च पर इस प्रकार के वध एवं बन्धन सामाजिक के मन में रस निष्पत्ति करने में समर्थ रहे होंगे।

खण्डित रूप में उपलब्ध 'शारिपुत्र प्रकरण' को छोड़कर देखें तो भास के नाटकों से ही प्रतिनायक चरित्र का पर्याप्त विकसित स्वरूप दृष्टिगत होने लगता है किन्तु लक्ष्य नाटकों के प्रतिनायकों की चर्चा के पूर्व प्रतिनायक की भूमिका के इस अभिनय पक्ष पर दृष्टिपात करते हुए हमारा ध्यान उसके नाट्यशास्त्रीय स्वरूप पर स्वतः चला जाता है जहां हम पाते हैं कि सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रतिनायक की भूमिका को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। भरत ने यद्यपि 'प्रतिनायक' का कोई लक्षण नहीं किया है किन्तु

----

१ 'यदि पतंजलि के रचना-काल में वास्तविक नाटक का अस्तित्व नहीं था तो यह कहना संगत है कि उनके थोड़े ही समय बाद उसके विकास का न होना आश्चर्य की बात होगी।' -- संस्कृत नाटक- कीथ (अनुवादक डा० उदय भानुसिंह) पृ० ३६

२ युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनं चैव।
प्रत्यक्षाणि तु नाङ्के, प्रवेशकैः संविधेयानि ।। भरत १८।३८
यत्र तु वधेप्सितानां वधो ह्युदग्रो भवेद्धि पुरुषाणाम्।
किञ्चिद् व्याजं कृत्वा तेषां युद्धं शमयितव्यम् ।। भरत १८।८२

३ संस्कृत नाटक, पृ० २६ ।

अप्रत्यक्षरूपेण ऐसी कथावस्तु आदि का विधान किया है जिससे प्रतिनायक सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण का परिचय सरलता से मिल जाता है। कालान्तर में नाट्यशास्त्रियों ने उसका लक्षण करते हुए उसके सम्बन्ध में कुछ अधिक मुखरता प्रदर्शित की किन्तु निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि इतना होने पर भी प्रतिनायक की भूमिका को उतना महत्त्व नहीं मिला जितनी अपेक्षा की जा सकती है।

भरत का नाट्यशास्त्र एवं प्रतिनायक

भरत मुनि नाट्यशास्त्र के ३४वें अध्याय में जहां नायक-नायिका, तथा अन्य सहाय भूमिकाओं जैसे विदूषक, विट, शकार आदि का लक्षण करते हैं, प्रतिनायक का किंचित भी उल्लेख नहीं करते। किन्तु इसी आधार पर यह धारणा बना लेना न्याय-संगत न होगा कि उन्होंने प्रतिनायक जैसी भूमिका को स्वीकार ही नहीं किया है।

पञ्चमवेद नाट्य के सम्बन्ध में भरतमुनि ने अति व्यापक दृष्टि दी है। उन्होंने रूपकप्रबन्धों की नानाभावोपसम्पन्नता के परिप्रेक्ष्य में उसमें धर्म, अर्थ और काम के अतिरिक्त, हास्य, युद्ध एवं वध का भी दर्शन किया है :--

क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः।। भरत: १।१०८[1]

अतः द्वन्द्व, संघर्ष एवं प्रतिस्पर्धा के माध्यम से नायक का विरोध करने वाली भूमिका को भरत भूल गए हों ऐसा नहीं कहा जा सकता। कारण जो भी रहा हो किन्तु शकार का लक्षण[1] उसकी भाषा, उसके कुल, गुण, कर्म एवं स्वभाव अर्थात् प्रकृति पर व्यापक चर्चा करते हुए[2] भी भरत प्रतिनायक के सम्बन्ध में मौन है। उन्होंने प्रतिनायक और शकार को एक में मिलाकर देखा हो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि शकार अपने गुणों और कर्मों के परिप्रेक्ष्य में प्रतिनायक तो हो सकता है

---

१ भरत ३।७८

२ भरत १२।१४८-५० (शकार की गति), भरत १७।५०(शकार की भाषा), भरत ३४।१५ (शकार की प्रकृति)।

किन्तु विभिन्न रूपक प्रबन्धों में भरत ने जिस प्रकार की कथावस्तु भावों और क्रियाओं की अनिवार्यता का विधान किया है उसका निष्पादन शकार के माध्यम से असम्भव है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम ऐसे रूपकों के लक्षण देखने होंगे जिनमें वे तत्व मिल जाते हैं जिससे भरत द्वारा शकार के अतिरिक्त किसी ऐसी भूमिका के विधान का अनुमान किया जा सकता है और जो उत्तरकालीन नाट्यशास्त्रियों द्वारा उल्लिखित प्रतिनायक के लक्षण का मार्ग प्रशस्त करती है।

'ईहामृग', 'समवकार', 'डिम' एवं 'व्यायोग' रूपक भेदों का लक्षण करते हुए भरत मुनि ने स्पष्टतया इनमें युद्ध नियुद्ध से सम्बन्धित कथावस्तु के ग्रन्थन तथा देव, दानव, राक्षस आदि पात्रों की योजना का विधान किया है[1]।

ईहामृग का लक्षण करते हुए भरत मुनि कहते हैं :--

दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगत: युद्ध: ।
सुविहितवस्तुनिबद्धो विप्रत्ययकारकश्चैव ॥
उद्धतपुरुषप्राय: स्त्रीरोषग्रथित: काव्यबन्ध: ।
संक्षोभविद्रवकृत: संफेटकृतस्तथा चैव ॥
स्त्रीभेदनापहरणावमर्दनं प्राप्तवस्तुशृङ्गार: ।
ईहामृगस्तु कार्य: चतुरङ्क विभूषितश्चैव ॥

भरत १८।१३०-८१

इतना ही नहीं वे आगे कुछ और मुखर होते हैं और एक अन्य दिशा में संकेत करते हुए कहते हैं कि ऐसी कथावस्तु के ग्रथन में यदि वध्य पात्र का प्रयोग अनिवार्य हो गया हो तो किसी न किसी व्याज से उस युद्ध का शमन कर देना चाहिए। तात्पर्य यह कि यह वध्य और वधिक का सम्बन्ध नायक और नायिका अथवा नायक व विदूषक के मध्य तो होगा नहीं निश्चित रूप से वे दोनों परस्पर विरोधी भूमिकाएं ही होंगी।

---

१ डिमसमवकारश्च व्यायोगेहामृगौ तथा। एतान्याविद्धसंज्ञानिविज्ञेयानि प्रयोक्तृभि:॥ एषां प्रयोग: कर्तव्यो देवदानवराक्षसै:॥ - भरत ३५।५५,५६

ईहामृग की कथावस्तु में संग्राम, विद्रव, संफेट, स्त्रीभेदन, अपहरण, अवमर्दन जैसे भाव व कर्मों का निबन्धन बिना प्रतिद्वन्द्वी की भूमिका के कैसे सम्भव हो सकता है ? ऐसी क्रियाओं के प्रदर्शन के निषेध आदि के आधार पर यदि उन्हें नेपथ्य में प्रस्तुत करके अथवा अन्य माध्यमों यथा विष्कम्भक आदि द्वारा सामाजिक तक संप्रेषित करने की बात मान ली जाए तो भी अप्रत्यक्षरूपेण प्रतिनायक की उपस्थिति तो माननी ही पड़ेगी ।

'डिम' रूपक भेद के सम्बन्ध में भी भरत मुनि कुछ ऐसे ही विचार व्यक्त करते हैं :--

> निर्घातोल्कापातैरुपरागेणेन्दुसूर्ययोर्युक्त : ।
> युद्धनियुद्धाधर्षणसंफेटकृतश्च कर्तव्य : ।।
> मायेन्द्रजालबहुला बहुपुस्तोत्थानयोगयुक्तश्च ।
> देवभुजगेन्द्रराक्षसयक्षपिशाचावकीर्णश्च ।।
> षोडशनायकबहुल सात्वत्यारभटिवृत्तिसम्पन्न: ।
> कार्यो डिम: प्रयत्नान्नानाश्रयभावसम्पन्न: ।। भरत १८।१३८-४०

निघात, युद्ध, नियुद्ध,आधर्षण, प्रभृति कार्य नायक के प्रतिद्वन्द्वी द्वारा ही सम्भव होंगे स्वयं नहीं । यदि ये कर्म नायक द्वारा किए जाने हों तो भी किसके विरुद्ध ? वह भूमिका किसी प्रतिद्वन्द्वी की ही होगी स्वपक्षी की नहीं । ईहामृग व डिम में जहां तक षोडश नायक की बात है वह भी अपने में कम महत्वपूर्ण नहीं है[3]। इसकी चर्चा के पूर्व समवकार एवं व्यायोग रूपक भेदों के सन्दर्भ में भरत मुनि

१-क विद्रवो देवासुर वैर निमित्तं सम्प्रहारादिकम् । ना०द० द्वितीय विवेक तथा 'भयत्रासकारिणो वस्तुनो या शङ्‌काऽपायकारकत्वसम्भावना सा द्रवति शरणीभवति इत्यनेनेति द्रव: । उपनतं भयमुद्वेग:, तत्सम्भावना तु विद्रव: ।' ना० द० प्रथम विवेक

ख- 'विद्रवो बधबन्धादि' - द० रू० १।४५

ग- शङ्काभयत्रासकृत: संभ्रमो विद्रवो मत: । सा० द० ६।१००

२-क 'संफेटो रोषभाषणम् ।' -द० रू० १।४५, सा० द० ६।१०२

ख 'संफेट वस्तुत: ऐसा उत्तर प्रत्युत्तर है जो क्रोध का अभिव्यञ्जक हुआ करता है ।' - डा० सिंह सा० द० १।१०२ पर विमर्श

३ द्रष्टव्य ; डा० राघवन् के विचार, 'भोज का शृङ्गार प्रकाश,' पृ० ४०

के प्रतिनायकीय संकेतों की चर्चा अधिक उपयुक्त होगी । समवकार[1] का लक्षण करते हुए भरत मुनि कहते हैं :--

देवासुरबीजकृत: प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव ।

त्र्यङ्कस्तथा त्रिकपट: त्रिविद्रव: स्यात्रिशृङ्गार: ।

द्वादशनायकबहुलो ह्यष्टादशनाटिकाप्रमाणश्च ।

भरत १८।११४-११५

समवकार के तीनों अंकों में भरत मुनि ने त्रिशृङ्गार, त्रिविद्रव एवं त्रिकपट के संयोजन का विधान किया है । त्रिविद्रव[2] की व्याख्या करते हुए वे स्पष्ट कहते हैं :--

युद्धजलसम्भवो वा वाय्वग्निगजेन्द्रसंभवो वापि ।

नगरोपरोधजो वा विज्ञेयोविद्रवस्त्रिविध: ।। भरत १८।१२२

इसी प्रकार उन्होंने कपट भी तीन प्रकार के गिनाए हैं जिनकी योजना उन्होंने 'समवकार' में अनिवार्य मानी है :--

वस्तु गतिक्रमविहितो दैववशाद्वा परप्रयुक्तो वा ।

सुखदु:खोत्पत्तिकृतस्त्रिविध: कपटाश्रयो ज्ञेय: ।। भरत १८।१२३

व्यायोग रूपक भेद में भरत मुनि समवकार के समान पुरुषबहुल, अल्पस्त्रीक एवं युद्ध-नियुद्ध, आघर्षण, संघर्षयुक्त कथावस्तु के ग्रथन का विधान करते हैं । भरत मुनि कहते हैं :--

व्यायोगस्तु विधिज्ञै: कार्य: प्रख्यातनायकशरीर: ।

अल्पस्त्रीकायुक्तस्त्वेकाहकृतस्तथा चैव ।।

बहवस्तत्र च पुरुषा: कार्यि: कार्या: यथासमवकारे

न च तत्प्रमाणयुक्ता: कार्या एकाङ्क एवायम् ।

न च दिव्यनायककृत:, कार्यो राजर्षिनायकनिबद्ध: ।

युद्ध-नियुद्धाघर्षण संघर्षकृतश्च कर्तव्य: ।।१८।१४२-१४४

इस एकांकी विधा में स्पष्ट रूप से पुन: भरत मुनि ने युद्ध-नियुद्ध

---

१ भरत १८।११४-११५

२ 'विद्रवन्ति त्रस्यन्ति जना अस्मादिति विद्रवोऽनर्थ: ।' --ना० द० द्वितीय विवेक

आघर्षण एवं संघर्ष के निबन्धन का विधान किया है । यद्यपि युद्ध-नियुद्ध को रंगमंच पर प्रस्तुत न करने का विधान भरत मुनि करते हैं किन्तु इसे किसी भी रूप में प्रस्तुत किया जाए, इस वस्तुस्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसमें दो परस्पर विरोधी भूमिकाओं की सत्ता का नैरन्तर्य बना रहेगा । भरत मुनि के 'दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्ध' एवं स्त्री-अपहरण की व्यवस्था बिना विरोध के कैसे सम्भव है ? इस विरोध की अभिव्यक्ति कैसे होगी रंगमंच पर ? यद्यपि नाट्य-वस्तु को रूपकों में दो प्रकार से प्रयुक्त होते देखा जाता है - एक तो वह वस्तु (कथावस्तु) अथवा घटना जो सामाजिकों को केवल सूचित कर दी जाती है, दूसरी वह जो दृश्य होती है[१]। अर्थात् 'नीरस', 'अनुचित' तथा 'विस्तृत' कथावस्तु तो विष्कम्भक, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार एवं प्रवेशक आदि के द्वारा सूचित कर दी जाती है[२]। सम्भव है दिव्य-स्त्रीकारणगत-युद्ध, अपहरण आदि अथवा डिम रूपक भेद में विहित माया, इन्द्रजाल, नियुद्ध, आघर्षण को अनुचित अथवा परित्याज्य मानकर उसका आंगिक अथवा आहार्य-अभिनय न हो पर उसकी सूचना विरोधी की चर्चा के बिना भी क्या सामाजिकों के हृदय को अभिभूत कर सकेगी । मध्यम व्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, अभिषेक, अथवा मुद्राराक्षस और वेणीसंहार (कर्ण- अश्वत्थामा के मध्य विवाद) महावीरचरितम् (तृतीय अंक) में वाग्युद्ध एवं शस्त्रास्त्रयुद्ध के अनेक स्थल आते हैं । उनमें से प्रतिनायक की भूमिका को हटाकर यदि उन क्रिया-कलापों को प्रवेशक, चूलिका और विष्कम्भक के माध्यम से ही सामाजिक तक सम्प्रेषित किया जाए तो क्या ये रूपक निर्जीव न हो जाएंगे ? फिर भी क्या प्रतिनायक की सत्ता समाप्त हो पायेगी ? दृश्य को श्रव्य बनाकर भी प्रतिनायक का आभास तो होगा ही । भास के 'ऊरुभङ्गम्' में प्रतिनायक भीम मञ्च पर नहीं आता । फिर भी यह तो ज्ञात हो ही जाता है ऊरुभङ्ग का कारण कौन है ? अत: जहां कथावस्तु युद्ध-नियुद्धात्मक एवं वधबन्धात्मक होगी वहां प्रतिनायक की सत्ता तो होगी है यह स्वीकार करना पड़ेगा ।

---

१ द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः ।
   सूच्यमेव भवेत्किञ्चिद् दृश्यश्रव्यमथापरम् ॥
   --द० रू० १।५६

२ द० रू० १।५७-५८

इस प्रकार हम भरत मुनि के नियमन-आवर्जन अर्थात् विधान और निषेध दोनों ही स्थलों पर युद्ध-नियुद्ध का उल्लेख पाते हैं। इन दोनों ही विधानों में इस प्रकार के संघर्ष को स्वीकार किया गया है जो बिना प्रतिद्वन्द्वी के सम्भव नहीं है।

जहां तक द्वादश अथवा षोडश नायक की बात है उसे स्पष्ट समझने के लिए भरत के समवकार रूपक भेद के लक्षण को देखें तो पता चलता है कि उसमें भरत मुनि तीन अंको बारह नायकों, वस्तु, स्वभाव एवं दैवादिकृत तीन कपटों, रण, पुररोध तथा अग्नि के कारण तीन बार विद्रव की योजना का विधान करते हैं। इस प्रकार के रूपक में हम जिस संघर्ष की सहज कल्पना कर लेते हैं उसी सन्दर्भ में बारह नायकों की योजना कुछ कुतूहलकारिणी है। डिम और ईहामृग में तो वे चार अंको और सोलह नायकों की योजना का विधान करते हैं[1]। यह शास्त्रीय शैली भरत मुनि ने ही नहीं उत्तरवर्ती अन्य आचार्यों ने भी अपनायी है। इस गुत्थी के सम्बन्ध में आचार्य अभिनव-गुप्त का मत अत्यन्त महत्वपूर्ण है वे 'समवकार' के भरतमुनि-कृत लक्षण की व्याख्या करते हुए कहते हैं :--

'द्वादश-नायक-बहुल इति प्रत्यंकमिति केचित्। अन्ये तु नायक-प्रतिनायकौ तत्सहायौ चेति चतुराहुः, समुदायापेक्षया हि द्वादशेति।'

यहां आचार्य अभिनवगुप्त ने दो मतों का उल्लेख किया है। प्रथम मत तो 'मघवामूल विडौजा टीका' है। फिर भी उसका अर्थ प्रत्येक अंक में बारह पात्रों की योजना से लिया जा सकता है। दूसरे मत के अनुसार 'समवकार' में तीन अंको का विधान है। नायक + प्रतिनायक = २, उनके सहायक २ x २ = ४ और इनका तीनो अंकों में उपयुक्त करते हुए अर्थात् ४ x ३ अंक = १२ नायकों की व्याख्या समझ में आने वाली है। वस्तुतः नाट्य-शास्त्रियों ने नायक-प्रतिनायक, उनके सहायक एवं अन्य मुख्य

---

१ द्रष्टव्य, नाट्यदर्पण - २।८७ (ईहामृग का लक्षण)
दशरूपक - ३।५८, ६४
रसार्णवसुधाकर - ३।२८४-८८

पुरुष पात्रों को नायक या नेता के रूप में स्वीकार किया है[1]।

अभिनव गुप्त के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि किसी न किसी रूप में भरत मुनि प्रतिनायक की भूमिका को स्वीकार करते ही हैं। क्योंकि प्रतिनायक का महत्त्व यही है कि वह रंगमंच पर कुछ विशिष्ट भावों और कर्मों का अभिनय करने वाला नायक पहले है प्रतिनायक बाद में। अतः उसकी अनिवार्यता को अस्वीकार किया ही नहीं जा सकता।

नाटकलक्षण रत्नकोश एवं प्रतिनायक

यद्यपि आचार्य सागरनन्दी ने दशरूपककार के उपरान्त अपने ग्रन्थ 'नाटकलक्षण रत्नकोश' की रचना की है फिर भी उन्होंने भरत का अनुकरण करते हुए ही सम्भवतः प्रतिनायक का लक्षण नहीं किया है। कारण जो भी रहा हो प्रकृत स्थल पर उनके पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्रियों के मत विज्ञापन के पूर्व ही उनके उल्लेखों में प्रतिनायक के अस्तित्व को ढूंढने का कारण यही है कि वे प्रतिनायक का अभिधानतः लक्षण नहीं करते। फिर भी उनके ग्रन्थ में यत्र-तत्र ऐसे उल्लेख मिल जाते हैं जिसके आधार पर प्रतिनायक की भूमिका के महत्त्व के साथ ही उसके प्रति इस उपेक्षा के प्रमाण मिल जाते हैं।

---

१ द्रष्टव्य(क) नेतारो देवगन्धर्वयक्षराक्षसमहोरगाः ।। द० रू० ३।५७
नेतारः प्राकृताः नराः ।। द० रू० ३। ७९

(ख) मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थी नायकः प्रतिनायकः । ना०द०४।१६६ वृत्ति भाग

(ग) नेतारः प्राकृताः नरा : । सा० द० ६। २५०

(घ) नेतारः स्युः पिशाचाद्याः ------ । - नरसराज यशोभूषण
नेतारो दैत्यदैत्याद्याः ---------। - नरसराज यशोभूषण
नेतारः प्राकृता मर्त्याः ------- । - नरसराजयशोभूषण
व्यसनी पापकृद् लुब्धो नेतास्यात् प्रतिनायकः :
-- नरसराजयशोभूषण

[illegible] :- इन सभी स्थलों पर नेता या नायक 'पुरुष पात्र' का पर्याय है।

नाटक प्रसंग में पात्रों की योजना कैसे की जाए इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं :—"सन्निहितनायकाङ्‌गश्च कार्यः । ये नायकाः पूर्वं कथिताः ते तत्र सन्निहिताः कर्तव्याः । नायको नायिका नायकौ । एकः प्रधानो नायकः । अपरश्च तस्योप नायकः । हन्तव्यश्च नायकश्च[1] ।" इस प्रकार वे किसी 'हन्तव्यनायक' की सत्ता को स्वीकार करते हैं । यह नायक किसी भी रूपकप्रबन्ध का मुख्यनायक नहीं हो सकता क्योंकि नायक हनन न तो संस्कृत की नाट्यशास्त्रीय परम्परा को स्वीकार्य है और न ही भारतीय संस्कृति एवं दर्शन को । यदि ऐसा सम्भव होता तो संस्कृत-साहित्य ने निश्चय ही त्रासदी जैसी नाट्यविधा को भी जन्म दिया होता । अस्तु, इस रूप में यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि सागरनन्दी जैसे उत्तरवर्ती आचार्य भी नाटकों में प्रतिनायक का उल्लेख न करते हुए भी 'हन्तव्यश्च नायकश्च' के रूप में अप्रत्यक्षतः उसके अस्तित्व और महत्व को स्वीकार करते हैं ।

भरत एवं सागरनन्दी जैसे नाट्यशास्त्रियों के अतिरिक्त आचार्यदण्डी, आनन्दवर्धन एवं मम्मट प्रभृति साहित्यशास्त्रियों ने भी नायकप्रतिपक्ष के महत्व को स्वीकार किया है । आचार्यदण्डी तो ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने नायकप्रतिपक्ष को रिपु कहते हुए उसे नायकचरित के उत्कर्ष-चित्रण का एक महत्वपूर्ण साधन माना है । वे कहते हैं :—

वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः ।। काव्यादर्श 1/22

अर्थात् नायक की महानता को बताने के लिए उसके रिपु अर्थात् उसकी प्रतिस्पर्धी अथवा प्रतिपक्षी भूमिका के पराक्रम, यश, प्रतिष्ठा का उल्लेख करते हुए नायक द्वारा उसकी पराजय का वर्णन निश्चय ही एक हृदयावर्जक विधा हो सकती है । मुद्राराक्षस की सफलता के मूल में इस माध्यम को स्पष्टरूप से देखा जा सकता है ।

विरोधीरसों की चर्चा करते हुए आनन्दवर्धन ने विधान किया है कि जब दो विरोधीरसों का एक स्थान पर आयोजन करना हो तो अङ्‌गीरस को तो मुख्य नायक के सन्दर्भ में निष्पन्न होता हुआ प्रदर्शित किया जाए तथा विरोधीरस को नायक विपक्ष से सम्बद्ध किया जाए । उदाहरण के रूप में यदि वीररस के साथ भयानकरस की निष्पत्ति अपेक्षित है तो वीररस को कथा के नायक से एवं भयानकरस को नायक की

1- अधिकृतनायकवधं प्रवेशकादिनापि न सूचयेत् | द० रू० 3/36 इतिभाग

प्रतिपक्षी (प्रतिनायक) भूमिका से सम्बन्धित होना चाहिए, वे कहते हैं :-

'तत्र प्रबन्धस्थेन स्थायिनाङ्गिना रसेनौचित्यापेक्षाया विरुद्धैकाश्रयो यो विरोधी यथा वीरेण भयानक: स विभिन्नाश्रय: कार्य: । तस्य वीरस्य च आश्रय: कथानायकस्तद्विपक्षविषये सन्निवेशयितव्य: ।' (ध्वन्यालोक ३।२५ वृत्तिभाग)

इसी प्रकार करुणरस के सन्दर्भ में भी आनन्दवर्धन कहते हैं कि 'अभिनन्दनीय उत्कर्ष वाले नायक के प्रभावातिशय के प्रदर्शन के अवसर पर नायक-प्रतिपक्ष से सम्बन्धित करुणरस प्रेक्षकों के वैक्लव्य का कारण न होकर परमानन्द का कारण बनता है[1] क्योंकि उससे नायक-गतरस एवं नायक का ही उत्कर्ष तथा नायक-विरोधी के अपकर्ष का विज्ञापन होता है । इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत आदि कुछ नाट्यशास्त्रियों के साथ ही काव्यशास्त्रियों ने भी प्रतिनायक का प्रत्यक्षत: उल्लेख न करते हुए भी तद्गतरस प्रभृति विषयों पर विचार करते हुए उसकी भूमिका के महत्त्व को स्वीकार किया है ।

दशरूपक एवं प्रतिनायक

प्रतिनायक का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष उल्लेख करने वाले इन आचार्यों के उपरान्त रूपकों के प्रसंग में प्रत्यक्षरूपेण प्रतिनायक की भूमिका का उल्लेख एवं लक्षण करने वाले आचार्यों में दशरूपककार आचार्य धनञ्जय एवं धनिक का उल्लेख आवश्यक है क्योंकि प्राय: सभी परवर्ती नाट्यशास्त्रियों ने उन्हीं के लक्षण का अनुसरण किया है । प्रतिनायक, जिसे दशरूपककार ने भी नायक के रिपु की संज्ञा दी है, उसका लक्षण करते हुए वे कहते हैं :--

'लुब्धः धीरोद्धतस्तब्धः पापकृद् व्यसनी रिपुः । -- द० रू० २।६

इस लक्षण की व्याख्या करते हुए वृत्ति भाग में कहा गया है 'तस्य नायकस्य इत्थम्भूत: प्रतिपक्षनायको भवति यथा रामयुधिष्ठिरयो: रावण-दुर्योधनौ ।'

---

१ किञ्च, नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित् प्रभावातिशयवर्णने तत्प्रतिपक्षाणां य: करुणो रस: स परीक्षकाणां न वैक्लव्यमादधाति प्रत्युत प्रीत्यतिशयनिमित्ततां प्रतिपद्यते । -- ध्वन्यालोक ३।२० वृत्तिभाग

मूल एवं वृत्ति दोनों में ही यहां दशरूपककार प्रतिनायक का नामतः ग्रहण नहीं करते किन्तु इस लक्षणविषयोल्लेख में तथा आगे ईहामृग[1] रूपक भेद के लक्षण प्रसंग में वे इस शब्द से अपना परिचय देते हैं। इस आधार पर कम से कम यह तो कहा ही जा सकता है कि दशरूपककार ऐसे प्रथम नाट्यशास्त्री हैं जो नायक-विरोधी भूमिका का लक्षण करते हैं। वस्तुतः नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से इसे नायक प्रतिद्वन्द्वी भूमिका का सबसे प्राचीन एवं सबसे अर्वाचीन मत माना जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी क्योंकि आगे की सारी परम्परा प्रायः शब्दान्तर से इसी लक्षण को दुहराती है। ऐसा नहीं है कि किसी परवर्ती आचार्य ने मौलिक बात न कही हो, किन्तु उन पर भी दशरूपक का स्पष्ट प्रभाव है ऐसा कहा जा सकता है।

प्रतिनायकलक्षण में उपात्त, लुब्ध, स्तब्ध, पापकृद्, व्यसनी एवं रिपु इन विशेषणों के अतिरिक्त धीरोद्धत यह विशेषण अधिक पारिभाषिक है। जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है कि इस विशेषण को अधिकांश आचार्यों ने इसी रूप में ग्रहण कर लिया है, अतः उसके सम्बन्ध में दशरूपककार की मान्यता स्पष्टरूपेण समझ लेनी अधिक उचित होगी। नायक भेद के प्रसंग में धीरोद्धत नायक का लक्षण करते हुए कहा गया है :--

दर्पमात्सर्य-भूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः।।--द० रू० २।५-६

दर्प अर्थात् शौर्यादिजन्य मद, तथा मात्सर्य = असहनशीलता माया अर्थात् मन्त्रबल से अविद्यमान वस्तु का प्रकाशन, छद्म अर्थात् वंचना, चल अर्थात् अनवस्थितचित्त, चण्ड = रौद्र स्वभाव एवं विकत्थन अर्थात् आत्म-गुणों का बखान, इन गुणों से युक्त नायक धीरोद्धत होता है[1]।

पहले हम देख चुके हैं अधिकांश दैत्यों के चरित्र धीरोद्धत हैं। भरतमुनि ने स्पष्ट रूप से 'दैत्याः धीरोद्धताः ज्ञेयाः' कहकर दैत्यों को धीरोद्धत का पर्याय बना दिया है। संस्कृत रूपकों का प्रतिनायक ऊपर प्रतिनायक के लक्षण में गिनाए गए

---

१ द० रू० २।५-६ वृत्तिभाग

गुणों के परिप्रेक्ष्य में लोभी, उच्छृङ्खल अथवा हठी[1] पापवृत्ति वाला तथा व्यसनी होने के साथ ही धीरोद्धत भी होता है अत: वह धीरोद्धतनायक के इन गुणों से भी संपृक्त हो जाता है। इस रूप में रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका धीरोद्धतनायक से भी अधिक उद्धत होनी चाहिए। यदि लक्ष्य रूप में संस्कृत के रूपकों पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो इतनी उद्धत भूमिका कुछ रूपकों के प्रतिनायकों के अतिरिक्त शकार की भी है। किन्तु शकार उद्धत कम उद्दण्ड अधिक है। उसमें औद्धत्य के अभाव से तात्पर्य उसके चरित्र में वीरता एवं उग्रता की न्यूनता से है।

दशरूपककार कृत लक्षण का महत्त्व इस दृष्टि से और भी अधिक है कि वे प्रतिनायक को स्पष्ट रूप से `रिपु` की संज्ञा देते हैं। `महावीरचरितम्` में राम यद्यपि रावण के गुणों के प्रशंसक हैं किन्तु कहते हैं-`कामं शत्रुरिति बध्य: स्यात्` उनके इस कथन से दशरूपककार की ही धारणा का समर्थन होता है। किन्तु यदि थोड़ा व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो यह कहना अनुचित न होगा कि दशरूपककार ने इस लक्षण के माध्यम से शकार को भी प्रतिनायकत्व प्रदान कर दिया है। सम्भवत: इसी कारण वे भरत की भाँति शकार की भूमिका के सम्बन्ध में अधिक मुखर नहीं हैं और शकार की गणना अन्त:पुर सहायकों के साथ करते हुए वे उसे अन्त:पुर तक ही सीमित रखना चाहते हैं[2] वे इतना ही नहीं वे उसे `राज्ञ: स्यालो हीनजाति:` कह कर भी ऐसा ही संकेत करते हैं। किन्तु मृच्छकटिकम् में शकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए तथा अपूर्ण-चारुदत्तम् एवं उसके भी पूर्ववर्ती शारद्वतीप्रकरण की खण्डित पाण्डुलिपि में दुष्ट-शकार की भूमिका की कल्पना करते हुए दशरूपककार की इस उपेक्षा का एकमात्र कारण यही

---

१ वामन शिव आप्टे ने --(स्तम्भ् कर्मणि कर्तरि वा क्त) के रूप में `स्तब्ध` के कठोर, ढीठ, कठोरहृदय, निष्ठुर अथवा उच्छृङ्खल अर्थ किए हैं देखें संस्कृत- हिन्दी शब्दकोश तथा स्तम्भ् + क्त = स्तब्ध: = हठी देखें संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ-तारिणीश झा)

२ अन्त:पुरे वर्षवरा किराता: मूकवामना: ।
म्लेच्छाभीर-शकाराद्या: स्वस्वकार्योपयोगिन: ।।

--द० रू० २।४४-४५

प्रतीत होता है कि वे शकार की ऐसी भूमिका को 'रिपु' की इस भूमिका में ही सन्निहित मानते हैं ।

इस सारी विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिनायक की भूमिका वस्तुत: अपने में धीरोद्धत-नायक के सारे गुण अन्तर्निहित करके कुछ ऐसे गुणों से भी युक्त होती है जिससे नायक की प्रतिद्वन्द्विता को प्राण मिलता है । उसके आधार पर रूपक की कथावस्तु में भावद्वन्द्व एवं बाह्य-संघर्ष दोनों की अभिव्यक्ति में सजीवता आती है ।

भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में प्रतिनायक लक्षण में गृहीत 'धीरोद्धत' शब्द से दो महत्वपूर्ण संकेत ग्रहण किए जा सकते हैं एक तो यह कि प्रतिनायक में औद्धत्य के साथ-साथ धीरता गम्भीरता का भी सन्निवेश होना चाहिए । दूसरा यह कि उसमें धीरोद्धत नायक के अन्य गुण भी होने चाहिए । वस्तुत: इन दोनों संकेतों के परिप्रेक्ष्य में ही नाट्यशास्त्रियों ने प्रतिनायक के रूप में भी एक आदर्श भूमिका की परिकल्पना की है । रूपकों में नाटककारों ने जिन चरित्रों को प्रतिनायक के रूप में उपस्थापित किया है वे सभी आदर्श-परायण हैं, मर्यादा-परायण हैं । एक क्षण उनके जीवन में ऐसा भी आता है जब वे गम्भीरतापूर्वक अपने दुष्कर्मों का प्रायश्चित करते हैं और स्वयं ग्लानि का अनुभव करते हैं । यही आदर्श परायणता उन्हें पाश्चात्य खलनायकों से पृथक् करती है और यह मर्यादा ही उन्हें औद्धत्य के साथ-साथ धीरता की स्थापना का सम्बल देती है और उनकी भूमिका को गौरव प्रदान करती है । यही कारण है राम की दृष्टि में न तो रावण ही निन्दनीय है और न तो बाली । दोनों में ही ऐसे गुण हैं जो राम की स्पृहा के विषय हो सकते हैं ।

<u>अभिनवगुप्त (अभिनवभारती) एवं प्रतिनायक</u>

आचार्य अभिनवगुप्तनेयद्यपि स्वतंत्र रूप से किसी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया है किन्तु भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार होने के कारण उनके विचार स्वयं में नाट्यशास्त्र से कम महत्वपूर्ण नहीं है । एक स्थल पर वे कहते हैं :--

'धीरोदात्तधीरललित-धीरप्रशान्तानां पुणैर्विपर्यस्तत्वेन नायकानाम्

अतादृगुपायाश्रयेण प्रतिनायकानां च चरितं सफलत्वाफलत्वेन साक्षात्क्रियमाणम्
धीरोद्धताभ्यां धीरशृङ्गार-हास्यैः, वीर-रौद्रभयानक-करुणैः धीरबीभत्सशान्तैश्च
प्रतिनायकगतरसान्तरसान्तरतया आतिशय्यचमत्कारगोचरीभूतैर्हृदयानुप्रवेशं विदधद् धर्मादि-
चतुष्कोपायोपादेयधियमधर्मादिभ्यश्च निवृत्तिं निर्विशङ्कं विदध इत्यस्माकं अधिगत-
श्रुतितत्त्वानामपि प्रत्यक्षा सिद्धैवेत् ॥'

भरत १।४ पर अभिनवभारती

उपर्युक्त कथन के आधार पर प्रतिनायक के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :--

(अ) प्रतिनायकचरित का धीरोदात्त, धीरललित एवं धीरप्रशान्त नायकों से असदृश होना ।

(ब) नायक की सफलता एवं प्रतिनायक की असफलता ।

(स) धीरोद्धतनायक के चरित से प्रतिनायक चरित के असादृश्य की बात न कहकर तद्गुणयुक्त प्रतिनायक भूमिका की स्थापना ।

(द) तथा नायकगत-रस के विरोधी रसों के सन्दर्भ में प्रतिनायक का अस्तित्व ।

तात्पर्य यह कि आचार्य अभिनव-गुप्त भी प्रतिनायक में धीरोद्धत नायक के गुणों की अनिवार्यता को सिद्धान्त रूप में स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि प्रतिनायक का महत्व यह भी है कि वह नायक के सन्दर्भ में निष्पन्न भाव रस के विरोधी रस का आश्रय होकर श्रोता अथवा दर्शक को प्रभावित करे ।

नाटक-लक्षण-प्रसंग में जहां भरतमुनि उसमें नानाविभूति, ऋद्धि, विलास आदि की योजना का विधान करते हुए कहते हैं :--

नानाविभूतिभिर्युक्तमृद्धिविलासादिभिर्गुणैश्चैव ।

अङ्क-प्रवेशकाढ्यं भवति हि तन्नाटकं नाम ॥ भरत १८।११

यहां अभिनवगुप्त उक्त 'गुणों' से प्रतिनायकगत अप्रधानभूत उन चेष्टाओं का संकेत ग्रहण करते हैं जिनके माध्यम से प्रतिनायकगत-रस के संदर्भ में रसाभास अथवा भावाभास की स्थिति उत्पन्न होती है । वे कहते हैं :--'गुणैरिति

रिल्यप्रधानभूतानि वेष्टितानि हेयानि प्रतिनायकगतानि अपायप्रधानानि ' इस कथन द्वारा
भी प्रतिनायक के सम्बन्ध में इस धारणा की पुष्टि होती है कि नायिका-विषयक
उसकी रति के माध्यम से उसे एक पापकारी चरित्र ही होना चाहिए । इसी विषय
का समर्थन करते हुए वे पुन: कहते हैं, 'नानाप्रकारावस्थौ प्रतिनायकगतौ चरितसम्भोगा-
वनुपादेयावविषये वेति हेयावस्थौ नायकगतौ त तद्वैपरीत्यादुपादेयावस्थाविति तु
शब्दस्यार्थ: ' (भरत १८।१६ पर अभिनव०) । यहाँ उपादेय एवं अनुपादेय अवस्थाओं
का तात्पर्य वही है जो ऊपर कहा जा चुका है । इन उल्लेखों के आधार पर यह
अनुमान करना कठिन नहीं है कि अभिनवगुप्त भी प्रतिनायक को धीरोद्धतनायक के गुणों
से युक्त तथा अन्य व्यसनों एवं पाप में प्रवृत्तभूमिका का प्रतिनिधि मानते हैं ।

अध्याय के आरम्भ में भरतमुनि की प्रतिनायक सम्बन्धी धारणा
पर प्रकाश डालते समय यह बताया जा चुका है कि अभिनवगुप्त 'तत्सहायौ च' के रूप
में 'समवकार' एवं 'डिम' तथा तदनुसार 'ईहामृग' रूपक भेदों में प्रतिनायक के अतिरिक्त
उसके सहायक का भी उल्लेख करते हैं । यह विचार उन्होंने भरत के तत्तत रूपकों के
लक्षण प्रसंग में दिये हैं, अत: भरत जो प्रतिनायक का अभिधानत: लक्षण नहीं करते वे
इस भेद से असहमत हो सकते हैं किन्तु अभिनवगुप्त नि:संदिग्ध रूप से प्रतिनायक एवं उसके
सहायक उपप्रतिनायक का अस्तित्व स्वीकारते हुए उसकी भूमिका को इस दृष्टि से भी
महत्वपूर्ण मानते हैं ऐसा कहा जा सकता है । इतना ही नहीं आगे चलकर शृङ्गार-
प्रकाशकार के प्रतिनायक सम्बन्धी विचारों में यदि अभिनवगुप्त की इस धारणा का
विकास देखा जाए तो कुछ अनुचित न होगा । (देखें, द्वितीय-फलक पृ०२०३)

शृङ्गारप्रकाशकार एवं प्रतिनायक

प्रतिनायक के शास्त्रीय स्वरूप के सम्बन्ध में शृङ्गारप्रकाशकार
सर्वाधिक मुखर आचार्य हैं । शृङ्गारसम्बन्धी अपनी धारणा के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने
नायकों के अनेक विभाजन किए हैं जिनके भेदक धर्मों के रूप में उन्होंने गुण, प्रकृति,
प्रवृत्ति, परिग्रह को ग्रहण किया है । 'धर्मो हि नाम नायकव्यपदेशहेतुरिन्द्रियाविकार-
कारणं चित्तधर्म: । येन सतां सत्यपि मर्यादिषेतौ गुणसमूहेनोत्सेकादयो जायन्ते' के

रूप में उन्होंने धीरता को ऐकान्तिक गुण के रूप में स्वीकार करते हुए धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त चार प्रकार के मुख्य भेद माने हैं तथा उपर्युक्त भेदक धर्मों के आधार पर भी अन्य नाना भेदोपभेद किए हैं ।

प्रस्तुत संदर्भ में, उनके धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष शृङ्गार के चारों भेदों में मोक्षशृङ्गार सम्बन्धी व्याख्यान के अवसर पर (२१ वें अध्याय में) वे स्पष्ट रूप से प्रतिनायक का उल्लेख करते हैं । प्रतिनायक ही नहीं उस अवसर पर उनका नायक विभाजन भी रूपकग्रन्थों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । वे कहते हैं :- `सोऽयं धर्मशृङ्गाराधिकारभेदात् नायकश्चतुर्धा, धीरोदात्तो धीरोद्धतो धीरललितो धीरप्रशान्तश्चेति । अथैषां प्रत्येकमपि चतुर्धा भिद्यते । नायक उपनायकोऽनुनायकप्रतिनायक इति ।` अर्थात् रूपकग्रन्थों में नायक, उपनायक, अनुनायक एवं प्रतिनायक के रूप में चार प्रकार की पुरुषों की मुख्य-भूमिकाएं होती हैं । धीरोदात्तादि भेद से उनके भी चार-चार भेद होने से इनकी कुल संख्या सोलह हो जाती है[1] । (डॉ. वे. प्रथम फलक पृ०१०१)

प्रतिनायक-प्रतिनायिका के मौलिक भेद

शृङ्गारप्रकाशकार का यह विभाजन उनके नायिकाओं के विभाजन को भी प्रभावित करता है और वह प्रस्तुत संदर्भ में अत्यन्त उपयोगी है । वे कहते हैं :- `सापि नायकवच्चतुर्विधा । उदात्ता, उद्धता, ललिता शान्ता च । धैर्यमासामविधिरसमधीराणाम् । ता अपि प्रत्येकं पुनश्चतुर्धा । नायिका, उपनायिका, अनुनायिका प्रतिनायिका च ` अर्थात् स्त्रियों के अधीर स्वभाव को ध्यान में रखते हुए नायिकाओं को धीरोदत्ता आदि के रूप में न मानते हुए केवल उदात्ता, उद्धता, ललिता तथा शान्ता के

1.' the classification of characters into- Hero, Anti-Hero, Sub Hero etc, Nayaka, Pratinayaka, Upnayaka and Anunayaka. Illustrations of these four multiplied by the four old types of Dhirodatta etc which gives 16 varieties in all. '

- Dr. Raghavan,
BHOJA'S SHRINGARAPRAKASHA
Page 40

रूप में रखकर, नायकों के भेदों की भांति उनको भी मुख्यनायिका, उपनायिका, अनुनायिका एवं प्रतिनायिका के रूप में चतुर्धा विभक्त करके उनके सोलह भेद मानने चाहिए (देखें : प्रथम फलक) । शृङ्गारप्रकाशकार के इन सोलह नायकों एवं सोलह नायिकाओं में प्रतिनायक एवं प्रतिनायिका के चार-चार भेद हो जाते हैं । इस विभाजन के माध्यम से शृङ्गारप्रकाशकार ने प्रतिनायक की भूमिका को जो महत्त्व प्रदान किया है वह मौलिक भी है और विचारसापेक्ष भी । विचारसापेक्ष इसलिए कि एक ओर वे नायक के रूप में प्रतिनायक की गणना करते हुए उसे उदात्त, उद्धत, ललित एवं प्रशान्त मानते हैं, दूसरी ओर प्रतिनायक का लक्षण करते हुए कहते हैं --

`नायकप्रतिकूलवृत्तिः तदुच्छेदावहः प्रतापाभिमानार्थशाक्यादिगुणोत्कर्षी धीरोद्धतः प्रतिनायकः`[1]

अर्थात् नायक के प्रतिकूल आचरण करने वाला, नायकोच्छेद में लग्न, प्रताप, अभिमान और साहस आदि गुणों से युक्त एवं धीरोद्धत स्वभाव वाला नायक प्रतिनायक होता है । यहां यह ध्यान देने योग्य है कि प्रतिनायक का यह लक्षण नायक,[2] उपनायक,[3] अनुनायक[4] इन नायकों का वर्गीकरण करते समय दिया गया है न कि धीरोदात्तादि के आधार पर इन सभी के प्रभेद करते हुए । अतः प्रतिनायक के रूप में शृंगारप्रकाशकार का विभाजन किंचित् चिन्त्य प्रतीत होता है क्योंकि इस रूप में धीरोद्धत यह `पद` पुनरुक्त हो जाता है । तथापि उससे प्रतिनायक के इस चतुर्विध विभाजन की उनकी मौलिकता में कोई अन्तर नहीं आता । दशरूपककार के प्रतिनायक-लक्षण एवं अभिनवगुप्त के `प्रासनायक बहुल ( समवकार )` एवं `भोजनायक बहुल ( डिम )` के रूप में पूर्वोक्त नायक-विभाजन के परिप्रेक्ष्य में भोजराज के इस विभाजन का महत्त्व और भी बढ़ जाता है ।

----

१ शृ० प्र० १२वां प्रकाश पृ० ७७०

२ `कथाशरीरव्यापी यथोक्तगुणयुक्तो नायकः` -- वही पृ० ७६८

३ `नायकाभ्यर्हणीयः सम उत्कृष्टो वाऽनवाप्तपद उपनायकः` वही, पृ० ७६६

४ `नायकात्किञ्चिदूनः कथाशरीरे विशेषोपयोगवान् अनुनायकः` -- वही, पृ० ७७०

(मुख्य) नायक
उपनायक
अनुनायक
प्रतिनायक
धीरोदात्त
धीरोद्धत
धीरललित
धीरप्रशान्त
नायिका विभाजन
नायिका
(मुख्या) नायिका
उपनायिका
अनुनायिका
प्रतिनायिका
उदात्ता
उद्धता
ललिता
प्रशान्ता
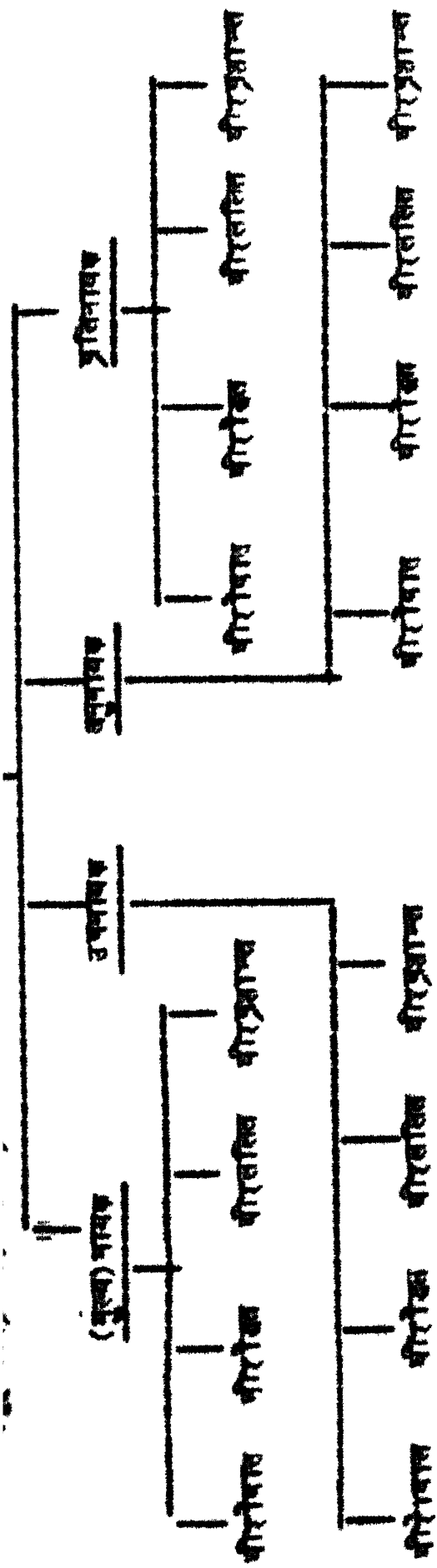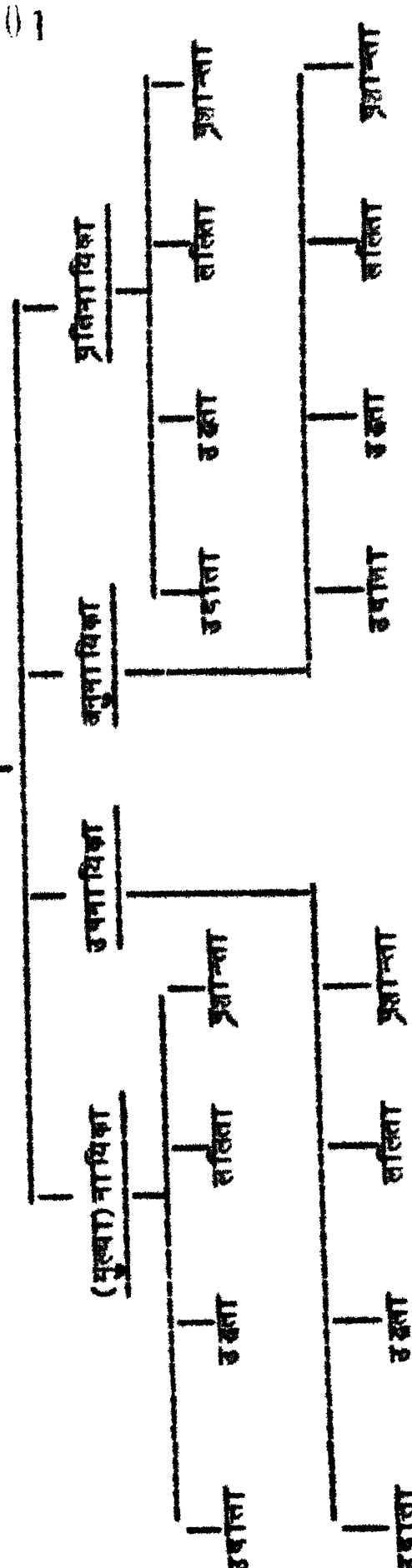
जैसाकि कहा जा चुका है, 'नायक' अथवा 'नेता' पद का प्रयोग नायक सामान्य के लिए किया गया है और उस आधार पर प्रतिनायक भी उसमें गृहीत है। अभिनवगुप्त के विभाजन 'नायकप्रतिनायकौ तत्सहायौ च' के आधार पर यदि देखा जाए तो शास्त्रीय दृष्टि से प्रतिनायक के पुनः भेद करते हुए आठ प्रतिनायकों की गणना की जा सकती है (देखें : द्वितीय फलक पृ०१०३)

इसी प्रकार नायिकाओं के विभिन्न भेदों (खण्डिता, विप्रलब्धा, विरहोत्कण्ठिता आदि) में प्रतिनायिकाओं के भी अनेक रूपों के दर्शन हो जाते हैं, प्रायः नायक का परस्त्रीगमन तथा उसका अन्यान्य नायिकाओं से प्रेम ही नायिकाओं की इन मनःस्थितियों के मूल में सन्निहित है। वस्तुतः यह नायिकाओं का एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही है। अतः जब कभी नायक अथवा पति किसी अन्य नायिका के समीप से लौटता है तो पत्नी की प्रतिक्रियाओं में किसी प्रतिनायिका के स्वरूप के ही दर्शन होते हैं। इसी कारण शृङ्गारप्रकाशकार ने कहा है कि जब कृष्ण ऐसे ही प्रेम प्रसंगों के बाद लौटकर रुक्मिणी के समक्ष आते हैं तो रुक्मिणी के मुखपर मन्यु के स्थान पर प्रसन्नता को देखकर उसमें उदात्तप्रतिनायिका के दर्शन होते हैं। ऐसी ही परिस्थितियों में उन्होंने सत्यभामा की क्रोधमिश्रित प्रतिक्रिया के आधार पर उसे उद्धता प्रतिनायिका माना है। यहां यह भी कहना अनुचित न होगा कि नायकों के सहायकों की अपेक्षा नायिकाओं की सखियाँ अथवा सहायिकाओं की संख्या अधिक होती है उनमें भी अन्तरंग सखियों का स्वरूप, नायकों के सहायकों की भांति ही, महत्त्वपूर्ण होता है और उपर्युक्त प्रसंगों में उनकी प्रतिक्रिया भी प्रायः नायिकाओं के अनुकूल ही होती है। अतः यदि प्रतिनायिकाओं की इन सहायिकाओं को उपप्रतिनायिकाओं के रूप में देखते हुए उनके भी उदात्ता-उपप्रतिनायिका आदि चार भेद किए जा सकते हैं। शृङ्गारप्रकाशकार ने उप-प्रतिनायकों की भांति ही उपप्रतिनायिकाओं का कोई विभाजन नहीं किया है तो भी प्रतिनायिका सम्बन्धी उनका विभाजन नितान्त मौलिक है।

(जहां तक प्रतिनायकों के उपर्युक्त भेदप्रभेदों का प्रश्न है, इन्हें स्वीकार कर लेने के बाद उन प्रतिनायकों की भूमिका सार्थक हो उठती है जिन्हें धीरोद्धत, पूर्णोद्धत, अपोद्धत और औद्धत्यहीन प्रतिनायकों के रूप में पहले दिखाया जा चुका है। प्रतिनायक रावण की विभिन्न रूपक प्रबन्धों में भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमिकाओं की

द्वितीय-फलक

103

धीरोदात्तप्रतिनायक | धीरोद्धतप्रतिनायक | धीरललितप्रतिनायक | धीरप्रशान्तप्रतिनायक

उपप्रतिनायक

धीरोदात्त-उपप्रतिनायक | धीरोद्धत-उपप्रतिनायक | धीरललित-उपप्रतिनायक | धीरप्रशान्त-उपप्रतिनायक

प्रतिनायिका

उदात्ताप्रतिनायिका | उद्धताप्रतिनायिका | ललिताप्रतिनायिका | प्रशान्ताप्रतिनायिका

उपप्रतिनायिका
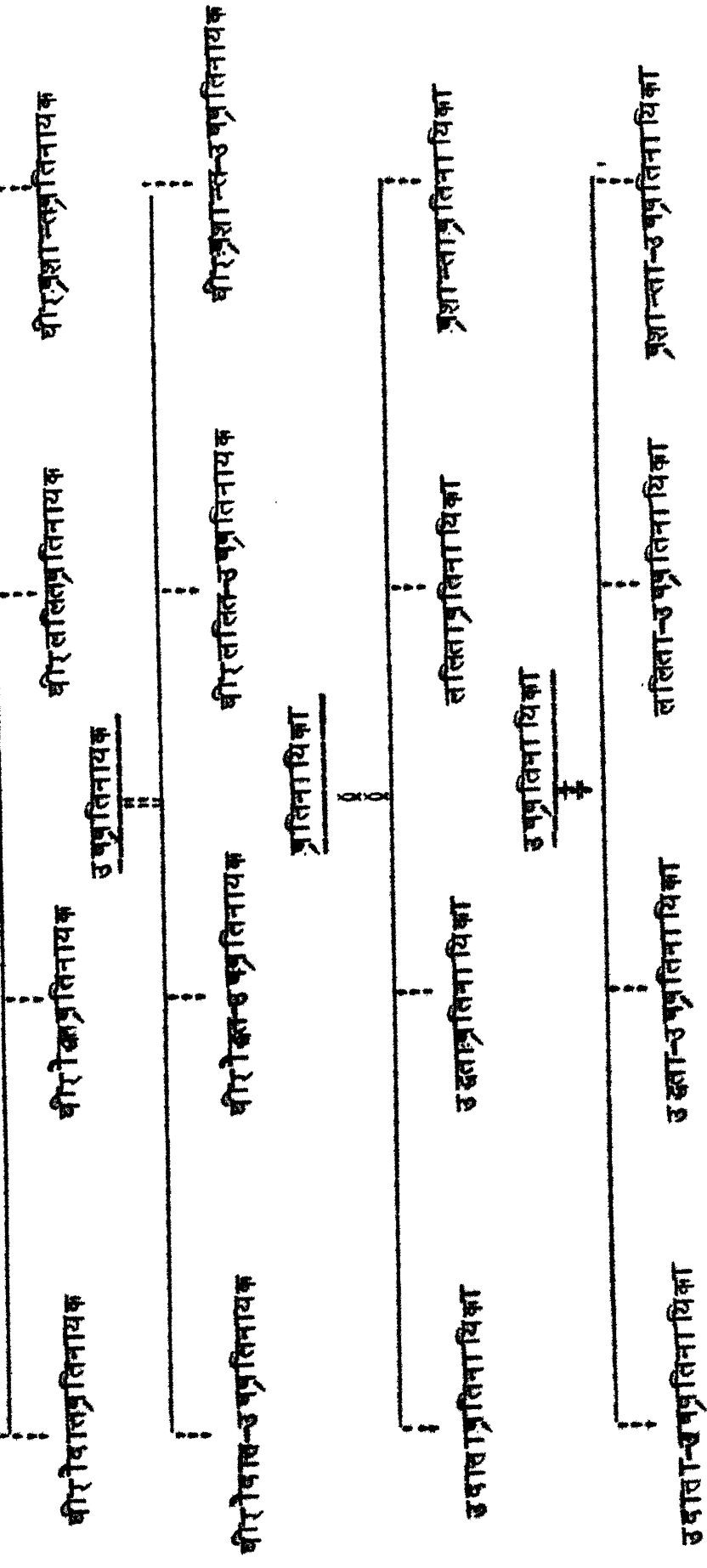
उदात्ता-उपप्रतिनायिका | उद्धता-उपप्रतिनायिका | ललिता-उपप्रतिनायिका | प्रशान्ता-उपप्रतिनायिका

की व्याख्या इस प्रकार सुगम हो जाती है क्योंकि हम अनेक स्थलों पर अनेक प्रतिनायकों में पाते हैं कि वे नायक-विरोधी तो है किन्तु उद्धत नहीं है । इस दृष्टि से मालती-माधव में नन्दन की भूमिका, अघोरघण्ट की भूमिका, और पद्मावती के राजा, जो नन्दन के सहायक के रूप में है, उनकी भूमिका का मूल्यांकन हो जाता है । उस व्याख्यान के परिप्रेक्ष्य में, `मृच्छकटिकम्` के शकार के स्वरूप में औद्धत्य के अभाव को, मुद्राराक्षस में शकटदास एवं चन्दनदास की भूमिका को, प्रतिज्ञायौगन्धरायण में भरतरोहक एवं महासेन की भूमिका को, `महावीरचरितम्` में माल्यवान एवं शूर्पणखा की भूमिका को, वेणी-संहार में दुःशासन, कर्ण, शकुनि, अश्वत्थामा एवं कृपाचार्य की भूमिका को सही दिशा मिल जाती है ।

समवकार रूपक भेद के उल्लेख के साथ भरतमुनि की मान्यता[1] की अभिनवगुप्त व्याख्या हम पहले ही दिखा चुके हैं जिसमें दो प्रकार के मतों का उल्लेख उन्होंने स्वयं ही किया है :--

(क) द्वादश नायक बहुल इति प्रत्यङ्कमिति केचित् । अर्थात् समवकार में तीन अंक होते हैं और इस मत के अनुसार प्रत्येक अंक में बारह नायक होने चाहिए (इस मत की भी दो व्याख्याएं हो सकती हैं (अ) अर्थात् ऐसे रूपकप्रबन्धों के प्रत्येक अंक में बारह पुरुष पात्रों से अधिक की योजना न की जाय (ब) अथवा एक मुख्य नायक दूसरा उसका सहायक-उपनायक (पीठमर्द) तथा प्रतिनायक और उनके भी (तीन-तीन) सहायकों की योजना करते हुए प्रत्येक अंक में बारह-बारह पुरुष भूमिकाएं होनी चाहिए इस प्रकार समवकार रूपक भेद में भरत के ' द्वादशनायकबहुलः त्र्यङ्कः ' की व्याख्या करते हुए उसमें ३६ नायकों का प्रयोग किया जा सकता है) ।

(ख) `अन्येतु नायकप्रतिनायकौ तत्सहायौ चेति चतुराहुः समुदायापेक्षया हि द्वादशेति` अर्थात् `समवकार` के प्रत्येक अंक में, नायक + प्रतिनायक = दो + उनके एक-एक सहायक = चार × तीन अंक के अनुसार = कुल बारह नायकों की योजना की जानी चाहिए ।

---

१ भरत १८ । ११५

इसी प्रकार 'डिम' रूपकभेद में सोलह नायकों का विधान किया गया है[1]। चूंकि डिम रूपक भेद में चार अंक होते हैं अत: अभिनवगुप्त उपर्युक्त अपनी गणित के अनुसार उसमें भी सोलह नायकों की गणना कर लेते हैं। हमें ध्यान में रखना चाहिए कि अभिनवगुप्त की यह दृष्टि तो रूपकभेद विशेष में प्रयुक्त नायक प्रतिनायक की भूमिकाओं के सम्बन्ध में है जबकि शृङ्गारप्रकाशकार का विभाजन सभी नायकों को संगृहीत करते हुए उनके भेदों से जुड़ा हुआ है फिर भी इस दृष्टि से शृङ्गार-प्रकाशकार की नायक-प्रतिनायक सम्बन्धी धारणा पर और भी प्रकाश डाला जा सकता है।

शृङ्गारप्रकाशकार भोज नायक, प्रतिनायक के अतिरिक्त उपनायक एवं अनुनायक के रूप में चार भूमिकाओं का उल्लेख करते हैं। यह अभिनवगुप्त की उपर्युक्त व्याख्या से भिन्न है और किंचित् व्यापक दृष्टि से देखें तो हम पाते हैं कि अभिनवगुप्त, नायक एवं प्रतिनायक के एक एक सहायक का उल्लेख करते हैं तो भोज नायक के दो सहायक उपनायक एवं अनुनायक का उल्लेख करते हैं किन्तु प्रतिनायक को नि:सहाय छोड़ देते हैं। इस संदर्भ में शृङ्गारप्रकाशकार के रूपकप्रबन्धों की कथावस्तु और उसके भेद सम्बन्धी मत पर प्रकाश डालना आवश्यक है क्योंकि उसके बिना नायक के उपनायक एवं अनुनायक जैसे दो विशिष्ट सहायकों का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है।

भरतमुनि[1] की ही इतिवृत्त सम्बन्धी कारिकाओं को कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार करते हुए शृङ्गारप्रकाशकार तीन प्रकार के इतिवृत्त का उल्लेख करते हैं, आधिकारिक, आनुषङ्गिक तथा प्रासङ्गिक[2]। ध्यान देने की बात यह है कि भरत ने

---

१ इतिवृत्तं द्विधा चैव बुधस्तु परिकल्पयेत् ।
आधिकारिकमेकं तु प्रासङ्गिकमथापरम् ।।
यत्कार्यं हि फलप्राप्त्या समर्थं परिकल्प्यते ।
तदाधिकारिकं ज्ञेयमन्यत् प्रासङ्गिकम् विदु: ।।
कारणात् फलयोगस्य वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ।
तस्योपकरणार्थं तु कीर्त्यते ह्यानुषङ्गिकम् ।।
--भरत: १९।२, ३, ५

२ भरत से तुलना हेतु पृ०१०६ पर टिप्पणी में डा० राघवन् द्वारा उद्धृत कारिकाएं देखें।

दो ही प्रकार की कथावस्तु मानी है -- आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक । आनुषङ्गिक को उन्होंने प्रासङ्गिक[1] का पर्याय माना है । किन्तु शृङ्गारप्रकाशकार ने इन दोनों में अन्तर किया है । पताका एवं प्रकरी के मध्य के भेद को दृष्टि में रखते हुए आनुषङ्गिक एवं प्रासङ्गिक इतिवृत्त का अन्तर कुछ समझा जा सकता है । दशरूपककार की मान्यता है --

> सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् । द० रू० १।१३
>
> दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका, सुग्रीवादिवृत्तान्तवत् ।
>
> पताकेव साधारणनायकचिह्नवदुपकारित्वात् यदल्पं सा प्रकरी श्रावणादि-वृत्तान्तवत् ।।

दशरूपककार ने यहां शबरी के वृत्तान्त को प्रकरी के रूप में एक लघु कथानक मान लिया है । किन्तु इससे भोज के उपनायक एवं अनुनायक के भेद पर स्वल्प प्रकाश पड़ता है । इसके विपरीत नाट्यदर्पणकार की प्रकरी सम्बन्धी व्याख्या में कुछ

----

१ But Bhoja has three divisions and derives these three evedently from Bharata's text itself. Bharata uses Prasangika and Anusangika as synonyms but Bhoja takes the two as slightly different. This is quite characteristic of Bhoja. He says ;

तथा चोपदेशपात्रः प्रबन्धेष्वाधिकारिकाः आनुषङ्गिका प्रासङ्गिका वा प्रयोक्तव्याः....... तत्र किमाधिकारिकम् ? किम् आनुषङ्गिकम् ?

> यत् कार्यं हि फलप्राप्त्यै कार्यं परिकल्प्यते
>
> तदाधिकारिकं ज्ञेयं अन्यद् स्यादानुषङ्गिकम् ।
>
> कारणात् फलयोगस्य वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ।
>
> तस्योदाहरणार्थं तु प्रासङ्गिकमुदाहृतम् ।।

Bhoja does not further explain how Prasangika differs from Anusangika. He seems to take the Prasangika as a sub-class of the Anusangika. It is not known what Bhoja means by characterisation of the Prasangika with the words 'आधिकारिकस्य उदाहरणार्थम्' We may venture to suggest that Anusangika and Prasangika respectively refer to the Pataka and Prakari. The two Anustubha given above are Bharata's verses with slight changes.

- BHOJA'S SHRINGARPRAKASHA, Page 600

अधिक प्रकाश पड़ता है। नाट्यदर्पणकार, दशरूपककार की भांति पंच अवस्थाओं और पंच अर्थप्रकृति के संयोग से संधियों की सृष्टि की मान्यता के विरुद्ध हैं। वे मात्र पंचावस्थाओं से ही पंच संधियों का सम्बन्ध मानते हैं। अत: उनकी दृष्टि में किसी भी नाटक में पताका प्रकरी का होना भी अनिवार्य नहीं है। अत: उनकी यह विवेचना कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं :--

'प्रकरीचेत् क्वचिद्भावी चेतनोऽन्यप्रयोजन:। क्वचिद्भावी वृत्तैक-देशव्यापी, अन्यस्य मुख्यनायकस्यैव प्रयोजनं यस्य स चेतन: सहकारी प्रकर्षेण स्वार्थनिपेक्षया करोतीति-प्रकरी। औणादिके 'इ' प्रत्यये संज्ञाशब्दत्वेन स्त्रीत्वम्। यथा रामप्रबन्धेषु जटायु:। चेदित्यनेन पताकावदवश्यम्भावित्वमाह। क्वचिद्भावित्वात् स्वार्थनिरपेक्षत्वाच्च पताकातो भेद इति।' - ना. द. प्रथमविवेक

अर्थात् स्वार्थ की भावना से रहित होकर जब कोई पात्र ऐसा कार्य करता है जो नायक के कार्य में सहायक सिद्ध होता है तो उसकी कथा को प्रकरी के रूप में नियोजित किया जाता है। पताका इसके विपरीत इतिवृत्त का वह अंश होता है जो 'दूरं यदनुवर्तते' तो होता ही है मुख्य-कथानक की दृष्टि से आवश्यक भी होता है। अत: प्रकरी एक स्वतंत्र किन्तु ऐसी अवान्तरकथा है कि यदि उसे अलग कर दिया जाए तो मुख्य कथा में विशेष अन्तर नहीं आता। उसका नायक मोक्ष की दृष्टि से उपनायक होता है क्योंकि उसका चरित्र मुख्य नायक के समान ही उत्कृष्ट होता है जैसे जटायु की कथा और जटायु का नायकत्व। शबरी और सुग्रीव-बाली की प्रतिद्वन्द्विता और सुग्रीव द्वारा राम की सहायता का वचन देने और उसे अन्त तक निभाने की कथा पताका है। सुग्रीव की स्वार्थपरक और सहायता एवं उसकी अन्त तक उपस्थिति उसे अनुनायक बनाती है। शृङ्गारप्रकाशकार अपने इस विभाजन को सैद्धान्तिक ढंग से उपस्थापित करते हुए मानते हैं कि पताका तो 'साधकतमं करणम्' के रूप में एक सहायक, सह-साधनभूत होती है, जबकि 'प्रकरी' साधक होते हुए भी स्वतंत्र एवं 'परार्था' कथा होती है क्योंकि पताका के नायक की भांति प्रकरी के नायक का मुख्यनायक से कोई स्वार्थ नहीं होता। इसे ही स्पष्ट करते हुए डा० राघवन् कहते हैं, " The former (PATAKA) is a bigger

----

episode running to the end ; it is by itself a
complete sub-plot, the chief character in it has
his own purpose served and helps also the main
hero to achieve his purpose. The PRAKARI differs
from the PATAKA, it has no purpose for itself
and is purely for the development of the main plot,
PARATHA.'

– BHOJA'S SHRINGARPRAKASHA

अर्थात् प्रकरी तो रूपकान्तर्गत उपरूपक है, प्रासंगिक है, उसका नायक उपनायक[1] होता है किन्तु पताका जिसका नायक निजी स्वार्थरत-मुख्यनायक का अनुगन्ता होता है-अनुनायक[2] होता है और पताका की कथा भी रूपक के अन्त तक चलती है-आनुषङ्गिक होती है।

इस प्रकार से शृङ्गारप्रकाशकार के उपनायक एवं अनुनायक की भूमिका की इस पृष्ठभूमि को समझने के बाद स्वाभाविक रूप से इनकी प्रतिद्वन्द्विता में आने वाले प्रतिनायकों के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि उन्हें क्या माना जाये-प्रतिनायक ? यदि हां, तो मुख्यनायक के प्रतिस्पर्धी मुख्य प्रतिनायक से इनकी भिन्नता को किस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है ? यदि उपनायक के प्रतिद्वन्द्वियों को पूर्वोक्त धीरोद्धतादि उपप्रतिनायकों में ही रख लिया जाय तो भी अनुनायकों के विरोधी प्रतिनायकों के लिए एक अन्य विभाजन तो करना ही होगा और उन्हें तो धीरोदात्तादि-भेद से चार प्रकार का मानना ही होगा। इसे स्वीकार कर लेने पर प्रतिनायक के भी बारह भेद हो जाते हैं। किन्तु व्यापक दृष्टि से ऐसे अन्य विभाजन मात्र गणना के लिए ही करना उचित होगा अन्यथा मुख्यप्रतिनायक (धीरोदात्तादि) के सभी सहायकों को चाहे वे प्रासङ्गिक कथा के प्रतिनायक हों अथवा आनुषङ्गिक इतिवृत्त के उन्हें उप-प्रतिनायक ही मानना उचित होगा।

प्रतिनायक को 'धीरोद्धत' इस ऐकान्तिक गुण के कारण धीर तो सभी मानते हैं यहां तक कि शृङ्गारप्रकाशकार भी मानते हैं – यह हम देख चुके हैं,

---

१ नायकाभ्यर्हणीय: सन् उत्कृष्टोऽनाप्तपद: उपनायक: । शृ० प्र० पृ० ७६६

पर उसमें औदात्य, लालित्य एवं शान्त इन गुणों की भी सत्ता स्थापित करके शृङ्गारप्रकाशकार ने जहां एक मौलिक उद्भावना की है वहीं इस बात का महत्व भी स्थापित किया है कि संस्कृत रूपकों का प्रतिनायक आदर्शोन्मुख है, उसके चरित्र में नायक की तुलना में गुणों का अकाल नहीं है और उसका विरोध सैद्धान्तिक है, नैसर्गिक नहीं जिसके उदाहरण रूप में 'दूत-घटोत्कचम्' का दुर्योधन हो अथवा 'मुद्राराक्षस' का राक्षस, 'महावीरचरितम्' का रावण हो अथवा 'मध्यम-व्यायोग' का भीम अथवा घटोत्कच इन सभी में इनकी आदर्शपरायणता के कारण संस्कृत के प्रतिनायकों में भी लालित्य, औदात्य एवं शान्त जैसे गुण खोजे जा सकते हैं। किन्तु इस तथ्य को सदा दृष्टि में रखना चाहिए कि यह आवश्यक नहीं है कि नाट्यशास्त्री नयी दिशा न दें और नाटककार नाट्यशास्त्रियों के बताए मार्गों से हटकर नाट्य रचना न करें।

सारांश में, शृङ्गारप्रकाश के प्रतिनायक लक्षण में उसकी 'नायकप्रतिकूलता' ने नाट्यदर्पणकार द्वारा उसे नायक प्रतिपन्थी मानने का प्रभावित किया है और 'तद्व्यसनी पापकृत्' के रूप में उस पर दशरूपककार के 'रिपु' कहने का आनुषंगिक-प्रभाव है। 'प्रतापाभिमानसाहसादिगुणोत्कर्षी' के रूप में उस पर दशरूपक के ही 'धीरोद्धत' विशेषण का प्रभाव तो है ही। इस रूप में शृङ्गारप्रकाशकार ने 'धीरोद्धत' को यथापूर्व-रूप में ग्रहण करके भी अपने ऊपर दशरूपककार का आभार स्वीकार किया है। फिर भी भोजराज ने धीरोदात्तादि प्रतिनायकभेदों के रूप में दशरूपककार की प्रतिनायक को रिपु मानने की स्थापना का खण्डन कर दिया है। क्योंकि धीरोदात्तनायक की भांति धीर और उदात्त, धीरललितनायक की भांति धीर और ललित तथा धीरप्रशान्तनायक की भांति प्रतिनायक को धीर एवं प्रशान्त मान लेने पर उसका 'रिपुभाव' तो स्वतः ध्वस्त हो जाता है।

वस्तुतः इस व्याख्यान में प्रतिनायक की भूमिका के प्रति जो उदारता है उसका सम्बन्ध भारतीय संस्कृति की उस धरोहर से है जो कर्मसिद्धान्त के रूप में सुरक्षित है और जहां कर्म को फल से जोड़ते हुए उसे निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया के रूप में माना गया है। ऐसी संस्कृति में बैर की भावना भी शान्त हो सकती है और शत्रुगण मित्रों के रूप में भी परिवर्तित हो सकते हैं, वे किसी सीमा तक नायक के

प्रतिगामी तो हो सकते हैं किन्तु रिपु अर्थात् शत्रु नहीं हो सकते । क्योंकि नायक के महनीय गुण उस समय निरर्थक हो जाते हैं जब नायक अपने शत्रुपक्ष का हृदय-परिवर्तन नहीं करा पाता । इसी कारण भारतीय संस्कृति में हृदय-परिवर्तन का महत्व है. अन्य रूपकों में हम प्राय: पाते हैं कि नायक अपने प्रतिद्वन्द्वी को आत्मसमर्पण,क्षमायाचना एवं प्रायश्चित्त के लिए बाध्य कर देता है । ऐसी स्थिति में उसे रिपु नहीं कहा जा सकता वह मित्र हो जाता है । अधिक से अधिक वह समान स्पर्धा के साथ समकक्ष आकर एक प्रतिद्वन्द्वी बना रह सकता है ।

हेमचन्द्र और प्रतिनायक

प्रसिद्ध नाट्यशास्त्री रामचन्द्र के गुरु हेमचन्द्र भी उन आचार्यों में हैं जिन्होंने प्रतिनायक की भूमिका का लक्षण किया है । वे काव्यानुशासन में कहते हैं :--

`व्यसनी पापकृल्लुब्ध: स्तब्धो धीरोद्धत: प्रतिनायक:`-काव्यानु.७।२०

अपने इस लक्षण परिवेश में प्रतिनायक चरित्र में `धीरोद्धत` यह ऐकान्तिक गुण विद्यमान है । इसके अतिरिक्त उसका व्यसनी, पापकृत् लुब्ध एवं स्तब्ध होना भी अभीष्ट है । इस रूप में दशरूपककार के प्रतिनायक लक्षण के सभी गुण उसमें यहां भी विद्यमान हैं । दशरूपककार ने भी `लुब्ध: धीरोद्धतस्तब्ध: पापकृद् व्यसनी` के रूप में अपने `रिपु` को इसी प्रकार रेखांकित किया है । अत: हेमचन्द्र के प्रतिनायक लक्षण में दशरूपक के प्रतिनायक गुणों का क्रम-विपर्यय मात्र देखा जा सकता है और इस क्रम-विपर्यय के आधार पर हेमचन्द्र प्रतिनायक के गुणों में किसी गुण की प्राथमिकता की ओर संकेत करते हों ऐसा मानना एक दुराग्रह ही होगा ।

अस्तु, दशरूपककार के लक्षण से तुलना करने पर यहां एकमात्र यही वैशिष्ट्य दृष्टिगत होता है कि `हेमचन्द्र` ने प्रतिनायक को रिपु मानने में विश्वास नहीं किया है । इस आधार पर वे जो विशेष संकेत करना चाहते हैं वह लक्षण से स्पष्ट नहीं है । फिर भी इस आधार पर यदि यह निष्कर्ष निकाला जाए कि वे इस रूप में अपने परवर्ती आचार्यों को `रिपु` के स्थान पर `प्रतिनायक` प्रयोग के लिए प्रोत्साहित करते हैं तो अनुचित न होगा । वैसे इसके पूर्व ही शृङ्गारप्रकाशकार और अभिनवगुप्त

यहाँ तक कि दशरूपककार द्वारा भी प्रतिनायक शब्द के उल्लेख के परिप्रेक्ष्य में उनके सन्दर्भ में यह वैशिष्ट्य भी अधिक संगत नहीं है फिर भी नाट्यदर्पणकार पर इनका किंचिद् प्रभाव (शिष्यत्वात्) दृष्टिगत होता है ।

दशरूपककार के लक्षण से अन्य सभी विशेषणों के साथ `धीरोद्धत:` शब्द को इसी रूप में ग्रहण कर लेना भी दृष्टि सापेक्ष है । इस प्रकार `रिपु` का त्याग एवं धीरोद्धत शब्द का ग्रहण उन दोनों को देखते हुए हेमचन्द्र के धीरोद्धतनायक का लक्षण देखना अनुचित न होगा। धीरोद्धतनायक के सन्दर्भ में वे कहते हैं :--

`शूरो मत्सरी मायी विकत्थनश्छद्मवान् रौद्रोऽवलिप्त: धीरोद्धत: ।`

मत्सरी असह्य: । मन्त्रादिबलेनाविद्यमानवस्तु प्रकाशको मायी । छद्म वञ्चनामात्रम् । रौद्रो चण्ड: । अवलिप्त: शौर्यादिमद: । यथा जामदग्न्यरावणादि: ।

— काव्यानु० ७।१५ एवं वृत्ति भाग

यहाँ दशरूपककार के एतत्विषयक लक्षण का स्पष्ट प्रभाव हेमचन्द्र पर है इसे कहने की आवश्यकता नहीं है । इतना ही नहीं उन्होंने लक्षणवृत्ति में भी दशरूपक की भरपूर सहायता ली है यह स्पष्ट है । फिर भी उन्होंने नायकविरोधी भूमिका को `रिपु` न कह कर यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि `रिपुभाव` की व्यापकता को नाट्यपरिवेश में ग्रहण करना उचित नहीं है क्योंकि यह भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल है । नायकविरोध की भावना के मूल में विद्यमान प्रतिस्पर्धा को वे प्रतिनायक की भूमिका के मूलतत्त्व के रूप में ग्रहण करते हैं ऐसा कहा जा सकता है । प्रतिनायक के धीरोद्धत होने से उसमें लोभ, उद्दण्डता, पापभावना, एवं दुर्व्यसनों के अतिरिक्त उसकी असहिष्णुता, उसका मायावी होना, छल-कपट में उसकी निष्ठा, क्रोधाधिक्य, आत्म-श्लाघा एवं शौर्यादिजन्य अहंकार से उसका युक्त होना भी हेमचन्द्र को अभीष्ट है । किन्तु इनमें से किसी भी गुण के सन्निवेश द्वारा प्रतिनायक की प्रतिद्वन्द्विता, प्रतिस्पर्धा किंवा विरोध को शत्रुता के रूप में, नायक के साथ यावज्जीवन शत्रुभाव के साथ नहीं जोड़ा जा सकता । `रिपुभाव` के पीछे हिंसा एवं हत्या का जो भाव निहित है वह तो दश-रूपककार को भी अभीष्ट न रहा होगा किन्तु उन्होंने इस शब्द की ऐसी व्याख्या की भी सम्भवत: आशा न की होगी और न तो उनके समक्ष `प्रतिनायक` के सन्दर्भ में इस शब्द (रिपु) के मूल्यांकन का ही अवसर आया होगा । उन्होंने तो स्वाभाविक रूप

से `रिपु` का ग्रहण किया होगा किन्तु उसे छोड़ने वाले आचार्यों ने इस पर अवश्य विचार किया होगा और इसी कारण उसे छोड़ा होगा ऐसा कहा जा सकता है ।

प्रतिनायक को प्रतिपन्थी (नायक प्रतिपन्थी) मानने वाले परवर्ती आचार्यों एवं `नायकप्रतिकूलवृत्ति` मानने वाले पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों के परिप्रेक्ष्य में यदि हेमचन्द्र की दृष्टि से उनके प्रतिनायक को भी वैसा ही मान लिया जाए तो कुछ अनुचित न होगा । काव्यानुशासन में काव्यमीमांसा, ध्वन्यालोक एवं अभिनवभारती के लम्बे-लम्बे उद्धरणों को देखते हुए और उसे `संग्रहग्रन्थ` सा मानते हुये[1] यदि हेमचन्द्र के प्रतिनायक लक्षण एवं उसमें `रिपु` शब्द के परित्याग को मात्र किसी पूर्ववर्ती आचार्य का अनुकरण मान लें तो भी सागरनन्दी जैसे पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्रीय आचार्य द्वारा प्रतिनायक लक्षण की उपेक्षा के परिप्रेक्ष्य में उनका यह कर्म भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । वैसे उनके द्वारा रिपु के स्थान पर प्रयुक्त प्रतिनायक शब्द व्यापक अर्थ रखता है और धीरोद्धत के साथ उसका सामञ्जस्य अधिक सार्थक हो उठता है । प्रतिनायक भी नायक है, इस दृष्टि से जहां रावण जैसा प्रतिनायक अपने विपक्ष का आमात्यत्व ग्रहण कर लेता है वहां उसका वास्तविक नायकत्व प्रकट हो उठता है । इसी प्रकार `ऊरुभङ्गम्` एवं कर्णभारम् के नायकों की भूमिकाओं की भी सार्थकता बढ़ जाती है ।

अस्तु, यह स्पष्ट हो जाता है कि `गतानुगतिक:` का परित्याग करने के लिए ही नहीं अपितु किसी उद्देश्य अथवा सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए यदि आचार्य हेमचन्द्र ने दशरूपककार के लक्षण से `रिपु` को हटाते हुए प्रतिनायक लक्षण को `यथापूर्वमकल्पयत्` के रूप में स्वीकार किया है तो वह सिद्धान्त, वह आदर्श यही रहा होगा कि दृश्य रूपकों में दशरूपक के `रिपु` के आधार पर प्रतिनायक-भूमिका में हिंसा, हत्या जैसी भावना की अभिव्यक्ति को अवकाश न मिलने पाये जिससे कि साहित्य के मूल में निहित आदर्शों की क्षति हो । इतना ही नहीं इस लक्षण के माध्यम से हेमचन्द्र ने प्रतिनायक शब्द के अस्तित्वबोध एवं रूपकप्रबन्धों में उसकी उपयोगिता को अभिव्यक्त करते हुए उसके महत्त्व को अङ्गीकार किया है ऐसा कहा जा सकता है ।

---

१ `काव्यप्रकाश` आचार्य विश्वेश्वर की `भूमिका`, पृ० ७६ ।

<u>नाट्यदर्पणकार एवं प्रतिनायक</u>

दशरूपककार के परवर्ती नाट्यशास्त्रियों में नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य होने पर भी उनका नाट्यशास्त्रीय दृष्टिकोण उनसे पृथक् है । उन्होंने स्थान-स्थान पर दशरूपककार की नाट्यशास्त्रीय स्थापनाओं का खण्डन भी किया है । प्रतिनायक के लक्षण में उनका मौलिक चिन्तन स्पष्ट है । वे कहते हैं :--

`लोभी धीरोद्धत: पापी व्यसनी प्रतिनायक: ।`- (ना० द० ४।१६६)
मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थी नायक: प्रतिनायक: ।
रामयुधिष्ठिरयो: रावणदुर्योधनवदिति ।`

अर्थात् मुख्यनायक के प्रतिपन्थी नायक को प्रतिनायक कहा जाता है जो लोभी, पापी तथा व्यसनी होता है और उसमें धीरोद्धत नायक के गुण भी विद्यमान रहते हैं । इस लक्षण में दशरूपककार एवं हेमचन्द्र द्वारा ग्रहीत `स्तब्धता` का गुण छोड़ दिया गया है । जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे प्रतिनायक की उद्दण्डता अथवा स्तब्धादिता से सहमत नहीं हैं । इसका कारण चाहे जो रहा हो किन्तु प्रतिनायक सम्बन्धी अन्य उल्लेखों के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि उन्होंने प्रतिनायक की भूमिका को महत्वपूर्ण भी माना है और उसका स्थान-स्थान पर उल्लेख भी किया है ।

नाट्यदर्पणकार के उपर्युक्त लक्षण एवं उसकी व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि अन्य आचार्यों की भांति वे भी `नायक` शब्द को रूपकप्रबन्धों में पुरुष पात्रों की भूमिका का वाचि मानते हैं अतएव `मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थीनायक:` कह कर ही प्रतिनायक की ओर संकेत करते हैं । इस प्रकार मुख्यनायक के प्रतिपन्थी चरित को ही प्रतिनायक किंवा मुख्यप्रतिनायक मानने से महाभारत की कथा के प्रसंग में दु:शासन, शकुनि, कर्णप्रभृति पात्र प्रतिनायक के सहायक, अत: उपप्रतिनायक होंगे । उनकी प्रतिद्वन्द्विता भी उपनायक के साथ ही अधिक मुखर होगी ऐसा भी संकेत इस कथन से ग्रहण किया जा सकता है । इस रूप में वे दशरूपककार का समर्थन करते प्रतीत होते हैं जो `नायकस्य हन्तं मुख: प्रतिपक्षनायक:` के रूप में इस मान्यता की स्थापना करते हैं ।

इस प्रकार उनके इस लक्षण से उनकी उपप्रतिनायक के अस्तित्व को स्वीकार करने की मान्यता स्पष्ट होती है। इस दृष्टि से वे अपने पूर्ववर्ती अभिनवगुप्त से सहमत हैं। `द्वादश नायक बहुल इति' की अभिनवगुप्त कृत व्याख्या के समान `समवकार' रूपक भेद के प्रसंग में वे कहते हैं :--

`अत्र समवकारे नायका: द्वादश। तत्र प्रत्यङ्कं द्वादश। यदि प्रत्यङ्के नायकप्रतिनायकौ तत्सहायौ चेति चत्वार: तत: सर्वसंख्यया द्वादशेति मध्यमावृत्ति:। तेन क्वचिद् न्यूनाधिक्यत्वेऽपि न दोष:। - - - अतएव सहायापि सुग्रीवादिवत् नायकत्वेन व्यपदिश्यन्ते।'

--ना० द० २।११-१२ वृत्तिभाग

यहाँ एक ओर वे प्रतिनायक और उसके सहायक की बात करते हैं दूसरी ओर नायक को नायक, प्रतिनायक के सभी सहायकों का पर्याय मानते हैं। प्रतिनायक सम्बन्धी उनके इस उल्लेख के अतिरिक्त `ईहामृग' रूपकभेद के प्रसंग में कथावस्तु, नायक-प्रतिनायक, नायिका, उसका अपहरण एवं तन्निमित्त संग्राम की चर्चा करते हुए वे कहते हैं :--

`दिव्यांशो दिव्यनायक:। दृप्ता: उद्धता: मानवा: मर्त्यपुरुषपात्राण्यत्र। स्त्रीहेतुसंग्रामो यत्र। अत्रहि दिव्यां नायकस्त्रियमनिच्छन्तीं प्रतिनायको पहरति। ततस्तन्निमित्तो नायकप्रतिनायकयो: संग्रामो निबन्धनीय:।'

-- ना० द० २।२५-२६ वृत्तिभाग।

इस वृत्ति के माध्यम से ईहामृग के लिए जिस प्रकार की कथा का उल्लेख हुआ है उसके प्रसंग में भयंकर संग्राम की चर्चा के साथ ही दिव्यनायक की प्रतिद्वन्द्विता में आने वाली प्रतिनायक की भूमिका की भी भयंकरता का अनुमान सरलता से हो जाता है। क्योंकि नायक ही नहीं नायिका भी दिव्य होगी और प्रतिनायक उस नायिका का अपहरण करेगा। `अनिच्छन्तीं' के रूप में, बलात्-अपहरण का जो उल्लेख है उससे प्रतिनायक के औद्धत्य का सहज अनुमान सम्भव है। प्रतिनायक के इस आचरण को रत्याभास की स्थिति बताते हुए वे कहते हैं -`अनुचितारति: रत्याभास: स च प्रतिनायकस्य निष्प्रेमस्त्रीविषयत्वादिति।' हम पहले भी देख चुके हैं कि नायिका के प्रति प्रतिनायक की रति रत्याभास कहलाती है।

इसी प्रकार रूपक प्रबन्धों में मुख सन्धि से लेकर निर्वहण सन्धि तक के कथानक में प्रतिनायक के महत्व को स्वीकार करते हुए वे स्थान-स्थान पर ऐसे उल्लेख करते हैं जिनसे प्रतिनायक के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि का परिचय मिल जाता है। निर्वहण सन्धि के प्रसंग में नायक-प्रतिनायक, नायिका, आमात्य प्रभृति सभी पात्रों के कार्यों को एकत्रित करने का विधान करते हुए वे कहते हैं, `फलेन मुख्यसाध्येन नायक-प्रतिनायकनायिकामात्यादिव्यापारै: सम्यगौचित्येन युज्यन्ते सम्बद्ध्यन्ते यस्मिन् प्रधान-वृत्तांशे स फलागमावस्थया परिच्छिन्नो निर्वहणसन्धि: ।`--ना०द० १।४० वृत्तिभाग

अर्थात् इस सन्धि के अवसर पर जहाँ नायक-नायिका के कार्य-व्यापार का उपसंहार होता है दिखाया जाता है वहीं प्रतिनायक के कार्य का भी उपसंहार किया जाता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि नाट्यदर्पणकार रूपकप्रबन्धों में व्यापक रूप से प्रतिनायक की भूमिका की उपयोगिता को स्वीकारते हैं तथा उसके सम्बन्ध में अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के एतत्सम्बन्धी मतों की विवेचना करते हुए प्रतिनायक के साथ ही उपप्रतिनायक के भी अस्तित्व को महत्त्व देते हैं।

आचार्य विश्वनाथ एवं प्रतिनायक

आचार्य विश्वनाथ ने प्रतिनायक का लक्षण करते हुए कहा है :--

`धीरोद्धत: पापकारी व्यसनी प्रतिनायक: ।
यथा रामस्य रावण: । -- सा०द० ३।१३१

जैसाकि हम देख चुके हैं दशरूपकार के उपरान्त हेमचन्द्र ने उनके ही लक्षण को शब्द विपर्यय द्वारा स्वीकार कर लिया है। किन्तु उनके बाद उन्हीं के शिष्य नाट्यदर्पणकार ने `स्तब्ध` पद को छोड़ दिया है और साहित्यदर्पणकार ने `स्तब्ध` तथा `लुब्ध:` दोनों ही पदों को अस्वीकार कर दिया है। इस रूप में उनके विचार से प्रतिनायक का व्यसनी पापकारी एवं धीरोद्धत होना ही पर्याप्त है। हरिदास भट्टाचार्य ने `पापकारी पापानुष्ठायी, व्यसनी मनूक्ताष्टादशप्रकारव्यसनस्य अन्यतम-प्रकारवान्, नायकस्य प्रतिपक्ष: प्रतिनायक:` के रूप में प्रतिनायक की व्याख्या करते हुए मलयकेतु को राक्षस की प्रतिद्वन्द्विता में प्रतिनायक सिद्ध किया है। उनकी दृष्टि में

मलयकेतु का पैशुन्य अर्थात् अविज्ञातदोषाविष्कारी होना ही इसका मुख्य कारण है।

साहित्यदर्पणकार के प्रतिनायक-लक्षण के सन्दर्भ में उनके धीरोद्धत-नायक के लक्षण को भी देखना आवश्यक है, वे कहते हैं :--

मायापर: प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठ: ।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धत: कथित: ।।-- सा० द० ३।३३

प्रतिनायक लक्षण में धीरोद्धतनायक के इन गुणों का समावेश कर लेने पर हरिदास कृत व्याख्या में मनु द्वारा गिनाये गए अनेक गुण पुनरुक्त हो जाते हैं। अस्तु, आचार्य विश्वनाथ के धीरोद्धतनायक-लक्षण को देखने से पता चलता है कि प्रतिनायकलक्षण की भांति ही इस लक्षण में भी साहित्यदर्पणकार ने दशरूपक के लक्षण में गृहीत कुछ विशेषण छोड़ दिए हैं। इस रूप में धीरोद्धतनायक जिसे भरतमुनि ने चतुर्विध नायकों की चर्चा करते हुए सर्वप्रथम ही उल्लिखित किया है,[1] उसे साहित्यदर्पणकार ने मायावी, प्रचण्ड, चंचल प्रकृति का, अहंकारी, दर्पयुक्त, तथा आत्मश्लाघा करने वाला ही बताया है और मात्सर्य एवं छद्मपरायणता को उन्होंने छोड़ दिया है जिसका निश्चित कारण कह पाना कठिन है पर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने दशरूपककार के छद्म को माया[2] में तथा दर्प, अहंकार तथा आत्मश्लाघा से समन्वित चरित्र में मात्सर्य की स्वत: उपस्थिति के कारण ~~उन्होंने~~ उसका पृथक् उल्लेख नहीं किया है[3]।

इन गुणों के परिप्रेक्ष्य में प्रतिनायक जिसे धीरोद्धत होने के साथ केवल व्यसनी एवं पापकारी होना ही साहित्यदर्पणकार को अभीष्ट है कुछ बौना प्रतीत होता है। क्योंकि उनकी अपेक्षा दशरूपककार ने प्रतिनायक को लुब्ध, स्तब्ध, (हठी) रिपु इन विशेषणों से युक्त बताया है जो प्रतिनायक के चरित्र के माध्यम से नायक चरित्र का उत्कर्ष दिखाने की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। इसी कारण आचार्य

---

१ भरत: २४।३,४

२ तुलना करें : छद्म: वञ्चनामात्रम् तथा अविद्यमानवस्तुप्रकाशनं माया ।
--द० रू० २।५ वृत्तिभाग

३ दर्प: शौर्यादिमद:, मात्सर्यम् असहनता स्वगुणशंसी विकत्थन:
--द० रू० २।५ वृत्तिभाग

विद्यानाथ ने `प्रतापरुद्रीय` में स्पष्ट रूपेण कहा है :--

अथवा प्रतिपक्षस्य वर्णयित्वा गुणान् बहून् ।

तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनं च मतं क्वचित् ॥ प्र०रु० नायकप्रकरण - ६८

अत: साहित्यदर्पण की अपेक्षा दशरूपक का प्रतिनायक-लक्षण ही अधिक उपयुक्त है । साहित्यदर्पणकार ने प्रतिनायक का लक्षण करने के अतिरिक्त प्रतिनायक का अन्य स्थलों पर भी उल्लेख किया है । आलम्बन विभाव[1] के लक्षण-प्रसंग में `आदि शब्दान्नायिका प्रतिनायिकाद्य:` कहकर वे शृङ्गारप्रकाशकार की भाँति प्रतिनायिका के अस्तित्व का उल्लेख करते हैं । इस प्रकार वे प्रतिनायक के अतिरिक्त प्रतिनायिका को भी नायक और नायिका के सन्दर्भ में आलम्बनरूप मानते हैं । जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है शृङ्गाररस प्रधान रूपकप्रबन्धों में नायक की परिणीता अर्धाङ्गिनी प्रमुख रूप से यह भूमिका निभाती है । वैसे व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो नायिका की दृष्टि से राजमहिषी अथवा अर्धाङ्गिनी तथा राजमहिषी की दृष्टि से नायिका स्वयं प्रतिनायिका के रूप में आलम्बन बनती है । उद्दीपन विभाव के रूप में भी प्रतिनायक या प्रतिनायिका को मानना अनुचित न होगा किन्तु लगभग सभी आचार्यों ने वन, तडागादि जड़ वस्तुओं को ही उद्दीपन माना है अत: इस विवाद को यहां न उठाकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि शृङ्गारी नायक अथवा धीरललित नायक के ही सन्दर्भ में नहीं अपितु माधव जैसे धीरशान्त[2] नायक के सन्दर्भ में भी कपालकुण्डला जैसी प्रतिनायिका तथा अघोरघण्ट जैसे प्रतिनायक के दर्शन हो जाते हैं । प्रतिनायक के इस उल्लेख के अतिरिक्त विश्वनाथ ने ईहामृग रूपकभेद का लक्षण करते हुए अन्य आचार्यों की भांति ही प्रतिनायक का उल्लेख किया है । कारिका भाग में ही दिव्यादिव्य के विपर्यय का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं :--

नरदिव्यावनियमौ नायकप्रतिनायकौ ।

ख्यातौ धीरोद्धातावन्यो गूढभावादयुक्तकृत् ।। --सा०द० ६।२४६

इसकी वृत्ति में पताका नायकों अर्थात् उपनायकों एवं उप-प्रतिनायकों

~~१ देखें : अध्याय दो~~ १ सा० द० ३।२९ वृत्तिभाग

२ द० रू० २।५ तथा सा० द० ३।३४ वृत्तिभाग

की संख्या की गणना के साथ [उन्होंने] 'दशनायक' का उल्लेख किया है । अर्थात् चार अङ्क वाले इस रूपक भेद के प्रत्येक अङ्क में नायक प्रतिनायक उपस्थित होंगे और उसमें पताका की स्थिति के कारण एक उपनायक तथा एक उप-प्रतिनायक भी होगा । इस प्रकार ४ × २ = ८ और पताकानायक (उपनायक) तथा पताकाप्रतिनायक (उपप्रतिनायक) = दस नायक-प्रतिनायकों की योजना इसमें की जानी चाहिए । इन उल्लेखों के अतिरिक्त कार्यावस्थाओं और सन्धि-सन्ध्यङ्गों में प्रसंगानुकूल ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे आचार्य विश्वनाथ की दृष्टि में प्रतिनायक चरित्र के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है ।

आचार्य विद्यानाथ, शारदातनय एवं शिङ्गभूपाल

प्रतापरुद्रीय किंवा प्रतापरुद्रयशोभूषण के आचार्य विद्यानाथ (जोकि विश्वनाथ के लगभग समकालीन हैं) का महत्त्व यही है कि उन्होंने आचार्य दण्डी की एक कारिका को किंचित् परिवर्तन के साथ उद्धृत करते हुए प्रतिनायक के महत्त्व को स्वीकार किया है । वे कहते हैं :--

'अथवा प्रतिपक्षस्य वर्णयित्वा गुणान् बहून् ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनं च मतं क्वचित् ।।' प्र० रु० नायकप्रकरण ६८

प्रतिनायक का लक्षण न देते हुए भी आचार्य विद्यानाथ ने दण्डी की उपर्युक्त कारिका[१] के माध्यम से अपने को उन आचार्यों की श्रेणी में सम्मिलित कर लिया है जो प्रतिनायक के महत्त्व को स्वीकार करते हैं । इस रूप में वे भी दण्डी की भांति नायकोत्कर्ष चित्रण के निमित्त प्रतिपक्ष, रिपु अथवा प्रतिनायक के उत्कर्ष (वंश वीर्य आदि के उत्कर्ष) वर्णन को उपयोगी मानते हैं । विद्यानाथ का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि परवर्ती आचार्य नरसिंह कवि ने उनके प्रतापरुद्रयशोभूषण के आधार पर अपने शास्त्रीय ग्रन्थ नञ्जराजयशोभूषण की रचना की है और उसमें उन्होंने प्रतिनायक को व्यापक महत्त्व प्रदान किया है ।

शारदातनय

नरसिंह कवि के प्रतिनायक सम्बन्धी उल्लेखों की चर्चा के पूर्व भावप्रकाशन के रचनाकार शारदातनय एवं रसार्णवसुधाकरकार शिङ्गभूपाल की दृष्टि

१ वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः ।। --काव्यादर्श १।२२

में प्रतिनायक सम्बन्धी यत्किंचिद् उल्लेखों पर दृष्टिनिक्षेप अनुचित न होगा। उनमें भी शारदातनय के भावप्रकाशन की प्रसिद्धि के पीछे दो मुख्य कारण माने जा सकते हैं। एक तो उसका अभिधान आयुर्वेदशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भावप्रकाश' से मिलता जुलता है दूसरे उसमें भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनेक (नाट्य सम्बन्धी) मतों को विस्तार से उद्धृत किया गया है।

वे वस्तुत: नाट्यशास्त्रीय आचार्य हैं और उन्होंने इसी दृष्टि से नायक-नायिका के भेदोपभेदों के साथ ही रस, भाव, नाट्येतिहास, रूपकभेद आदि की विस्तृत विवेचना की है। उनके शृंगार सम्बन्धी उल्लेखों की चर्चा अगली पंक्तियों में होगी यहां यह उल्लेख ही उपयोगी है कि उन्होंने अपने धीरोद्धतनायक का जो लक्षण किया है वह प्रतिनायक चरित्र (जिसे सभी आचार्यों ने धीरोद्धत माना है) की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने धीरोद्धतनायक को 'अकृत्यकारी स्वायत्तसिद्धिर्धीरोद्धतो भवेत्' के रूप में मानते हुए प्रतिनायक को भी लक्षणाक्षित कर लिया है। (प्रतिनायक को नहीं) नायक को अकृत्यकारी कहना नितान्त प्रतिकूल है। वस्तुत: इस रूप में वे इस लक्षण द्वारा प्रतिनायक की ही अकृत्यकारिता की ओर संकेत कर रहे हैं ऐसा मानना चाहिए और इस दृष्टि से वे महावीरचरितम् के प्रतिनायक रावण के अभिप्रायगत स्वरूप की भी ~~मैं~~ व्याख्या करते हैं ऐसा स्वीकार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वे ईहामृग लक्षण प्रसंग में स्पष्टरूप से प्रतिनायक की अनिवार्यता का संकेत करते हुए भी पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का समर्थन करते हैं।

शिङ्गभूपाल

शिङ्गभूपाल के रसार्णवसुधाकर का विषय भी नाट्य ही है। उन्होंने प्रतिनायक का कोई पृथक् लक्षण नहीं दिया है किन्तु प्रतिनायक के महत्त्व को वे स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं यह उनके व्यायोग एवं ईहामृग के लक्षणों से स्पष्ट हो जाता है। उनकी मौलिकता यही है कि व्यायोग रूपक भेद के प्रसंग में वे नायक को नि:सहाय छोड़कर प्रतिनायकों के रूप में बहु प्रतिनायकों की योजना का विधान करते हुए कहते हैं :--

> ख्यातेतिवृत्तसम्पन्नो निस्सहायकनायक: ।
> युक्तोऽवमर्शै: ख्यातैरुद्धतै: प्रतिनायकै: ।। --रसार्णव० ३।२२६

एक अकेले नायक की प्रतिद्वन्द्विता में प्रसिद्ध उद्धत किन्तु अवर दशप्रतिनायकों के माध्यम से रौद्र-रस के उनके व्यायोग का लक्ष्य कौन सा रूपक रहा होगा कहना कठिन है किन्तु उनके आदर्श नाट्यशास्त्री आचार्य धनञ्जय (दशरूपककार) हैं इसे वे स्वयं स्वीकार करते हैं।[1] इसके अतिरिक्त शिङ्गभूपाल ने ईहामृग के लक्षण में भी `धीरोद्धतस्तु प्रख्यातो दिव्यो मर्त्योऽथ नायक:`[2] तथा `स्त्रीनिमित्ताभिसंरम्भ: पञ्चषा: प्रतिनायका:` के रूप में अकेले धीरोद्धत नायक की प्रतिद्वन्द्विता में पांच-पांच प्रतिनायकों की योजना पर बल दिया है।

इस प्रकार शिङ्गभूपाल ने नायक के उत्कर्ष को दिखाने के लिए जिस विधा को अपनाने पर बल दिया है वह है प्रतिनायक की शक्ति का उत्कर्ष। एक अकेले नायक की प्रतिद्वन्द्विता में दस-दस, पांच-पांच प्रतिनायकों की यह योजना पूर्णत: नवीन तो नहीं है किन्तु उसके पोषण में नायक को एकाकी छोड़कर उन्होंने किंचित् मौलिक बात कही है। इस सिद्धान्त स्थापना से प्रतिनायक के महत्त्व को उन्होंने किस सीमा तक स्वीकार किया है इसे पुन: कहने की आवश्यकता नहीं है।

नरसिंह कवि

इस शृंखला में नञ्जराजयशोभूषणकार प्रतिनायक के सम्बन्ध में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में शिङ्गभूपाल, शारदातनय, विद्यानाथ एवं आचार्य विश्वनाथ की अपेक्षा अधिक मुखर हैं। उन्होंने प्रतिनायक का लक्षण दिया है, उसके भेद किए हैं तथा विभिन्न रसनायकों के उल्लेख के रूप में प्रतिनायकगत रसों में रसाभास की स्थिति को स्वीकार किया है।[3] जैसा कि ग्रन्थाभिधान साम्य से भी परिलक्षित है नञ्जराजयशोभूषणकार पर प्रतापरुद्रयशोभूषणकार विद्यानाथ का स्पष्ट प्रभाव है। फिर भी निश्चित रूप से अपनी रसवादी दृष्टि के कारण उनमें मौलिकता के दर्शन किए जा

----

१ रसार्णव ३।१२ २ रसार्णव ३।२८४-८८

३ द्रष्टव्य, गायकवाड ओरियण्टल सिरीज़ के अन्तर्गत, ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट बड़ौदा से १९३० में प्रकाशित एवं ई० कृष्णमाचार्य द्वारा सम्पादित- नञ्जराज-यशोभूषण, पृ० ७५ से ७७ तक।

सकते हैं। प्रतिनायक के सम्बन्ध में भी उनके विचारों में विद्यानाथ की अपेक्षा प्राचीन आचार्यों का प्रभाव है। वे कहते हैं :--

व्यसनी पापकृद्वेष्य: नेता स्यात् प्रतिनायक: ।
यथा रावणाद्य: । न० य० विलास ६

लक्षण की दृष्टि से यहाँ प्रतिनायक को नेता मानना, उसका ईर्ष्यालु अथवा विद्वेषी होना, उसका व्यसनी एवं पापभावना से युक्त होना स्पष्ट परिलक्षित होता है। अपने इस लक्षणपरिवेश में नञ्जराजयशोभूषणकार प्राचीन आचार्यों के निकट होते हुए भी प्रतिनायक के क्रमागत 'धीरोद्धत' विशेषण का परित्याग करके उनसे पृथक् हो जाते हैं। प्रतिनायक को नेता के रूप में स्वीकारते हुए वे सम्भवत: शृङ्गारप्रकाशकार के उस मत का अनुमोदन करते प्रतीत होते हैं जो प्रतिनायक को धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित एवं धीरप्रशान्त प्रतिनायक के रूप में विभक्त करता है। नरसिंहकवि प्रतिनायक को धीरोद्धत भी मानते हैं ऐसा कहा जा सकता है क्योंकि द्वेष की भावना की अभिव्यक्ति का वह भी एक माध्यम हो सकता है। किन्तु उसे ऐकान्तिक गुण न मानकर सम्भव है वे इकार जैसी औद्धत्यहीन भूमिका को भी संकेतित करना चाहते हों। इस दृष्टि से विभिन्न रूपकप्रबन्धों में रावण (आदि) की विभिन्न भूमिकाओं को भी सम्भवत: वे 'यथा रावणाद्य:' कहकर व्याख्यायित करना चाहते हैं क्योंकि उन्होंने प्रतिनायक लक्षण में औद्धत्य के परित्याग द्वारा प्रतिमानाटकम्, अभिषेक, महावीरचरितम् तथा प्रसन्नराघवम् जैसे रूपकों में रावण के पूर्णोद्धत, अर्धोद्धत एवं औद्धत्यहीन-सी प्रतीत होने वाली भूमिकाओं को भी अपने लक्षण में समाहित कर लेने का प्रयास किया है।

नरसिंहकवि ने रसों को दृष्टि में रखते हुए नायकों का नया वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। अङ्गीरसों के आलम्बनभूत नायकों में रसानुकूल अनुभावों को आधार मानकर उन्होंने नायकों के शृङ्गाररसनायक, वीरनायक, हास्यनायक, रौद्रनायक, भयानकनायक आदि नये नामकरण किए हैं[1]। इन नायकों का उल्लेख वे रूपक भेदों

---

१ प्रसङ्गात् सर्वनायका: कथ्यन्ते :--
रणाभिमानान्वित: सर्व-प्रहारी गर्वदुर्वह: ।
महाभितो महोत्साह: कथ्यते रौद्रनायक: ।।
अव्यक्तवचनो दीनो मोहदाहत्वरान्वित: ।
लोकेषु प्रयुक्त: स्याद् भयानकनायक: ।।
जितेन्द्रियो जितक्रोध: संयुक्त सात्विकादिभि: ।
सदानन्दी सत्ववेदी धीरोऽसौ शान्तनायक: ।।--न०य० विलास ६, पृ० ७६-७७

के लक्षण निर्धारण में भी करते हैं, वे कहते हैं :--

अङ्के प्रख्यात वृत्तं स्याद् रसस्तु करुणो मत: ।
नेतार: प्राकृता मर्त्या: कथ्यन्ते नाट्यवेदिभि: ।।

तन्नायकस्तु:- चिन्तादैन्यसमापन्नो वञ्चितो प्रतापवान् ।
विस्मृत: प्राप्तनिर्वेदो योऽसौ करुणनायक:।।

न० य० विलास ६

इसी प्रकार से सर्वनायकों की चर्चा करने के उपरान्त वे इन रूपक-प्रबन्धों में नायक प्रतिनायक की योजना पर प्रकाश डालते हैं और उपनायक की ओर भी संकेत करते हैं :--

एवम् द्विविधौ प्रोक्तौ नायकप्रतिनायकौ ।
किञ्चिदूनगुणो दु:खी प्रियस्तस्योपनायक: ।।

कारिका में दिया गया पद `नायकप्रतिनायकौ` महत्वपूर्ण है । शृङ्गारनायक, रौद्रनायक, वीर एवं करुण आदि नायक सम्बन्धी रसाश्रयी-नायक भेदों को आधार मानकर तदनुसार प्रतिनायकों को भी शृङ्गारी प्रतिनायक, रौद्रप्रतिनायक, वीरप्रतिनायक, करुणप्रतिनायक, बीभत्सप्रतिनायक, हास्यप्रतिनायक, भयानकप्रतिनायक अद्भुत एवं शान्तप्रतिनायक के रूप में विभक्त करने की यह पद्धति पर्याप्त मौलिक है । इनमें से अनेक प्रतिनायकों का स्वरूप निर्धारण एवं उनके उदाहरण खोजना कठिन नहीं है । इस प्रकार के विभाजन के आधार पर उनके सहायकों को भी विभक्त किया जा सकता है जिन्हें उपप्रतिनायक मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती । यह मानते हुए कि उन्होंने प्रतिनायक को भी `नेता` माना है, कारिका के उत्तरार्ध में उपनायक सम्बन्धी उनका कथन इस तथ्य के समर्थन में प्रस्तुत किया जा सकता है ।

नरसिंहकवि ने अपनी कारिकाओं को प्राचीन आचार्यों की पद्धति पर यदि वृत्ति के साथ दिया होता तो इन विषयों से सम्बन्धित उनके सिद्धान्तों पर व्यापक प्रकाश पड़ता किन्तु उसके अभाव में उनके विचारों को ऐसे सूत्रों के रूप में ही देखा जा सकता है जो विचारों को जन्म देते हैं । इसी कारण यह भी कहा जा सकता है कि एक ओर जब उपर्युक्त रसनायक अङ्गीरसों के आलम्बन होंगे तो प्रतिनायक निश्चित रूप से रसाभास का कारण होगा । इस रूप में संक्षिप्त किन्तु मौलिक दृष्टि से

नरसिंहकवि ने नायक प्रतिनायक के मध्य एक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है और तदनुसार प्रतिनायक के महत्त्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है ।

शकार का प्रतिनायकत्व

भरतमुनि ने प्रतिनायक का उल्लेख न करते हुए भी शकार की भाषा, गति, प्रकृति पर अपने विचार व्यक्त किए हैं । जिसके आधार पर इस महत्त्वपूर्ण भूमिका पर यहाँ विचार करना आवश्यक है । भास के `चारुदत्तम्` में शकार की भूमिका ही मृच्छकटिकम् में शकार के रूप में अवतरित हुई है ; इसमें सन्देह नहीं है । किन्तु भास के चारुदत्तम् के अपूर्ण रूप में प्राप्त होने के कारण मृच्छकटिकम् के अन्तिम अंकों में प्रयुक्त शकार की भूमिका की ऐतिहासिकता अनुमान का ही विषय है । शकार की लम्पटता, उसका असम्बद्ध प्रलाप, उसकी कामुकता, उद्दण्डता और दुश्चरित्रता आदि जो मृच्छकटिकम् में देखने को मिलती है और जिसका संक्षिप्त सा-स्वरूप जो `चारुदत्तम्` में भी मिलता है उसके आधार पर वह नितान्त नायक विरोधी पात्र है उसका उद्देश्य नायिका को वश में करना ही है किन्तु वह पथभ्रष्ट होकर नायक के पीछे पड़ जाता है[१]।

नाट्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में हम पाते हैं कि शकार की भूमिका पर भरत, विश्वनाथ एवं शारदातनय ने कुछ विस्तृत चर्चा की है । विस्तार से तात्पर्य है अन्य आचार्यों की अपेक्षा इनकी मुखरता है । उनमें भी भरतमुनि के ही लक्षणादि को इन दोनों ने दुहराया है । भावप्रकाशकार ने तो भरत की कारिकाओं को ही कहीं-कहीं उद्धृत कर दिया है, दूसरी और दशरूपक एवं नाट्यदर्पण में शकार का स्वरूप अन्तःपुर के सहायकों तक ही सीमित है । अतः इन आचार्यों ने ही भरत के बाद लक्ष्य-रूपकों में लुप्त होते जा रहे शकार के चरित्र को किंचित् महत्त्व दिया है ऐसा कहा जा सकता है ।

---

१ ' He is entroduced to us as ~~Sharmda~~ CHARUDATTA'S co-suitor, seeking VASANTSENA'S hand per force and thus presents a good contrast to him. '

— Dr. G V Devasthali

भरत और शकार की भूमिका

मृच्छकटिकम् के शकार को ध्यान में रखते हुए उसके शास्त्रीय पक्ष पर जब हमारा ध्यान जाता है तो हमें उसके चरित्र में तीन विशेषताएं दिखाई देती हैं। उसकी भाषा, उसका स्वभाव एवं उसके कर्म। वह प्रकृति से अधम पात्र है और अधम प्रकृति की भूमिकाओं के सम्बन्ध भरतमुनि स्पष्टरूप से कहते हैं :--

रूक्षवाक्या दुराचारा निःसत्त्वाः स्वल्पबुद्धयः ।
क्रोधना घातकाश्चैव कृतघ्नाश्छिद्रदर्शिनः ।।
वृथारम्भप्रवक्ताश्च यत्किंचिद्धाविनोल्पकाः ।
पिशुनाः पापनिरताः स्त्रीलोलाः कलहप्रियाः ।।
मान्यामान्यविशेषाणामनभिज्ञाश्च तस्कराः ।
एभिर्दोषैश्च संयुक्ताः प्रकृत्याधमाः स्मृताः ।।

--भरत, १८।८७-८६

यदि उपर्युक्त विशेषणों के साथ एक वचन का प्रयोग करके उसे शकारका लक्षण मान लें तो यह सारे ही गुण उसमें देखे जा सकते हैं। इस परिप्रेक्ष्य से संस्कृतरूपकों को देखते हुए कोई भी अधम भूमिका इतनी सटीक सिद्ध नहीं की जा सकती जितनी कि शकार की भूमिका। यहां यह संकेत कर देना अनुचित न होगा कि प्रतिनायक की भूमिका कहीं भी अधम भूमिका नहीं है। पहले भी कहा जा चुका है, अपने धीरोद्धत स्वरूप में वह एक उत्तम प्रकृति की भूमिका है। अतः शकार तो प्रतिनायक, नायक-विरोधी भूमिका होते हुए भी संस्कृत के सामान्य प्रतिनायक से पृथक् है। उपर्युक्त अधम प्रकृति के लक्षण को ध्यान में रखकर यदि भरतमुनि के शकार लक्षण को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे शकार को नाना दुर्गुणों से युक्त (बहुविकारी) और अधम मानते हैं। वे कहते हैं :--

उज्ज्वलवस्त्राभरणः कुप्यत्यनिमित्ततः प्रसीदति च ।
अधमो मागधीभाषी भवति शकारो बहुविकारः ।।

--भरत, १८।१०२

अर्थात् आहार्य अभिनय की दृष्टि से वह श्वेत वस्त्र धारण करता है, स्वभाव से अधम प्रकृति का है और अकारण ही क्रुद्ध तथा प्रसन्न होता है। वह

कर्म की दृष्टि से अनेक दुर्गुणों और दुर्व्यसनों से युक्त है तथा भाषा की दृष्टि से शकार-बहुल भाषा का प्रयोग करता है। उसके वस्त्रों की उज्ज्वलता तथा चरित्र का दुर्गुणों से युक्त होना ऐसे वैषम्य की ओर संकेत करता है जो उसके चरित्र का महत्वपूर्ण पक्ष है अर्थात् वह ऊपर से जितना निर्मल है मन से उतना ही काला है।

भरतमुनि ने इस प्रकार से उसके गुणों के परिप्रेक्ष्य में उसके स्वभाव एवं कर्मों के आधार पर निश्चितरूप से उसे प्रतिनायक से पृथक् माना है ऐसा कहा जा सकता है। उसका अनिमित्तकोप एवं अकारणप्रसन्नता उसे मूर्ख सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है, उसकी यह विशेषता अधमप्रकृति के संदर्भ में `स्वल्पबुद्धि`, `वृथारम्भप्रसक्तता` एवं `मान्यामान्यविशेषाणामनभिज्ञता` जैसे गुणों के अनुरूप है[१]। भरतमुनि शकार के इस गुण, कर्म एवं स्वभाव की चर्चा के अतिरिक्त अभिनय की दृष्टि से उसकी गति की भी चर्चा करते हैं, वे कहते हैं :—

वस्त्राभरणसंस्पर्शैर्मुहुर्मुहुरवेक्षितैः ।
गात्रैर्विकारविक्षिप्तैर्लम्बवस्त्रस्रजा तथा ।।
समर्पिता घूर्णनया शकारस्य गतिर्भवेत् । भरत १२।१४६-५०

अर्थात् शकार लम्बे-लम्बे वस्त्र धारण करता है, लम्बी माला धारण करता है, किसी शारीरिक दोष (यथा कन्धा लटकाये, टेढ़ा किए हुए या उठाये हुए या किंचित् लंगड़ाता हुआ आदि) से युक्त होता है, अपने वस्त्रों एवं आभूषणों को बार-बार स्पर्श करता है, नेत्रों को छोटा करके देखता है अथवा धीरे-धीरे देखता है। वह अव्यवस्थित पगों से अथवा छोटे-छोटे डग भरता हुआ[२] गर्वपूर्वक चलता है। भरत इसके पूर्व ही `शकारस्यापि कर्तव्या गतिश्चंचलवेशिका` के रूप में विधान करते हैं कि उसकी गति ऐसी होनी चाहिए कि उसकी शारीरिक चंचलता आभासित हो। इस गति, वस्त्र एवं आभूषण के

---

१ In the Shakara (SAMSTHANAKA) the poet has created a character unique in Sanskrit dramatic literature, combining the fool and villan of the worst type in one. — M R Kale, Introduction to Mrichchakatikam

२ अनिबद्धपदच्छन्दस्तथा चानियताक्षरम् ।
अर्थापेक्षाक्षरयुतं ज्ञेयं चूर्णपदं बुधैः ।। भरत १८।५२

माध्यम से और उसके पुनः पुनः स्पर्श द्वारा जिस भाव की अभिव्यक्ति होती है वह है उसका सम्पन्न और विलासी होना ।

अभिनवगुप्त ने भरत की इन कारिकाओं पर अभिनवभारती में जो तथ्य प्रस्तुत किए हैं वे अधिक स्पष्ट नहीं हैं । उन्होंने महाकवि भीम के 'प्रतिज्ञा-चाणक्य' में राजा विन्ध्यकेतु को बार-बार शकार कहने का जो तथ्य उद्घाटित किया है वह भी उस रचना की उपलब्धि के अभाव में अस्पष्ट ही है[1] फिर भी उन्होंने भरत के आधार पर ही उसे आर्येतर जाति का माना है । भरत के 'शकाराभीर-चाण्डाल०'(१७।५०) तथा 'शकाराणां शकादीनाम्'० (१७।५४,५५) के आधार पर यह स्पष्ट है कि उसकी भाषा आर्य भाषा अथवा संस्कृत भाषा से पृथक् होती है । वह शकार-बहुला-मागधी अथवा विभाषा (डाइलेक्ट) का प्रयोग करता है । अपने इस स्वरूप में शकार एक ऐसी भूमिका है जिस पर भारतीय संस्कृति और संस्कारों का प्रभाव नाममात्र का भी नहीं होता । चारुदत्तम् एवं मृच्छकटिकम् में इसी कारण हम पाते हैं कि उसे इतिहास का किंचित् भी ज्ञान नहीं है[2]।

जैसा कि कहा जा चुका है दशरूपककार ने शकार को महत्त्व नहीं दिया है । वे 'तत्तु कार्यान्तरेषु सहायान्तराणि योज्यानि' के साथ अन्तःपुर में वर्षवर, किरात, मूक, वामन तथा म्लेच्छ, आभीर आदि के साथ शकार की भी योजना करने का विधान करते हुए उन्हें अपने-अपने कार्य में उपयोगी बताते हैं[3]। शकार के सम्बन्ध में उन्होंने 'राज्ञः स्यालः हीनजातिः' कहा है जिसका आधार मुख्य रूप से भरत के उक्त प्रकृति के पात्रों में खोजा जा सकता है ।

---

१ 'प्रतिज्ञाचाणक्य' इस अभिधान के अतिरिक्त विन्ध्यकेतु से मलयकेतु का अभिधानसाम्य पृथक् विवेचना का विषय है । साथ ही मलयकेतु के चरित्र में शकाराभास भी पृथक् ~~भी पृथक्~~ विवेचना-सापेक्ष है ।

२ चारुदत्तम् १।१२ एवं मृच्छ० १।३०

३ अन्तःपुरे वर्षवराः किराताः मूकवामनाः ।
म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः॥ द०रू० २।४४-४५

इसी भांति नाट्यदर्पणकार ने भी उसकी गणना ऐसी ही भूमिकाओं के साथ की है, वे कहते हैं कि विदूषक, क्लीब, शकार, चेट, विट, किङ्कर आदि नीच (अधम) भूमिकाएं हैं। इनमें भी विदूषक हास्य के लिए उपयोगी भूमिका है तथा शकार जोकि हीन जातीय है, राजा का साला होता है तथा विकृत हास्य के लिए उसका उपयोग होता है[१]।

दशरूपक एवं नाट्यदर्पण के आधार पर शकार को राजा के साले के रूप में जो प्रतिष्ठा दी गयी है उसका मुख्य आधार कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् में खोजा जा सकता है। नाट्यदर्पणकार का स्पष्टीकरण कि राजा के सभी साले शकार नहीं होते ; इसका भी मुख्य आधार यही है। किन्तु उसका हीन जाति होने के साथ-साथ राजा की पत्नी का भाई होना महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में उसकी उपयोगिता को मात्र विकृतहास्य तक सीमित रखना भी चिन्त्य है। ऐसा नहीं है कि इन आचार्यों ने मृच्छकटिकम् और चारुदत्तम् में शकार की भूमिका को और चारुदत्त एवं वसन्त सेना के चरित्र के उत्कर्ष की दृष्टि से उसके उपयोग को देखा न होगा फिर भी शकार की यह उपेक्षा निश्चय ही संकेत करती है कि इन आचार्यों ने इसका जैसा उपयोग इन रूपकों में हुआ उसे प्रशंस्य नहीं माना है, जिसके पीछे निश्चय ही सामाजिक के समक्ष ऐसे विकृतहास्य एवं विकृत प्रसंगों यथा वसन्त सेना के साथ बलात्कार के प्रयास, इसी के लिए हत्या (भले ही वह झूठी ही हो) आदि को भी उचित नहीं माना है। ऐसी भूमिका के पुनः उपस्थापन के अभाव से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

अस्तु, जहां तक इस भूमिका के लक्षण का प्रश्न है, वह हमें पुनः साहित्य दर्पण में मुखर होता दिखाई देता है। विश्वनाथ ने भरत के बाद सम्भवतः

----

१ नीचा विदूषक-क्लीबशकारचेटविटकिङ्कराः ।
हास्यार्थो नृपे स्यालः शकारस्त्वेकविड् विटः ।। ना० द० ४।१६७
नृपे नृपस्यसम्बन्धी स्यालः पत्नीभ्राता । नीचत्वादेव चार्यहीनजातिः ।
'हास्यार्थ' इति अत्रापि सम्बन्धान्न सर्वो राजपुत्रादिनृपस्यालः शकारः किन्तर्हि,
विकृतहास्यहेतुः परिवारक एव । यही वृत्तिभाग ।

सर्वाधिक उत्साह दिखाया है। इस दृष्टि से, क्योंकि उन्होंने भरत के अधम पात्रों में उसकी गणना करते हुए मृच्छकटिकम् के शकार को उद्धृत भी किया है। वे कहते हैं :- `तद्वद् अवरोधे वामनषण्ढकिरातम्लेच्छाभीरा शकारकुब्जाद्या: ।।` अर्थात् शकार के साथ ही उक्त अन्य भूमिकाएं भी अन्त:पुर-सहायक-भूमिकाएं हैं। शकार के सम्बन्ध में किंचिद् मुखर होते हुए वे कहते हैं :--

मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्त: ।
सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञ: श्याल: शकार इत्युक्त: ।।

- सा० द० ३।४४

अर्थात् मदोन्मत्त- मदसेवी, मूर्ख, अभिमानी, नीचकुलोत्पन्न किन्तु सम्पन्न तथा राजा की अविवाहिता (रखैल) स्त्री का भाई - अर्थात् राजा का साला शकार होता है। साहित्यदर्पणकार के इस लक्षण का लक्ष्य निश्चय ही `मृच्छकटिकम्` है जैसाकि उन्होंने कहा भी है।

भरतमुनि के शकार लक्षण, उसकी भाषा, उसकी गति आदि पर विस्तृत चर्चा करने के उपरान्त भावप्रकाशकार शारदातनय के शकार सम्बन्धी कथनों को उद्धृत करने में अधिक लाभ नहीं है किन्तु उन्होंने भरत के तत्सम्बन्धी कथनों में जिस प्रकार से परिवर्तन-परिवर्धन करके उन्हें प्रस्तुत किया है उससे शकार के महत्त्व पर अवश्य प्रकाश पड़ता है। इस दृष्टि से उनके कथन कहीं-कहीं विचारसापेक्ष हैं। उन्होंने `विभाषा` बोलने वाली भूमिकाओं की गणना करते समय शकार का भी ध्यान रखा है[1]। भरत की भांति उन्होंने भी शकार को `शकारप्रायभाषी` के रूप में `शकारबहुला-भाषा` बोलने वाला माना है। इतना ही नहीं उसके स्वरूप पर वे और प्रकाश डालते हुए कहते हैं :--

शकारा भिक्षुचैत्य शकारप्रायभाषिण: ।
रक्ताशा: कृष्णकेशाश्च लुब्धका बन्धुरास्तथा ।।-भाव०अधि० १०

---

१ शकाराभीरचाण्डालपुलिन्दाशबरास्तथा ।
बालिकागर्भदासाद्यै अपभ्रंशभाषिका स्मृता:।।

--भाव० अधिकार १०

अर्थात् वह शकारबहुल भाषाभाषी[1] तो होता ही है उसके नेत्र लाल लाल, तथा केश काले काले होते हैं, उसका पेट तथा उसके दांत भी बड़े-बड़े होते हैं। इस स्वरूपाख्यान के साथ ही `प्रकरण` रूपक भेद में उसकी स्पष्ट योजना का विधानकरते हुए वे कहते हैं :--

शकार: कुट्टिनीचेटी धर्मशास्त्रबहिष्कृता: ।
विटचेटाख्यौ बाह्या नित्यं प्रकरणे मता: ।।

इस रूप में वे `प्रकरण` इस रूपक-विशेष में उसकी योजना का स्पष्ट विधान करते हुए एक मौलिक तथ्य पर प्रकाश डालते हैं। इसके अतिरिक्त इसके साथ ही वे नाट्यदर्पणकार की उस मान्यता का भी खण्डन कर देते हैं जिसके आधार पर विदूषक की भूमिका को इन अधम भूमिकाओं के साथ गिन लिया गया है क्योंकि विदूषक जोकि अधिकांश लक्ष्य रूपकों में स्पष्ट रूप से एक ब्राह्मण होता है उसे अधम (नीच) मानकर धर्मशास्त्र बहिष्कृत नहीं माना जा सकता[2]। अस्तु, शकार की योजना के सम्बन्ध में उसकी भाषागत उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त उसकी अन्य विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि उसके कथोपकथनों में व्याकरण की कोई व्यवस्था नहीं होती, लिङ्ग[3] आदि की अशुद्धियां स्पष्टरूप से देखी जा सकती हैं; देश, कुल[4] न्याय तथा लोकप्रसिद्ध कथनों के विपरीत कथनों की बहुलता[5] होती है। इसके अतिरिक्त

---

१ मृच्छ० क १।२३

२ द्रष्टव्य ना० द० ४। १६७ एवं वृत्तिभाग

३ मृच्छ० १।१८ में वसन्तसेना के लिए `तपस्वी` सम्बोधन

४ `विश्वावसोर्भगिनीमिव तां कुलाग्राम्` मृच्छ० १।२५, शूरो विक्रान्त: पाण्डव: श्वेतकेतु: पुत्रो राधाया: रावण: इन्द्रदत्त: । आहो कुन्त्यास्तेन रामेण जात: अश्वत्थामा धर्मपुत्रो जटायु: ।।- मृच्छ० १।४७

५ `रावणस्येव कुन्ती` - मृच्छ० १।२१, `द्रौपदीव पलायसे राम भीता`- मृच्छ०१।२५, `अस्मामिस्त्वच्छामिस्त्वं नाथा श्रृगालीव कुक्कुरै; मृच्छ० १।२८ `शृणोमि माल्यगन्धम्, अन्धकारपूरितया पुनर्नासिकया न सुव्यक्तं पश्यामि भूषण-शब्दम्` मृच्छ० अंक प्रथम, पृ० २८ ।

सीधी-सादी बातों को वह इस ढंग से कहता है कि वे निरर्थक हो जाती है[1] :--

आगमलिङ्गविहीनं देशकुल-न्यायलोकविपरीतम् ।
अर्थैकार्थमपार्थं भवति हि वचनं शकारस्य ।।—भाव० अधि० ८

इस प्रकार शकार के सम्बन्ध में शारदातनय कोई बहुत मौलिक बात तो नहीं कहते किन्तु शकार के लक्षण की परम्परा को जीवित रखते हुए तथा लक्ष्य रूपकों को ध्यान में रखते हुए उसके महत्त्व को उन्होंने स्वीकार किया है और भरत की मान्यताओं को किंचित् स्पष्ट करते हुए अपने दृष्टिकोण को व्यक्त किया है ।

सारांश में, शकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका के सम्बन्ध में मध्यवर्ती नाट्यशास्त्रियों की उपेक्षा और कालान्तर में उस पर संक्षिप्त किन्तु सार्थक विवेचना के सन्दर्भ में उसका स्वरूप ऐसे प्रतिनायक के रूप में उभरता है जो संस्कृत रूपकों को नयी दिशा दे सकता था । इसमें दो राय नहीं हो सकती उसका उपयोग करते हुए शूद्रक ने मृच्छकटिकम् के रूप में जो कृति दी वह नितान्त अद्वितीय है । शकार के अभाव में सम्भवतः शूद्रक भी उन्हीं नाटककारों में होते जिन्हें अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता । इतना ही नहीं शकार के अभाव में चारुदत्त का चित्रण भी उतना प्रभावोत्पादक न हो पाता जितना उपलब्ध है । वसन्तसेना भी उसके अभाव में सम्भवतः हिम की मारी कमलिनी के समान कान्तिहीन ही रह जाती क्योंकि शकार के षड्यन्त्रों में तपकर यह दोनों ही चरित्र स्वर्ण की भाँति आलोकित हो उठे हैं ।

जहाँ तक प्रतिनायक से पृथक् शकार लक्षण का प्रश्न है यह स्पष्ट

----

१ 'पलायसे शीघ्रं त्वरितं जवेन सुनृत्यं मम हृदयं हरन्ती' मृच्छ० १।१८
'ब्राह्मणाधिरूढा राजवीथी चौरोषा प्रतिवसति । यथाविराजभ्राता, तथोभावपि मुषितौ, अथ चौरः तथोभावपि शासितौ ।' वही पृ० १६८
'कथं शृगाला उड्डीयन्ते, वायसा क्रन्दन्ति ? तथावद्भावोऽक्षिभ्यां भक्ष्यते दन्तैः प्रेक्ष्यते, तावदहं पलायिष्ये ।' - मृच्छ० वही, पृ० १६६ ।
राजश्वशुरो मम पिता राजा तातस्य भवति जामाता ।
राजस्यालोऽहं ममापि भगिनीपती राजा ।। मृच्छ० ६।७

ध्यान में रखना चाहिए कि दोनों नायक विरोधी भूमिकाएं होते हुए भी और अन्त में आत्म-समर्पण करते हुए भी दोनों में मौलिक भेद है। जैसाकि कहा जा चुका है उनमें प्रथम अन्तर तो यही है कि शकार की भूमिका औदात्यहीन है, वह उद्दण्ड है, उच्छृंखल है, दुष्ट, पापी, और व्यसनी है किन्तु वह धीरोद्धतनायक के धीर और उद्धत गुणों से हीन है। वस्तुत: वह हीन पात्र है। इसी कारण भरतप्रभृति किसी भी आचार्य ने उसमें औद्धत्य के दर्शन नहीं किए हैं, इसी कारण उसमें दर्पमात्सर्य आदि धीरोद्धत नायकगत गुणों का अभाव है, अभाव से तात्पर्य उनका वह स्वरूप नहीं है जो किसी उत्तम अथवा मध्यम कोटि की भूमिकाओं में होता है। उसमें भी ईर्ष्या है, दर्प है, विकत्थना है, चांचल्य है, क्रोध है, छलछद्म, अहंकार है, उद्दण्डता है किन्तु वैसी नहीं जैसी रावण में है। रावण भी सीता के लिए व्याकुल है किन्तु उस रूप में नहीं जिस रूप में शकार है। रावण, सीता की हत्या की कोई भी योजना नहीं बनाता पर शकार योजना ही नहीं बनाता अपने ज्ञान में वह हत्या कर भी देता है। वस्तुत: यदि इसी स्थल पर (वसन्त सेना की हत्या के साथ ही) मृच्छकटिकम् का पटाक्षेप हो जाता तो वह नितान्त `त्रासदी` हो उठता किन्तु ऐसा करना भारतीय नाट्यपरम्परा के प्रतिकूल था पड़ता और शकार का प्रायश्चित्त उसका शोधन, उसका हृदय परिवर्तन, प्रदर्शित न किया जा पाता जोकि संस्कृत नाट्य-परम्परा और भारतीय दर्शन को अभीष्ट है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में नायक के उत्कर्ष चित्रण की दृष्टि से नायक विरोधी अन्य तत्वों की अपेक्षा प्रतिनायक की भूमिका का जो महत्त्व है उसे पुन: कहने की आवश्यकता नहीं है। उसकी योजना अनिवार्य तो नहीं है किन्तु उपयोगी अवश्य है। उसकी भूमिका को जितना अधिक सशक्त रखा जाएगा नायक के चरित्र में उतनी ही सत्थापना हो सकेगी। राम महान् हैं, धीर हैं, उदात्त हैं, भीम वीर है, वीरयोद्धा है, चाणक्य अदम्य उत्साही और महान् कूटनीतिज्ञ है इसकी स्थापना तभी हो सकती है जब सामाजिक पाता है कि रावण, दुर्योधन और राक्षस भी उतने ही उत्साही, वीर और नीतिनिपुण हैं।

सिकता के टीलों को बहा ले जाना किसी सरिता की गति का, वेग का, मापक नहीं हो सकता, उसका सही मूल्यांकन तो तब होता है जब वह बड़ी-बड़ी

चट्टानों को भी अपनी ऊर्मियों के घर्षण से शिवलिङ्गों सा आकार दे डालती है। वे प्रस्तर खण्ड उसी सरिता की दिशा में लुढ़कते हुए चलने लगते हैं। यही है वह आत्म-समर्पण-हृदयपरिवर्तन। नाट्यशास्त्रियों ने प्रतिनायक के लक्षणों में ऐसा कोई स्पष्ट विधान नहीं किया है किन्तु प्रतिनायक को भी नायक मानना, उसे भी धीर और उदात्त मानते हुए एक आदर्श नायक के समकक्ष स्थान देना, इतना ही नहीं उसे नायकों के समान ही धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्तप्रतिनायक के रूप में प्रतिष्ठित करना निश्चय ही ऐसी भावनाओं, आदर्शों और मान्यताओंका समर्थन करता है।

प्रतिनायिकाओं को भी इसी रूप में विभक्त करना भी ऐसी ही क्रान्तिदृष्टि का परिचायक है। प्रतिनायक और प्रतिनायिकाओं और अन्य नायकविरोधी भावों और तत्वों का ऐसा विभाजन, इतना सूक्ष्म वर्गीकरण और इतनी व्यापक विवेचना किसी अन्य संस्कृति और साहित्य में हुई है ऐसा मुझे नहीं लगता जिसके पीछे निहित है भारतीय दर्शन और संस्कृति की कर्मवादी भावना, साहित्य का धर्म, अर्थ और काम परक होना, उसका जीवन के मूल्यों से जुड़ा होना।

-o-

तृतीय अध्याय

-0-

नाट्यसंरचना एवं प्रतिनायक

'सन्निहितनायकाङ्गकश्च कार्यः । ये नायकाः पूर्वं कथिताः ते तत्र सन्निहिताः कर्तव्याः । नायको नायिका नायकौ । एकः प्रधानो नायकः । अपरश्च तस्योपनायकः । हन्तव्यश्च नायक एव ।'

-- नाटकलक्षणरत्नकोश

'फलेन मुखवाक्येन नायक-प्रतिनायक-नायिकामात्यादि-व्यापारैः सम्यगौचित्येन युज्यन्ते यस्मिन् प्रधानगुणाङ्गे च फलागमनावस्थया परिच्छिन्नो निर्वहणसन्धिः ।'

-- नाट्यदर्पण

अध्याय- तीन

-०-

नाट्यसंरचना एवं प्रतिनायक

अध्याय-३

नाट्यसंरचना एवं प्रतिनायक

नाट्यसंरचना एक ऐसी प्रक्रिया है जो काव्य की अपेक्षा अधिक प्रतिभा, क्षमता, श्रम एवं साधनसापेक्ष है। क्योंकि उसके लिए नाटककार को सामाजिक अभिनेता, रङ्गमञ्च, भाषा और भाव की दृष्टि से पृथक प्रयास करना पड़ता है। इसके साथ ही आङ्गिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य अभिनयों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न भूमिकाओं के अनुरूप रूपसज्जा, भावयोजना एवं संवादयोजना भी करनी पड़ती है। अभिनय की दृष्टि से इतिवृत्त का चयन एवं तदनुरूप परिवर्तन परिवर्धन करते हुए उसे रसास्वाद के योग्य बनाना पड़ता है तथा अन्तर्द्वन्द्व-बहिर्द्वन्द्व की योजना के साथ संवादों-कथोपकथनों की दृष्टि से निमित्त सजग एवं सचेष्ट रहना पड़ता है। इस सम्पूर्ण प्रयास को ही संयुक्तरूप से नाट्यसंरचना कहा जाता है।

नाट्यरचना प्रक्रिया के मुख्य अंगों के रूप में नाट्यशास्त्रियों ने पञ्चकार्यावस्थाओं, पञ्चअर्थप्रकृतियों एवं पञ्चसन्धियों को महत्वपूर्ण माना है जिनके माध्यम से कथावस्तु के अनुरूप नायकप्रभृति महत्वपूर्ण भूमिकाओं के क्रियाकलापों को संवादों के माध्यम से संगठित करते हुए अन्तर्द्वन्द्व एवं संघर्ष की योजना की जाती है।

पञ्चावस्थाएं

नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने नाटककार को इस बात का ध्यान दिलाया है कि नायक फलयोग के निमित्त जो व्यापार करता है उसकी पांच अवस्थाएं ग्रथित होनी चाहिए। यही अवस्थाएं प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्तिसम्भव, नियत-फलप्राप्ति की निकटता तथा फलयोग के नाम से जानी जाती है[1]। दशरूपक[2], नाट्यदर्पण एवं साहित्यदर्पणकार

---

१ संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः साधकस्य यः, तस्यानुपूर्व्या विज्ञेयाः पञ्चावस्था प्रयोक्तृभिः।
प्रारम्भश्चप्रयत्नश्च तथा प्राप्तेश्चसम्भवः नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः॥
--ना०शा० १६।८,९

२ अवस्थापञ्चकार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः। आरम्भयत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्तिफलागमः॥
--द०रू० १।१९

ने भी इन्हें आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति, फलागम के रूप में स्वीकार किया है । इन अवस्थाओं में यत्न, प्राप्त्याशा एवं नियताप्ति के मध्य `फलप्राप्ति सुगम नहीं है` यह भावना निहित होती है । हम पाते हैं कि उन रूपक भेदों में भी जिनमें पांचो सन्धियों के विकल्प की स्थिति है,[1] पांचो अवस्थाओं की स्थिति किसी न किसी रूप में अवश्य दृष्टिगोचर हो जाती है । साधारणत: किसी अनुपलब्ध वस्तु को ही प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है इसका आरम्भ ही प्रारम्भ है । यह कार्य की आरम्भिक अवस्था का नाम है उस आरम्भ के उपरान्त बाधाएं आती हैं अत: उन्हें हटाते हुए, उनसे जूझते हुए आगे बढ़ना ही `यत्न` है । इसके फलस्वरूप जिस वस्तु अथवा फल के लिए यत्न किया जा रहा है उसकी प्राप्ति की आशा और कभी उस आशा का निराशा में परिणत हो जाना अथवा उसकी सम्भावना ही प्राप्त्याशा में निहित है । आशा और निराशा अथवा प्राप्ति और प्राप्ति विमुखता के उपरान्त प्राप्ति की आशा का प्रबल हो जाना ही वह चौथी अवस्था है जिसे नियताप्ति कहा जाता है, अन्यथा नियताप्ति के उपरान्त फलागम महत्वहीन हो जाता । किन्तु यह नियताप्ति प्राप्ति की निकटता है बाधाओं का निर्मूल हो जाना इस स्थिति में भी निश्चित नहीं हो पाता है ।

<u>आरम्भ</u> :- `उपायविषयकौत्सुक्यमौत्सुक्यानुगुणो व्यापारस्वारम्भावस्थेत्यर्थ:`
--ना० द० प्रथम विवेक

नाट्यदर्पणकार की इस व्याख्या के आधार पर भरत[2] एवं दशरूपककार

----

1 एते (पंच) तु संधयो ज्ञेया नाटकस्य प्रयोक्तृभि: ।
तथा प्रकरणस्यापि शेषाणां विनिबोधत: ॥
व्यायोगेहामृगौ चापि त्रिसंधी प्रकीर्तितौ ।
नत्योरवमर्शस्तु कर्तव्या कविभि: सदा ॥
डिम: समवकारश्च चतु: सन्धी प्रकीर्तितौ ।
गर्भावमर्शौ न स्यातां न च वृत्तिस्तु कैशिकी ॥
द्विसन्धि तु प्रहसनं वीथ्यङ्को भाण एव च ।
मुखनिर्वहणे स्यातां तेषां वृत्तिश्च भारती ॥ -- भरत १९।४४-४७

2 औत्सुक्यमात्रं बन्धस्य यद् बीजस्य निबध्यते ।
महत: फलयोगस्य सोऽत्र प्रारम्भ इष्यते ॥--भरत० १९।१०

के `औत्सुक्यमात्रमारम्भः` इस लक्षण में फल के प्रति औत्सुक्य का कोई अनौचित्य नहीं है[1]। विशेषकर तब जबकि हम `यत्न` का लक्षण करते हुए दशरूपककार को `प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः` में `तदप्राप्तौ` के रूप में औत्सुक्य-मात्र से नहीं अपितु उसके फल से जुड़ा हुआ पाते हैं। यह फल किसी भी नायक को `काकतालीय न्यायेन` प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है। अपितु अध्यवसायसाध्य है। इसे ही `अवलोक` में स्पष्ट करते हुए धनिक कहते हैं :- `इदमहं सम्पादयामि` इत्यध्यवसायमात्रमारम्भः` यहां `सम्पादयामि` के रूप में वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग भी स्वतः में महत्वपूर्ण है। वस्तुतः आरम्भ की अवस्था को कार्य के प्रति औत्सुक्य की अवस्था मानना ही उचित है जिससे व्यापार की प्रक्रिया आरम्भ होती है। प्रयत्न की वास्तविकता अतित्वरा से सम्बद्ध है किन्तु उसका प्रारम्भ उत्सुकता के साथ ही हो जाता है ऐसा मानना चाहिए। अतः दशरूपककार ने जो सूत्र दिया है नाट्यदर्पणकार उसी के व्याख्याकार हैं वस्तुतः महत्वपूर्ण तो तब होती जब उसकी व्याख्या `प्रयत्न` के रूप में न होती। इसी कारण प्रयत्न की व्याख्या में नाट्यदर्पणकार स्वयं स्वीकार करते हैं कि प्रारम्भ (कार्य अथवा फल के लिए नायक की उत्सुकता) औत्सुक्य है और `प्रयत्न` उस औत्सुक्य की परमावस्था है —`औत्सुक्यमारम्भः परमौत्सुक्यं तु प्रयत्न इत्यर्थः।`

इस रूप में आरम्भ वह अवस्था है जहां नाटककार कथा के बीज का वपन करते हुए नायक के कार्य का आरम्भ कर देता है और इधर प्रतिनायक प्रभृति पात्र भी अपने कार्य-व्यापार के प्रति औत्सुक्य का प्रदर्शन करते हुए उसका आरम्भ कर देते हैं। इस दृष्टि से अभिनवभारतीकार का स्पष्टीकरण अधिक युक्तिसंगत है।-

`मुख्यः प्रधानभूतस्य फलस्य मुख्यमानस्य तत्तन्नायकोचितस्य यदीक्षुपायसम्पत् तस्य यदौत्सुक्यमात्रं वाक्यभवस्मरणोत्कण्ठानुबन्धं, अनेनोपायेनैतत् सिद्ध्यतीति, तस्य बन्धौ हृदये निरूढिः प्रारम्भः, सा च नायकस्यामात्यस्य नायिकायाः प्रतिनायकस्य दैवस्य वा तस्या हि लक्षानुमानाद व्यवस्था।`-- अभिनव० १६।७।८

---

१ डा० सत्यव्रतसिंह - साहित्यदर्पण ६।७९ विमर्श भाग।

अभिनवभारतीकार के इस कथन से एक अन्य तथ्य भी स्पष्ट होता है कि आरम्भावस्था से ही प्रतिनायक के भी कार्यों का आरम्भ होता है । मुद्राराक्षस में चाणक्य की विकत्थनों में,[1] वेणीसंहार में, भीम के क्रोधालाप में,[2] मृच्छकटिकम् में प्रथम अंक में ही विट एवं शकार द्वारा वसन्तसेना का पीछा करने के रूप में,[3] अभिज्ञानशाकुन्तलम् में वैखानस द्वारा `अस्या प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः` के रूप में, महावीरचरित में विश्वामित्र के `रक्षोघ्नानि ....` इस स्वगत कथन में, आरम्भ की स्थिति है जहां आगामी बाधाओं एवं नायक-विरोध की सम्भावनाओं का बीजारोपण कर दिया जाता है । ऐसा आवश्यक नहीं है कि इस आरम्भ अवस्था अथवा बीज के स्थल पर प्रतिनायक उपस्थित हो, किन्तु किसी न किसी रूप में उसका अथवा नायक के कार्य में बाधक तत्वों का संकेत किसी प्रकार किया जाता है ।

यत्न :- जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है दशरूपककार `प्रयत्न` का लक्षण करते हुए कहते हैं :- `प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः` अर्थात् फलप्राप्ति के निमित्त किये जाने वाले उपाय एवं योजनाओं कार्यान्वियन (चेष्टा) ही `प्रयत्न` है । इसे ही और अधिक स्पष्ट करते हुए नाट्यदर्पणकार ने कहा है :--

`प्रयत्नो व्यापृतौ त्वरा । मुख्यफलोपायव्यापारे त्वराऽनेनोपायेन विना-फलं न भवतीति निश्चयेन परमौत्सुक्यं प्रकर्षेण यत्नः प्रयत्नः । औत्सुक्यमारम्भः परमौत्सुक्यं तु प्रयत्न इत्यर्थः ।।` --नाट्यदर्पण विवेक १

तात्पर्य यह कि `प्रयत्न` तो `आरम्भ` इस कार्यावस्था का गतिपूर्ण कार्यान्वियन है जिसमें व्यापार की त्वरा और फलप्राप्ति के नाना उपायों की योजना एवं तदर्थ यत्न किया जाता है, यह परम औत्सुक्य का पर्याय है । `प्रयत्न` तो नायक द्वारा फल को प्राप्त करने का वह यत्न है जिसमें उसके निमित्त षड्यन्त्रों की भूमिका का आरम्भ प्रस्फुटित रूप धारण करने लगता है । मुद्राराक्षस में चाणक्य द्वारा लेख लिखने के साथ ही `अनेन खलु राक्षसो जेतव्यः` की व्यूह रचना इसका सुन्दर उदाहरण है । किन्तु

---

१ `अवकरष्य मधि विश्वे...... आदि` मुद्राराक्षस, पृ० १७

२ `भीमसेन -`लाक्षागृहानल.......` वेणीसंहार, पृ० १४

३ विट-- `क्षिप्रं गच्छ.....व्याधानुसारचकिता हरिणीव यासि`
--मृच्छकटि०,पृ० १७

इसके विपरीत रत्नावली में इसका रूप प्रतिनायिका वासवदत्ता के उपस्थित हो जाने के भय के रूप में है । वस्तुतः यहां एक ओर तो नायक की कार्य-सिद्धिनिमित्तक योजनाएं बनती हैं और उनके लिए गति के साथ व्यापार आगे बढ़ता है । दूसरी ओर उसके मार्ग के बाधक तत्त्व भी अंकुरित होकर उसे और अधिक गतिमान करते हैं । इस स्थल पर नायक-व्यापार और प्रतिनायक-व्यापार की कोई कोटि तो निर्धारित नहीं की जा सकती, किन्तु बाधक तत्त्वों की प्रमुखता ही नायक को आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है और वही नवयोजनाओं के लिए मार्ग-प्रशस्त करती है, ऐसा स्वीकार किया जा सकता है । इसका महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि नाट्याचार्यों ने इसके बाद की कार्यावस्था में कार्यसिद्धि की आशा का वर्णन किया है । अतः नायक एवं उसके कार्य में बाधक तत्त्वों द्वारा अपनी-अपनी स्थिति सुदृढ़ करने की दृष्टि से यह अवस्था महत्त्वपूर्ण है । मृच्छ-कटिकम् में शर्विलक के प्रयत्न नायक चारुदत्त की चिन्ता के कारण बनते हैं और उसके द्वारा चुराए गए आभूषण बसन्त सेना एवं चारुदत्त के मिलन के लिए मार्गप्रशस्त करते हैं । मुद्राराक्षस के द्वितीय अङ्क में विषकन्या द्वारा पर्वतक की हत्या (कन्या तस्य वधाय २।१६), घातक यन्त्रों एवं रसों की असफलता की सूचना आरम्भावस्था की सूचना है और विषकन्या के प्रयोग से पर्वतक के तथाकथित हत्यारे क्षपणक जीवसिद्धि के देश-निकाले की सूचना आदि के माध्यम से एक ओर तो चाणक्य के प्रयत्नों को प्रकाशित किया गया है तो दूसरी ओर स्तनकलश नामक वैतालिक के माध्यम से चन्द्रगुप्त एवं चाणक्य के मध्य कलह-हेतु राक्षस के प्रयत्नों को प्रदर्शित किया गया है ।

प्राप्त्याशा :- प्राप्त्याशा वह तीसरी कार्यावस्था है जिसका लक्षण करते हुए दशरूपककार कहते हैं :-

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः ।।

रत्नावली नाटिका में वसन्तक सागरिका का वेश परिवर्तन कराके राजा से मिलाने की एक योजना बनाता है । यह योजना वह कांचनमाला से मिलकर बनाता है । वस्तुतः यह योजनाएं प्रयत्न के अन्तर्गत आती है । इन योजनाओं का सही मूल्यांकन करते हुए ही कांचनमाला स्वयं कहती है :- 'साधु रे वय[illegible]। साधु, अतिशयितस्त्वया अमात्य यौगन्धरायणोऽप्यया सन्धिविग्रहचिन्तया ।' [illegible]न उपायों का भङ्ग होना पुनः नयी योजनाओं का बनाया जाना इन्हीं संशय और शङ्काओं की

दोला पर आरूढ नायक द्वारा फलप्राप्ति के प्रयत्नों की सफलता की आशा ही प्राप्त्याशा की स्थिति है। समागम होगा भी या नहीं यह आशंका राजा के मन में भी है,[1] सागरिका के मन में भी है और वसन्तक के मन में भी, क्योंकि वासवदत्ता द्वारा इस चोरी के पकड़ जाने की सम्भावना बनी हुई है[2]। किन्तु वसन्तक के यह कहने पर कि बृहस्पति की बुद्धि का उपहास करने योग्य मेरे रहते कैसे मिलन नहीं होगा और जब वह अपनी योजना राजा के सम्मुख रखता है तो राजा को आशा होती है। किन्तु अचानक विदूषक द्वारा वासवदत्ता का नाम ले लेने से एक व्यवधान उपस्थित हो जाता है फिर शीघ्र ही सारा षड्यन्त्र वासवदत्ता को ज्ञात हो जाता है और इस प्रकार यह आशा-निराशा की स्थिति ही वह अवस्था है जिसे प्राप्त्याशा कहा गया है क्योंकि वासवदत्ता को वश में कर लेने की आशा तो राजा को है ही।

वस्तुत: सन्धियों की दृष्टि से,यत्न की अवस्था का अन्त और प्राप्त्याशा की स्थिति का आरम्भ प्रतिनायक अथवा नायक के फलप्राप्ति में बाधक तत्वों के पूर्ण विकास के चरमोत्कर्ष का स्थल है। अभिज्ञानशाकुन्तल के तृतीय अंक में राजा द्वारा तपस्वियों को दिए जाने वाले आश्वासन के पूर्व जिस भय की योजना की गयी है (सायंतने सवनकर्मणि सम्प्रवृत्ते ३।४९) वहां से नायकविरोध के साथ ही नायक के कार्य में उठने वाले बाधकतत्व परिलक्षित होने लगते हैं। चतुर्थ अंक के आरम्भ में ही दुर्वासा का आगमन, उनका शाप, शकुन्तला का वियोग, अंगूठी का खो जाना, राजा द्वारा उसे न पहचान सकना, यह जहां गर्भ सन्धि का स्थल है वहीं नायक के फलप्राप्ति में बाधक-तत्वों के उत्कर्ष का भी स्थल है। नायक की दृष्टि से यहां प्राप्त्याशा की स्थिति धुंधली है और मात्र प्रयत्नों का उत्कर्ष देखा जाता है।

---

१ राजा :-(सपरितोषम्) वयस्य ! कदाचिदपि भविष्यति प्रियायाः ?

—रत्नावली अंक ३

२ वसन्तक :- भोः ! एवं णिवम् ! यदि अकालवातावलीभूत्वा न आयाति देवीवासवदत्ता । वही, अंक तीन

राक्षस की दृष्टि में वैतालिक के गीतों से चन्द्रगुप्त एवं चाणक्य के बीच भेद उत्पन्न कर दिया गया है किन्तु उधर कूटक लेख द्वारा राक्षस को आश्वस्त करके चाणक्य कूट लेख एवं आभूषणों द्वारा मलयकेतु एवं राक्षस के मध्य वैमनस्य उत्पन्न करके अपनी स्थिति सुदृढ़ करता है अन्त में, राक्षस भी चाणक्य की इस चाल को जान जाता है परन्तु तब तक मलयकेतु राक्षस को उस सीमा तक विश्वासघाती समझ लेता है कि राक्षस द्वारा उसे यथास्थिति तक लाना असम्भव हो जाता है अर्थात् राक्षस की निराशा एवं चाणक्य की आशा की यह स्थिति भी प्राप्त्याशा की ही स्थिति है ।

वेणीसंहार में अभिमन्युवध से फैली निराशा की स्थिति, पुनः जयद्रथ-वध और कालान्तर में दुःशासन वध के कारण उत्पन्न आशा की स्थिति प्राप्त्याशा की स्थिति मानी जा सकती है । दुःशासन ही वह मुख्य पात्र है जिससे भीम द्रौपदी के अपमान का प्रतिशोध लेना चाहता है और इसे उसकी पहली विजय माना जा सकता है । अतः यहां दुर्योधन के अन्त की निकटता का भी आभास होता है । भरतमुनि ने इसे और भी स्पष्टरूप में व्याख्यायित कर रखा है उनके अनुसार :--

ईषत्प्राप्तिर्यदा काचित्फलस्य परिकल्प्यते
भावमात्रेण तं प्राहुर्विधिज्ञाः प्राप्ति-सम्भवम् ।।--ना०शा० १६।१२

कुशलमय अथवा सागरिका से मिलन की योजना की ऐकाङ्गिक सफलता भरतमुनि की दृष्टि से फल की 'ईषत्प्राप्ति' होगी । नाट्यदर्पणकार ने भी भरतमुनि की इसी मान्यता को आधार मानकर 'फलसम्भावना किंचित् प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः ।' (ना० द० प्रथम विवेक) ऐसा कहा है । इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं :--

'मात्र शब्देन फलान्तरायोघः प्रतिबन्धनिश्चयः व्यवच्छिद्यते । फलान्तर-संबन्धानिश्चितबाधकाभावाभ्योपायादीनाम् प्रधानफलस्य या सम्भावना न तु निश्चयः सा प्राप्तेः प्रधानफललाभस्याशा प्राप्त्याशा ।' -- ना० द० प्रथम विवेक

'प्राप्त्याशा' इस अभिधान से आशा और निराशा की स्थिति का स्वतः अनुमान किया जा सकता है । वस्तुतः नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से नाटकों और प्रकरणों में 'यत्न' को उत्तर भाग, प्राप्त्याशा एवं प्राप्ति-सम्भव इस अवस्था का पूर्व भाग ; अन्तर्द्वन्द्व एवं बहिर्द्वन्द्व के लिए आदर्श स्थल हो सकता है । अतएव अतित्वरा एवं

उपायापायशङ्का का अपना महत्व है जिसके उपरान्त फलप्राप्ति में बाधकतत्वों का उपशमन होता है और कार्यसिद्धि के लक्षण सुस्पष्ट होने लगते हैं ।

नियताप्ति :- नाटककार विशाखदत्त नाट्यसंरचना की दृष्टि से 'प्रभुवं कार्य-जातं सदरम्'[1] के रूप में इसी अवस्था की ओर संकेत करते हैं । तात्पर्य यह कि इतस्ततः विशृङ्खल कथातन्तुओं को नाटककार जिस स्थल पर एकत्रित करने लगता है वह स्थल ही नायक के कार्य की नियताप्ति की स्थिति होती है । इसे ही 'अपायाभावतः प्राप्तिः'[2] के रूप में नायक के कार्यपथ में, फलप्राप्ति में बाधक तत्वों का उपशमन कहा जा सकता है । नाट्यदर्पणकार ने 'उपायानां साकल्यात् कार्य-निर्णयः प्राप्तिसम्भवः'[3] यह कहकर उपायों की पूर्णता, सिद्धि अथवा सफलता की ओर संकेत किया है- यह नायक के कार्य की, साध्य की नहीं अपितु उसके साधनों के मार्ग की बाधाओं के उपशमन का भी पर्याय है । इसे ही भरतमुनि ने :--

नियतां तु फलप्राप्तिं यदा भावेन पश्यति ।
नियतां तां फलप्राप्तिं सगुणाः परिचक्षते ।। भरत० १९।१३

अर्थात् नायक जब फलप्राप्ति के प्रति एक नियत स्थिति, अर्थात् 'अब तो बाधाएं समाप्तप्राय हैं अतः फलयोग होगा ही' की सम्भावना करने लगता है तो वह 'नियताप्ति' होती है । नाट्यदर्पणकार इसे ही और स्पष्ट करते हुए कहते हैं :-

'प्रधानफलहेतूनां प्रतिबन्धकाभावेन सकलसहकारिसम्पत्त्या कार्यस्य प्रधानफलस्य निर्णयो भविष्यत्येवेतिनिश्चया नियता फलाव्यभिचारि-व्याप्तिनियताप्तिः ।'

--ना० द० प्रथम विवेक

अर्थात् मुख्यफल की प्राप्ति में जो बाधक कारण हैं उनका अभाव हो जाने पर ; फल की निश्चयात्मक (अव्यभिचारि) स्थिति ही नियताप्ति है ।

रत्नावली नाटिका में 'वासवदत्ता' ही सागरिका के मिलन में बाधक है । अतः जब राजा यह निर्णय कर लेता है कि 'वयस्य ! देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि ।' यह स्थिति वस्तुतः नियताप्ति की भूमिका बनती है ।

---

१ मुद्राराक्षस ४।३   २ दशरूपक १।२१, सा०द० ६।७(1)   ३ ना० द० प्रथम विवेक

क्योंकि वेश परिवर्तन एवं अन्य स्थलों पर उदयन की सागरिका के प्रति आसक्ति वासवदत्ता स्वयं देख चुकी है और वह जानती है इसके अतिरिक्त और कोई उपाय भी नहीं हो सकता। अत: उसके `अस्वीकार` का कोई प्रश्न नहीं रह जाता है। राक्षस एवं मलयकेतु के मध्य कलह उत्पन्न करके चाणक्य, मलयकेतु को राक्षस के चित्रवर्मा प्रभृति पांचो मित्रों के वध का आदेश देने की स्थिति उत्पन्न कर देता है और इसे सुनकर राक्षस का धैर्य टूट जाता है और वह किंकर्तव्य-विमूढ हो जाता है। आत्महत्या, तपोवनगमन, अथवा एकाकी युद्ध की बातें सोचना[1] उसके अन्तर्द्वन्द्व को मुखर करता है और अन्त में चन्दनदास का ध्यान आने पर वह इन सभी कर्मों से विमुख हो जाता है। ध्यान देने योग्य तथ्य यही है कि चाणक्य ने और किसी को बन्धन में नहीं रखा, सभी को उसने मुक्त कर रखा है। किन्तु चन्दनदास बन्दी हैं क्योंकि राक्षस का जीवन-मरण चन्दनदास से जुड़ा है और जब राक्षस चन्दनदास का ध्यान करके आत्महत्या, वनगमन एवं युद्ध से पराङ्मुख हो जाता है, बाह्य-संघर्ष भी समाप्त हो जाता है और तब चाणक्य का अवान्तर लक्ष्य कि राक्षस आत्मसमर्पण करे, निश्चित सा हो जाता है, क्योंकि अब प्रतिनायक अपने मुख्य-लक्ष्य से विमुख हो चुका है। यही नायक के मुख्य कार्य की नियताप्ति है। इसी प्रकार वेणीसंहार में दु:शासन की मृत्यु के उपरान्त कर्ण का वध होता है और वहीं पर भीम और अर्जुन का धृतराष्ट्र से साक्षात्कार होता है जहां सारी घटना का, कार्य का संहरण (कार्यजातं संहरन्) का स्थल है और वहीं भीम दुर्योधन की युद्ध योजना बन जाती है, क्योंकि दुर्योधन अब स्वयं युद्ध का उत्सुक हो पहले की भांति लड़ने को तत्पर है और वह अश्वत्थामा को इस कर्म से मना कर देता है। तभी तो युधिष्ठिर `स्वल्पावशेषाजये` की घोषणा करते देखे जाते हैं[2]।

फलागम :— नियताप्ति तो, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, विघ्नों का अपाय स्थल है, नायक की फलप्राप्ति में बाधक तत्वों के पराभव का स्थल है। जिसके उपरान्त फलागम का होना स्वाभाविक ही है। नायक को आरम्भ से लेकर नियताप्ति तक किए गए प्रयत्नों का अभीष्ट फल प्राप्त होना ही फलागम है। भरतमुनि और दशरूपककार इसका समानरूपेण लक्षण करते हैं :—

> अभिप्रेतं समग्रं च प्रतिरूपं क्रियाफलम् ।
> इतिवृत्ते भवेद्यस्मिन् फलयोग: प्रकीर्तित: ।। ना०शा० १९।१४

---

१ मुद्रा० ५।२४ २ वेणीसंहार ६।१

समग्रफलसम्पत्तिः फलयोगो यथोचितः । द० रू० १।२२

अर्थात् रत्नावली की प्राप्ति अथवा दुर्योधनवध या राक्षस द्वारा आमात्य पद स्वीकार करने के उपरान्त उदयन, युधिष्ठिर या चन्द्रगुप्त का चक्रवर्ती हो जाना ही फलयोग है । किन्तु नाट्यदर्पणकार इससे पृथक् एक नवीन दृष्टि से इसका लक्षण करते हुए कहते हैं :--

साक्षादिष्टार्थ-सम्भूतिर्नायकस्य फलागमः ।

अर्थात् रत्नावली रूपी अर्थ की प्राप्ति, दुर्योधनवध के उपरान्त भीम द्वारा द्रौपदी की वेणी का संहार अथवा राक्षस को पराजित करके उसे चन्द्रगुप्त के आमात्यरूप में कार्य करने को बाध्य कर देना ही फलागम है । फलागम का तात्पर्य नाट्यदर्पणकार ने फल लाभ के आरम्भ के रूप में माना है । अपने इसी तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं :--

'साक्षात् अनन्तरं न तु दानादिभ्यः स्वर्गादिफलमिव जन्मान्तरभाविनी इष्टस्याभिप्रेतस्य अर्थस्य प्रयोजनस्य सम्यक् पूर्णत्वेन भूतिरुत्पत्तिः । फलस्यागमः आगमारम्भो न पुनरागतत्वम् । इह फलस्योत्पत्त्यावेशः पञ्चम्यावस्था । उत्पन्नस्य तु नायकेन यः सम्भोगस्तत् प्रबन्धस्य मुख्यं साध्यम् । अतएव फले साध्ये नायकस्य पञ्चावस्थाः सङ्गच्छन्ते । नायकस्येत्यनेन आवस्थान्तराणि सचिवनायिका-विपक्ष-दैवादिव्यापारैरपि फलागमः पुनर्नायकस्यैव निबध्यते ।'

-- ना० द० विमर्श - १

नाट्यदर्पणकार के इस शास्त्रार्थ का पूर्व पक्ष यह है कि फलागम फल नहीं है फल का आरम्भ है । वह नायक के प्रयत्नों का विराम-स्थल है । अर्थात् त्रिवर्ग अथवा चतुर्वर्ग फलप्राप्ति में से किसी की भी सिद्धि किसी इतिवृत्त, कथा, काव्य अथवा रूपकप्रबन्ध का साध्य हो सकता है, किसी नायक-नायिका का नहीं । नाट्य-दर्पणकार का यह चिन्तन नितान्त मौलिक है । क्योंकि जब हम इन अवस्थाओं को किसी नायक के कार्य से जोड़ देते हैं तो पंचम कार्यावस्था फलागम को फल चक्रवर्तित्व लाभ से कैसे जोड़ सकते हैं । नायक के सारे कर्म नायिका को प्राप्त करने के लिए होते हैं, प्रतिद्वन्द्वी को मारने या जीतने के लिए होते हैं तो फिर फलागम क्या होगा ? स्वाभाविक है वह भी रत्नावली लाभ, राक्षस का आत्मसमर्पण, या वेणी का संहार

ही होगा । इसके उपरान्त ही चक्रवर्तित्व, धर्मस्थापना का फल आता है अत: इस रूपक प्रबन्ध के फल अर्थात् लक्ष्य की प्राप्ति का आरम्भ ही फलागम है ।

नाट्यदर्पणकार के स्पष्टीकरण के परिप्रेक्ष्य में यदि भरत एवं दशरूपककार के लक्षणों को देखा जाय तो वे भी कार्यावस्थाओं को नायक के कार्यों से ही जोड़ते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है । भरतमुनि तो स्पष्टरूपेण 'फलार्थिभि:' प्रारब्धस्य सर्वस्यैव हि कार्यस्य अनुक्रमेणैव हि एता: पञ्चावस्था: भवन्ति[1] यह कहते हुए नाट्यदर्पणकार की मान्यता को प्रेरणा देते हैं । दशरूपककार भी 'अवस्था पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभि:'[2] के रूप में उसे फलार्थी-नायक के कार्यों से जोड़ते हैं । किन्तु फलागम का लक्षण करते हुए 'समग्र क्रियाफल' के रूप में भरत एवं दशरूपककार का कथन तथा 'रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्ति:' धनिक की इस व्याख्या ने जो संशय उत्पन्न किया है उसे नायक के फलागम से बहुत पृथक् करके देखने में भी विप्रतिपत्ति की सम्भावना है । प्रतिज्ञायौगन्धरायण में जहां नायक, उदयन नहीं यौगन्धरायण है और मुद्राराक्षस में जहां नायक चन्द्रगुप्त नहीं चाणक्य है वहां उदयन या चन्द्रगुप्त के निष्कंटक राज्य की स्थापना ही इसका लक्ष्य है न कि वासवदत्ता या राक्षस की प्राप्ति, ऐसा भी कहा ही जा सकता है । अत: यदि समग्रक्रियाफल की व्याख्या 'फलारम्भ:' न करके 'फलप्राप्ति:' भी कर ली जाय तो कुछ अनुचित न होगा । वस्तुत: भरत एवं दशरूपककार एक सूत्र देते हैं और नाट्यदर्पणकार उसे विस्तार देते हैं यह मानना ही उपयुक्त होगा।

पञ्च अर्थप्रकृतियां

नाट्यशास्त्रियों ने बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य ये पांच अर्थप्रकृतियां मानी हैं । जिनका सीधा सम्बन्ध रूपक के इतिवृत्त से होता है । हम पञ्चकार्यावस्थाओं के सन्दर्भ में देख चुके हैं कि उनका सीधा सम्बन्ध नायक के कार्यकलापों से है किन्तु अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध इतिवृत्तरूपी दुकूल के ताने-बानों से है । अर्थप्रकृति एवं सन्धियों का जो सम्बन्ध एवं भेद है उसे भी ध्यान में रखना उचित होगा ।

तत्वत: अर्थप्रकृतियां वे तत्व हैं जिनका नाटककार के कथानक से

---

१ भरत० १९।१५   २ द० रू० १।१९

सीधा सम्बन्ध है । नाटककार को एक बुनकर के रूप में देखें तो हम पाते हैं कि उसके पास कई माल हैं कई डिजाइनें हैं । कभी उसे डिजाइन बनाने हैं तो कभी कुछ सादे रखने हैं । उसे जैसा रुचिकर होता है वही कर्म वह आरम्भ करता है । वस्तुत: बीज वह तन्तु है जो किसी भी कर्म में आवश्यक है अत: जहां जहां उस तन्तु को मोड़ा जाता है वह स्थल बिन्दु है । यही 'अवान्तरार्थ विच्छेद का अच्छेद' है । यह ताने बाने ही आधिकारिक इतिवृत्त है । पताका और प्रकरी की योजना अनिवार्य नहीं है उसे कवि रखे या छोड़ दे यह उसकी इच्छा पर निर्भर करता है । जहां तक कार्य इस अर्थप्रकृति का सम्बन्ध है वह नाट्यरचना ही है जिसमें नाटककार के यत्न उपाय आदि सभी सम्मिलित रूप से सन्निहित है, यह अर्थप्रकृति निश्चितरूप से रचनाकारगत है । नाट्य कर्म ही कार्य है और उसकी उपलब्धि ही कार्यरूप अर्थ की प्रकृति अर्थात् मूल है ।

दूसरी ओर सन्धियां हैं, ये एक ओर तो रस एवं भावों की योजना से सम्बन्धित हैं तो दूसरी ओर नाटककार की उस रचनाप्रक्रिया से, जिसे उसने बुना है । नाटककार को अपनी कथावस्तु के अनुरूप 'प्रयोग' करना ही होगा-यदि उसे फूल-पत्तियां बनानी है, उतारचढाव दिखाना है तो तन्तुओं के बिन्दु को उसी प्रकार मोड़ते हुए कर्म करना होगा । यदि पताका प्रकरी की योजना करनी है, घात-प्रतिघात दिखाना है, सुख-दु:ख के चित्र खींचने हैं, संयोग-वियोग को निरूपित करना है, अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि अभीष्ट है तो तदनुरूप सन्ध्यङ्गों की योजना स्वाभाविक है । जहां एक भाव समाप्त दूसरा आरम्भ होगा, जहां उसी भाव की आवृत्ति होगी तो ऐसे सन्ध्यंस्थल सन्ध्यंग होंगे और उस समुच्चय को सन्धि कहा जाएगा[1]। इनकी योजना के विकल्प की, किसी रूपक-प्रबन्ध विशेष में न्यून सन्धियों के विधान या निषेध की यही तर्कसंगत व्याख्या हो सकती है । इस प्रकार सन्धियों एवं अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध यही है कि दोनों नाटककार से सम्बद्ध हैं किन्तु भेद यही है कि अर्थप्रकृतियाँ जबकि नाट्यरचना के लिए चुने गए कथानक की रचना-प्रक्रिया से जुड़ी हैं तो सन्धियां उसके भावों और कल्पनाओं की चित्रविचित्र योजनाओं से जुड़ी हैं । अत: अर्थप्रकृति एवं पञ्चावस्थाओं को मिलाकर पञ्चसन्धियों की सृष्टि का रूपककार प्रभृति का मत अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता है । जिसके

---

१ 'तेनार्थावयवा: सन्धीयमाना: परस्परसङ्गैश्च सन्ध्य:' --अभिनव० १६।३७

पीछे इन तीनों में पञ्चसंख्यात्मक समानता ने ही कहीं अव्यवस्था का निर्माण किया है । नाट्यदर्पणकार ने अर्थप्रकृतियों को पृथक् करके देखा है किन्तु सन्धियों को कार्यावस्थाओं से जोड़ा है । जिसे पूर्णत: उचित भले ही न माना जाए किन्तु उसके पीछे तर्क अवश्य है । किन्तु उनके तर्क तब दुर्बल पड़ जाते हैं जब हम लक्ष्यरूपकग्रन्थों में देखते हैं कि पञ्चावस्थाएं तो अनिवार्य हैं किन्तु पञ्चसन्धियां अनिवार्य नहीं हैं । नाट्यदर्पणकार की व्याख्या का महत्त्व यही है कि उन्होंने अर्थप्रकृतियों एवं पञ्चावस्थाओं के सम्मिलित रूपको ही सन्धि मानने वाले मत को निरस्त कर दिया है ।

प्रतिनायक अथवा अन्य बाधक तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में हम पाते हैं कि ऐसे तत्त्वों की योजना के बीज भी 'बीज' इस अर्थप्रकृति के साथ ही बो दिये जाते हैं । कथावस्तु में जहां प्रतिनायक पर अथवा नायक कार्य के बाधक तत्त्वों पर नायक सफलता की किंचिद् झलक मिलने लगती है वह स्थल बिन्दु होते हैं, वहीं नायक की सफलता एवं प्रतिनायक की असफलता का उद्घाटन आरम्भ हो जाता है । पताका में प्राय: उपनायक एवं उपप्रतिनायक के माध्यम से कथानक को आगे बढ़ाया जाता है और प्रकरी में भी ऐसे तत्त्वों की योजना के अवसर आते हैं ।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में इस प्रसंग को देखा जाए तो उनकी सन्धि सम्बन्धी सभी कारिकाएं 'बीजापेक्षी' हैं और उनके लक्षण 'बीज' के चारों ओर ही घूमते हैं । किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्होंने बिन्दु, पताका, प्रकरी आदि अर्थप्रकृतियों को उपेक्षित कर दिया है । उन्होंने तो इन अर्थप्रकृतियों की यथाविधि योजना की छूट दी है । आचार्य अभिनवगुप्त भी अर्थप्रकृति और सन्धियों के मध्य एक भेदक स्थिति को स्वीकार करते हुए कहते हैं :- '....अन्ये त्वाहु: अर्थस्य समस्तरूपकवाच्यस्य प्रकृतय: प्रकरणान्यवयवार्थखण्डा इत्यर्थप्रकृतय: ; एतच्च व्याख्यानं नातीवप्रकृतं पोषयति । सन्ध्यादीनामपि चार्थप्रकृतित्वमत्र व्याख्याने स्यात् इतिवृत्तमेव च समुदायरूपम् अर्थं इतिवृत्ते प्रकृतय इति वक्तव्येऽर्थग्रहणमतिरिक्तं स्यात्, इत्यवस्थाभिश्च तुल्यता वर्णनं वर्णनमात्रं स्यादिति किमनेन ।' -- अभिनव० १६।२१

अभिनवगुप्त यद्यपि यह भी कहते हैं कि अर्थ-प्रकृतियों को केवल इतिवृत्त से सम्बद्ध मानना उचित नहीं है किन्तु यदि अर्थ-प्रकृति को इतिवृत्त से सम्बद्ध मानकर देखा जाये तो यह तर्क ही अधिक संगत प्रतीत होता है । अभिनवगुप्त स्वयं ही

अर्थप्रकृतियों को `अर्थ: फलं तस्य प्रकृय: उपाया: फलहेतव:` के रूप में मानते हुए `तदेतै: पञ्चभिरुपायै: पूर्णफलं निष्पाद्यते` ऐसा कहते हैं। अर्थात् `नाट्यरचना` इस कर्म की पूर्णता को यदि `अर्थ` अर्थात् फल मान लिया जाये तो कथानक इतिवृत्त ही वह साधन है जो एक पूर्ण रचना को जन्म देगा। इसे ही जहां-जहां रूपकप्रबन्ध है वहां-वहां इतिवृत्त है और जहां इतिवृत्त नहीं है वहां रूपक-प्रबन्ध नहीं है, अर्थ नहीं है, फल नहीं है अर्थात् कार्य रूप पञ्चम अर्थ-प्रकृति भी नहीं है ऐसा कहा जा सकता है। अत: शेष अर्थप्रकृतियों, विशेषकर बीज एवं बिन्दु को, फल का, कार्य का कारण मानने पर उसका सीधा सम्बन्ध इतिवृत्त से स्वत: स्थापित हो जाता है।

नाट्यदर्पणकार ने बीज एवं बिन्दु इन दो अर्थप्रकृतियों को अनिवार्य मानते हुए सन्धियों को `सन्ध्योमुख्यवृत्ताशा: पञ्चावस्थानुगा क्रमात्` कहा है। अर्थात् सन्धियां अवस्थाओं का अनुगमन करती हैं। उन्होंने `अवस्थासमाप्तौ समाप्यन्ते` के रूप में इसका समर्थन भी किया है[1]। इसके साथ ही `व्यायोग` रूपकभेद का लक्षण करते हुए उन्होंने गर्भ एवं विमर्श सन्धि के निषेध के साथ ही प्राप्त्याशा एवं नियताप्ति अवस्थाओं का भी प्रतिषेध कर दिया है :-

`अत्र (व्यायोगे) च गर्भविमर्श-सन्धिप्रतिषेधे एतत्सन्धिपरिच्छेदके प्राप्त्याशा-नियताप्ती अवस्थे प्रतिषिद्धे एव`--(ना० द० द्वितीय विवेक)

अर्थात् `व्यायोग में गर्भ एवं अवमर्श (विमर्श) सन्धियां नहीं होती, अत: स्वाभाविक रूप से प्राप्त्याशा एवं नियताप्ति कार्यावस्थाएं भी नहीं होंगी। इस प्रकार उन्होंने सन्धियों को अवस्थाओं के साथ सम्बद्ध मानते हुए अवस्थाओं का विकल्प निर्धारण किया है। किन्तु यह धारणा भी उचित नहीं है क्योंकि नाटक (रूपक) के

----

१ `मुख्यस्य स्वतंत्रस्य महावाक्यार्थस्यांशा: भागा: परस्परं स्वरूपेण चाङ्गैः सन्धीयन्त इति सन्धय: अवस्थाभि: प्रारम्भादिभिरनुगता: अनुयाता अवस्था-समाप्तौ समाप्यन्त-इत्यर्थ:। अवस्थानां च क्रमावित्वात् सन्धयोऽपि पञ्चावश्यं भाविन:। क्रमादिति मुखादि उद्देशक्रमेणावस्थाक्रमेण च निबध्यन्ते। इह तावत् प्रबन्धनिबन्धनीयेऽर्थो-ऽवस्थाभेदेन पञ्चभिर्भागै: परिकल्प्यते।`

--ना० द० प्रथम विवेक

तीन प्रमुख तत्त्व हैं वस्तु, नेता एवं रस । अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध कथावस्तु से,अवस्थाओं का सम्बन्ध नायक प्रतिनायक के कार्यों से है तथा सन्धियां कथावस्तु को, उसके तन्तुओं को जोड़कर कथाबन्धकर्म निभाती है और नाट्य रस के पूर्णपरिपाक में सहायक होती हैं।

इस प्रकार अर्थप्रकृतियां, कार्यावस्थाओं एवं पञ्चसन्धियों के सन्दर्भ में चार प्रश्न उभरते हैं :- (१) क्या अर्थप्रकृति और अवस्थाओं का समन्वित रूप ही पञ्च सन्धियां हैं ? (२) क्या सन्धियां मात्र-अवस्थानुगा है ? (३) अर्थप्रकृति का सम्बन्ध इतिवृत्त से है जबकि अवस्थाएं नेता-नायक-प्रतिनायक के कार्यकलापों से ही सम्बन्धित है अतः क्या सन्धियां नायक के कार्यों की व्याख्या करती हुई रस से ही सम्बद्ध हैं ? (४) क्या अवस्थाएं भी ऐसे वैकल्पिक तत्त्व है जो किसी कथानक में हो भी सकते हैं और नहीं भी ?

कहा जा सकता है कि सन्धियां उसी सीमा तक अवस्थानुगा हैं कि उनमें नायक के विशृङ्खल कार्य-कलापों को सुनियोजित किया जा सके । किन्तु उनमें कारणकार्यभाव नहीं है । जहां तक सन्धियों और अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध है वहां यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि कथावस्तु को सजाने संवारने किंवा व्यवस्थित करने वाले तत्त्व सन्धियों के माध्यम से ही सक्रिय हो पाते हैं इसे ही 'अन्वयः मुख्यवृत्तांशाः' की व्याख्या कहा जा सकता है । जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है सन्धियां एवं अर्थ-प्रकृतियां नाटककार की रचना प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं और सन्धियां ही अर्थप्रकृति के कथा-तन्तुओं को रसानुकूल-भावानुकूल बनाती हुई मुख्यरस के साधारणीकरण का माध्यम बनती है ।

वस्तुतः नाट्यरचना की दृष्टि से सन्धि वह तत्त्व है जो मुख्यरूप में रसतत्त्व से जुड़ा है । रस की कोटि अथवा मात्रा के आधार पर ही विभिन्न रूपकप्रबन्धों में उनकी योजना का विकल्प निर्धारण हुआ है । हल्केफुल्के नाट्यप्रबन्धों में जहां कथावस्तु संक्षिप्त है वहां नायक के कार्यों की पांचो अवस्थाएं तो रहती है किन्तु अर्थ-प्रकृतियों का विकल्प भी है और सन्धियों का विकल्प भी ।

तात्पर्य यह कि रूपक कोई भी हो चाहे भाण हो या व्यायोग, अंक हो अथवा प्रहसन उसमें नायक के कार्य की पांच अवस्थाएं; फलप्राप्ति के निमित्त औत्सुक्य के साथ कार्य का आरम्भ फिर उसके परमौत्सुक्य के साथ कार्य क्षिप्रता-प्रयत्न, उस यत्न के मध्य आने वाली बाधाओं को दूर करने की योजना-द्वन्द्व-पराक्रम-विक्रम, सफलता असफलता के बीच झूलते हुए धीरे-धीरे फल की ओर बढ़ना; इस प्राप्त्याशा के साथ विरोधी षड्यन्त्रों का निराकरण करते हुए नियाप्ति की स्थिति, और फिर फल का लाभ यह पांचो कार्य तो हर स्थल पर विस्तार अथवा संकोच के साथ होते ही हैं। किन्तु अंक, वीथी, प्रहसन एवं भाण में मुख एवं निर्वहण[1] का ही प्रयोग, समवकार एवं डिम में मुखप्रतिमुख गर्भ एवं निर्वहण का प्रयोग[2], तथा व्यायोग में मुखप्रतिमुख एवं निर्वहण का ही प्रयोग[3] यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि सन्धियों की स्थिति वैकल्पिक है। ठीक इसी प्रकार पांचो अर्थप्रकृतियों में से पताका प्रकरी जैसी अर्थप्रकृति के अभाव में भी अनेक रूपकभेदों के उदाहरण मिल जाते हैं जिससे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि पञ्चावस्थाओं एवं पञ्चअर्थप्रकृतियों के संयुक्त रूप को सन्धि कहना उचित नहीं है।

वस्तुतः इस विवेचन से जो तथ्य प्रकाश में आते हैं वे ये हैं :--

(i) अर्थप्रकृति का सम्बन्ध रूपकों के बाह्य कलेवर से है। जिससे कथावस्तु के ढांचे का निर्माण होता है[4]।

(ii) अवस्थाओं का सीधा सम्बन्ध नायक-प्रतिनायक-नायिका तथा अन्य पात्रों के क्रिया-कलापों से है जो आरम्भ से फलागम तक ऐकान्तिक रूप में विद्यमान रहती है न कि उसका सम्बन्ध नाटककार से है जैसाकि डा० सिंह मुद्राराक्षस की ४।३ को उद्धृत करते हुए मानते हैं[5]।

(iii) सन्धियों का सम्बन्ध रस के परिपाक से है जो नाटककार द्वारा सामाजिक को रस चर्वणा कराने के निमित्त विभिन्न सन्ध्यङ्गों के रूप में कथातन्तुओं और भावों को जोड़ती है[6]।

---

१ द०रू० ३।५९,५४,६८,७१ २ वही ३।६० तथा ३।६३ ३ वही ३।६१

४ बीजं बिन्दु पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयः पंच कथा भेदस्य हेतवः ।।--भावप्रकाशन, ७वां अधिकार

५ द्रष्टव्य : डा० सिंह, मुद्राराक्षस- नोट्स, पृ० ३३०

६ तेन रसमेवायं विभावादि परिकरोयवङ्गमकमिति --अभिनव० १६।१०२

(iv) अर्थ प्रकृतियां एवं सन्धियां वैकल्पिक हैं। अत: वे किसी न किसी रूप में परस्पर सम्बन्धित हैं।

(v) किन्तु पंचावस्थाओं का स्वरूप कथावस्तु के संकोच एवं विस्तार के अनुरूप संकुचित अथवा विस्तृत हो सकता है। किन्तु उनमें से किसी का भी रूपक में अभाव अस्वाभाविक ही नहीं अनाटकीयता का कारण बन सकता है।

अत: अवस्थाएं तो सभी रूपक प्रबन्धों में अवश्यम्भावी हैं किन्तु अर्थ-प्रकृतियों एवं सन्धियों में कुछ की स्थिति वैकल्पिक है[1]। इस कारण ये तीनों परस्पर उस ढंग से सम्बद्ध नहीं हैं जैसाकि दशरूपककार मानते हैं।

<u>पञ्च सन्धियां</u>

मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श एवं निर्वहण ये पांच सन्धियां नाट्य-शास्त्रियों ने मानी हैं।

<u>मुख सन्धि</u> को कथामुख भी कहा जा सकता है क्या के आरम्भ से ही नाट्यकथा का किंचित् आभास हो जाता है इसे ही 'बीजसमुत्पत्ति' के रूप में स्वीकार किया गया है[2]। संस्कृत नाट्यपरम्परा की रसपरकता के कारण इस सन्धि के स्थल पर ही अर्थात् रूपक के आरम्भ में ही ऐसे कथोपकथनों का उपक्रम होता है कि नाटककार एवं प्रयोक्ता जिस रस को अंगी बनाता है उसका आभास हो सके। मुद्राराक्षस एवं वेणीसंहार में हम ऐसा ही देखते हैं और पाते हैं कि वहां क्रमश: चाणक्य और भीम का उत्साह और क्रोध उच्च शिखर पर है जिसमें उन्हें प्रतिद्वन्द्वियों को ललकारते हुए देखा जा सकता है। तात्पर्य यह कि ऐसे रूपकों में नायक द्वारा प्रतिनायक अथवा अन्य बाधक तत्वों के निराकरण का आभास आरम्भ से ही प्रतिष्ठित कर दिया जाता है जिसके कारण उन तत्वों की शक्ति का भी आभास हो जाता है।

१- डा० पाण्डेय संधियों की अनिवार्यता के समर्थक हैं। स्वतन्त्र० पृ. ४४७

२ (क) यत्र बीज-समुत्पत्तिर्नानार्थ रस सम्भवा।
काव्ये शरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम्॥ - भरत० १६।३६

(ख) प्रारम्भभावित्वान्मुखमिव मुखम्। - अभिनव० वही (भरत १९।३९)

(ग) मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा। - द० रू० १।२४

प्रतिमुख सन्धि में बीजरूप से उपन्यस्त कथावस्तु का प्रकाशन किया जाता है अर्थात् बिन्दु इस अर्थप्रकृति का भी यही स्थल निर्धारित किया गया है[1]। उदाहरण रूप में प्रतिपक्ष के भीष्म के वध से एकबार तो पाण्डवों की विजय का आभास होता है किन्तु कर्ण आदि अब भी जीवित हैं यह निराशात्मक स्थिति है। यह स्थिति नायकगत 'यत्न' कार्यावस्था की स्थिति भी है किन्तु प्रतिनायक की दृष्टि से देखें तो वेणीसंहार में अभिमन्यु को मारकर प्रसन्न होने वाले दुर्योधन की स्थिति पर उसी के कंचुकी का आक्षेप उसकी स्थिति को स्पष्ट करता है[2]। इस रूप में भीष्मवध यदि नायक के पक्ष में है तो अभिमन्युवध प्रतिपक्ष की सफलता का सूचक है। किसी की भी स्थिति सामाजिक को अपराजय का निर्णय नहीं होने देती। यही बीज का 'लक्ष्यालक्ष्य' रूप है। मुद्राराक्षस में चाणक्य चन्द्र(गुप्त)ग्रहण की बात सुनकर क्रोधोन्मत्त हो उठता है (यहां से राक्षस को जीतने के लिए लेख लिखने तक) मुख सन्धि का स्थल है जिसमें प्रतिनायक की शक्ति को नगण्य मानने वाले चाणक्य की शक्ति का आभास कराते हुए कथा का बीजोपन्यास किया गया है जो लेख के रूप में उद्भेद पाता है। विराधगुप्त के माध्यम से राक्षस को उसके षड्यन्त्रों की असफलता की सूचना, एवं चाणक्य की कूटनीतिक सफलता का समाचार नायक के कार्य को तीव्र गति से आगे बढ़ाता है, किन्तु चन्द्रगुप्त के आचरणों से एक कलह का दर्शन होता है उससे राक्षस की स्थिति को बल मिलता है। इस प्रकार नायक-प्रतिनायक के यत्नों वाली यह स्थिति प्रतिमुख सन्धि का स्थल है।

गर्भ सन्धि में कथावस्तु का वह भाग आता है जहां नायक के अधिकांश विरोधों का शमन होने लगता है। राक्षस की सान्त्वना के रूप में नायक पर प्रतिनायक का भारी पड़ना फिर बाधक तत्वों की प्रबलता की स्थिति का शिथिल होकर पुनः नायक को नयी शक्ति,

---

१ (क) बीजस्योद्घाटनं यत्तु दृष्टनष्टमिव क्वचित्।
मुखन्यस्तस्य सर्वत्र तद्वै प्रतिमुखं स्मृतम् ।। भरत० १९।४०

(ख) लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।। द० रू० १।३६

(ग) प्रतिमुखं किंचल्लक्ष्यबीजोद्घाटनमन्वितः। ना० द० प्रथम विवेक

२ वेणी० २।२

नयी आशा, दिखायी पड़ना किन्तु उसका भी पूर्ण निश्चयात्मक न होना ही गर्भस्थिति है। मुद्राराक्षस के चतुर्थ अंक में जहां राक्षस को वैतालिक के गीतों के प्रभाव में चन्द्रगुप्त को चाणक्य के विरुद्ध भड़काने में सफलता की सूचना मिलती है वहीं चाणक्य की कूटनीति (भागुरायण की नियुक्ति द्वारा राक्षस मलयकेतु कलह के बीज डालकर) की विजय की सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं। यहां चाणक्य के प्रयत्नों में गति है, तीक्ष्णता है जबकि राक्षस के यत्न कुण्ठित हो उठते हैं, किन्तु किसी की भी विजय की धारणा निश्चित नहीं हो पाती है। उधर वेणीसंहार में कर्ण एवं अश्वत्थामा के कलह से एवं अश्वत्थामा द्वारा युद्धपराङ्मुख हो जाने के बाद चतुर्थ अंक में भीम द्वारा दु:शासन का वध कर देने पर दुर्योधन की शक्ति कुण्ठित हो जाती है। फिर भी दुर्योधन जीवित है अत: विजय निश्चित हो चुकी है ऐसा नहीं कहा जा सकता। उस विजय का अन्वेषण ही 'गर्भ' स्थिति है।

विमर्श सन्धि वह स्थिति है जिसके अन्त तक पहुंचते पहुंचते प्रतिनायक की स्थिति क्षीणतर हो उठती है किन्तु उसके आरम्भिक अवच्छेदों में आशा-निराशा की स्थिति बनी ही रहती है। अन्तर्द्वन्द्व एवं संघर्ष की समाप्ति अभी भी दूर ही रहती है। विमर्श का यही तात्पर्य है कि अभी सन्देह की स्थिति बनी हुई है। अभिनवगुप्त इसे ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं 'संशयनिर्णयान्तरालवर्तिनं हि तर्कं तार्किका: प्राहु:। किं च विमर्श-

---

१ (क) उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव वा।
पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इति संज्ञित: ।। भरत० १६।४१

(ख) गर्भस्तु दृष्ट-नष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहु: । द० रू० १।३६

(ग) बीजस्योन्मुखत्वात् गर्भो लाभालाभगवेषणे: ।। ना०द० प्रथम विवेक

२ (क) गर्भान्निर्भिन्नबीजार्थो विलोभनकृतोऽपि वा।
क्रोधव्यसनजो वापि स विमर्श इति स्मृत: ।। भरत० १६।४२

(ख) क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थ: सोऽवमर्शोऽङ्गसङ्ग्रह: ।। द० रू० १।४३

(ग) अवमर्शसन्धौ तु प्राप्त्यंश: प्रधानफलनिश्चय:....।। ना०द० प्रथम विवेक

सन्धिर्नियतफलप्राप्त्यवस्थयाव्याप्तः, तच्च नियतत्वं संदेहस्येति किमेतत्[1]। अर्थात् 'विमर्श' में सन्देह का मूलोच्छेद नहीं हो पाता है। इस स्थिति में नायक प्रतिनायक के मध्य संफेट, विद्रव, द्रव, शक्ति, छलन, विरोधन, विचलन जैसे संध्यंगो के माध्यम से ऐसे संवादों की योजना होती है जो उनके चरित्र-चित्रण में निश्चय ही सहायक होते हैं। जिनके माध्यम से संघर्ष की प्रखरता, संवादों की प्रभावोत्पादकता, एवं चरित्र-चित्रण की विदग्धता सहज हो उठती है[2]। वेणीसंहार में कर्णवध की सूचना से किंचित् विचलित दुर्योधन यह कहते हुए कि 'या तो मैं अर्जुन के प्राण ले लूंगा या मृत-कर्ण का आलिंगन करूंगा' स्वयं को उस दिन के निर्णायक युद्ध का सेनापति घोषित करता है। जिसके माध्यम से प्रतिनायक के अदम्य उत्साह, उसकी धीरता और शौर्य के साथ ही नायकपक्ष के ऊपर आने वाली विपत्ति का भी आभास होता है। तभी अर्जुन एवं भीम आते हैं, जिनके साथ प्रतिनायक दुर्योधन का विवाद होता है। जिससे भीम एवं दुर्योधन की शक्ति एवं शक्ति के दर्प का प्रदर्शन मुखर हो पाता है। फलस्वरूप दुर्योधन से भीम का युद्ध होता है जिसमें दुर्योधन पराजित होता है और भीम का विजयीरूप अभिव्यक्त होता है[3]। मुद्रा-राक्षस में भागुरायण की नियुक्ति द्वारा मलयकेतु एवं राक्षस के मध्य जो कलह-बीज डाले जाते हैं वे क्षपणकजीवसिद्धि, भागुरायण एवं सिद्धार्थक तथा चाणक्य के अन्य सेवकों द्वारा घिरे हुए राक्षस एवं मलयकेतु के मध्य कलह उत्पन्न कर देते हैं। उधर मलयकेतु, राक्षस के सभी विश्वस्त राजाओं को मरवा डालता है और स्वयं चाणक्य द्वारा बन्दी बना लिया जाता है। इस प्रकार एक ओर राक्षस निराश होता है तो दूसरी ओर वह अपने

----

1 देखें : भरत० १९।४२ पर अभिनवभारती

2 दोषप्रख्यापवादः स्यात् संफेटो रोषभाषणम् ।
विद्रवो वधबन्धादिः द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥
विरोधशमनं शक्तिः तर्जनोद्वेजने द्युतिः ।
गुरुकीर्तनं प्रसङ्गः छलनं चावमाननम् ॥
व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः संरब्धानां विरोधनम् ।
सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना ॥
विकत्थना विचलनम् आदानं कार्यसंग्रहः ॥

— द० रू० १।४५-४८

3 'रक्षो नाहं न भूतः' आदि

— वेणी० ६।३७

शक्ति पर भरोसा करके पाटलिपुत्र में प्रवेश करके नये उपाय सोचने लगता है । अतः चाणक्य की स्थिति दृढ़ तो होती है किन्तु विजय हो जाएगी यह निश्चित नहीं हो पाता यही विमर्श का स्थल है ।

निर्वहण सन्धि वस्तुतः कथानक के उपसंहार की स्थिति होती है । अतः उसमें नायक द्वारा बाधक तत्वों पर विजय प्राप्ति की स्थिति सुतरां स्पष्ट होकर उभरती है ।नाट्य-दर्पणकार कहते हैं :- `फलेन मुख्यसाध्येन नायकप्रतिनायक-नायिकामात्यादिव्यापारैः सम्यगीभित्येन युज्यन्ते सम्बद्ध्यन्ते यस्मिन् प्रधानवृत्ताशे स फलागमावस्थया परिच्छिन्नो निर्वहणसन्धिः । (ना० द० प्रथमविवेक) अर्थात् नायक प्रतिनायकादि के सभी कार्यों का छोटी-छोटी योजनाओं, प्रयत्नों, अनुबन्धों का जो विस्तार रूपकप्रबन्ध में बीजोपक्षेप के साथ आरम्भ होता है उसे एक सूत्र में बांधकर उसके उपसंहार की योजना ही निर्वहण सन्धि का विषय है[1]। इस सन्धि में आश्चर्य अथवा अद्भुतरस की योजना के लिए भी कुछ नाट्यशास्त्रियों का आग्रह रहा है । कुछ रूपकप्रबन्धों में उसकी योजना भी की गयी है । ऐन्द्रजालिक के रूप में अथवा अन्य माध्यमों से ऐसा किया जाता रहा है । वेणी-संहार में भी भीम का बीभत्सरूप और युधिष्ठिर द्वारा उसे न पहचान पाना एक ऐसा ही चित्र उपस्थित करता है । जिसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यही है सामाजिक रस की जिस स्थिति तक पहुंच चुका है रूपक की समाप्ति पर वहां से सामान्य हो सके इसका उसे अवसर मिले । वेणीसंहार में इस सन्धि में भीम द्रौपदी को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाते हुए उसकी वेणियों का सम्भार करता है । मुद्राराक्षस के छठे अंक में सिद्धार्थक द्वारा चाणक्यनीति की जयघोषणा के साथ ही उपसंहार आरम्भ हो जाता है । वह अपने मित्र समिद्धार्थक के व्याज से सामाजिक को सारी स्थिति बता देता है । वहीं यह भी बताता है कि चन्दनदास के वध के लिए उन दोनों (सिद्धार्थक एवं समिद्धार्थक) को ही चाणक्य ने नियुक्त किया है । इस प्रकार प्रथम अंक में बन्दी बनाए गए चन्दनदास

---

१ (क) समानं च अर्थानां मुख्यार्थानां सबीजिनाम् ।
नानाभावोऽन्तराणां यद्भवेन्निर्वहणं तु तत् ।। भरत० १६।४३

(ख) बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।। द० रू० १।४८-४९

के भविष्य की सूचना मिलती है फिर आत्महत्या करने वाले पुरुष द्वारा राक्षस को भी इसकी सूचना मिलती है और वह चन्दनदास को मुक्त कराने की बात सोचते-सोचते आत्मसमर्पण की स्थिति तक आ पहुंचता है । इस प्रकार सम्पूर्ण कार्य का उपसंहार होता है और प्रतिनायक राक्षस चन्द्रगुप्त का आमात्यत्व स्वीकार कर लेता है ।

<u>सन्धियों की उपयोगिता एवं प्रतिनायक</u>

दशरूपककार ने सन्धियों-सन्ध्यंगों को रस की दृष्टि से उपयोगी मानते हुए[1] भी मुख्यरूप से उनको नाटककार के लिए इष्टार्थरचना में सहायक, कथानक को विस्तृत करने तथा गोप्यगुप्ति प्रकाशन के लिये उपादेय तथा नाट्य प्रयोग में चमत्कार उत्पन्न के लिए उपयोगी माना है[2]। नाट्यदर्पणकार ने `चमत्कार' इस प्रयोजन पर बल देते हुए कहा है कि रामकथा का ऐसा भी स्वरूप हो सकता है कि उसमें पांचों अवस्थाएं भी हों, बीज-बिन्दु-पताका आदि भी हों और पांचों सन्धियां भी हों फिर भी चमत्कार का अभाव ही हो[3]। अतः नाटकीय चमत्कार के लिए सन्धियों-सन्ध्यंगों की उपयोगिता यही है कि एक ओर तो उससे कथा सूत्र को बांधा जाता है दूसरी ओर उनसे रसों एवं भावों को निबन्धित किया जाता है[4]। अभिनव गुप्त इसे ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं :-- `सान्ध्यङ्गानि लिखितानि विवक्षितरसभावादिसंपूर्णभावमाञ्चि भवन्ति....... । इतिवृत्तविच्छेदोऽपि हि रसस्यैव पोषकः । (अभिनव० १६।१०२) । अर्थात् सामाजिक को रसचर्वणा कराने की दृष्टि से भी

---

१ बीजानामुत्पत्तिरनेकप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुर्मुखसंधिरिति...।
तेनाभिनेयकाले प्रस्तावो रसोत्पत्तिहेतोरेव बीजत्वम् । --द०रू० १।२४ वृत्तिभाग

२ विवक्षितार्थनिबन्धनं गोप्यार्थगोपनं प्रकाश्यार्थप्रकाशनम् अभिनेयरागवृद्धिः चमत्कारित्वं च काव्यस्येतिवृत्तस्य विस्तर इत्यङ्गैः षड्प्रयोजनानि सम्पाद्यन्ते इति ।।
--द० रू० १।५५ वृत्तिभाग

३ `रामस्य पत्नी रावणेन वनान्तादपहृता, रामेण च जटायुषः समुपलभ्य सुग्रीवं सहाय वानराधिराज्यप्रतिपादनादधिगम्य समुद्रसेतुबन्धमाधाय निहत्य च रावणं प्रत्यानीतेत्यत्र प्रारम्भावस्था निबन्धनीयैः पञ्चभिरपि सन्धिभिर्बीजाद्युपाययुक्तैर्निबद्धे रूपके वृत्तलोपः स्यात् ; तथा च न चमत्कारः ।`--ना०द० प्रथम विवेक

४ (क) यथासन्धि तु कर्तव्यान्येतान्यङ्गानि नाटके ।
कविभिः काव्यकुशलैः रसभावानवेक्ष्य तु ।। भरत० १६ । १०२
(ख) सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया । ध्वन्या० ३।१२

सन्धियों का अपना महत्व है। क्योंकि जिस प्रकार कथा के संक्षिप्त रूप में रस चर्वणा सम्भव नहीं है उसी प्रकार कथा के विस्तार मात्र से भी रस चर्वणा सम्भव नहीं है। इतिहास एवं किसी ऐतिहासिक नाटक के मध्य अन्तर[1] यही है कि वहां कथा का, घटना का विस्तार तो मिल जाता है, चमत्कार भी हो सकता है वहां, किन्तु उसे रसचर्वणा के योग्य बनाने के लिये संध्यङ्गों के माध्यम से ही कथातन्तुओं को जोड़ते हुए विभिन्न विभाव अनुभाव एवं संचारिभावों की योजना भी की जाती है। इन सन्धियों, संध्यंगों के अन्तर्गत नायक-प्रतिनायक-नायिका प्रभृति भूमिकाओं के कार्यों को, घातप्रतिघात को संघर्ष एवं स्नेह आदि नाना व्यापारों को रसानुकूल ढंग से नियोजित किया जाता है।

जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है कि कार्यावस्था एवं अर्थप्रकृतियों की भांति सन्धियां भी पांच हैं। नायक-प्रतिनायक के सन्दर्भ में इनका अवलोकन करते समय कुछ मौलिक प्रश्न उठते हैं :—

(i) नायक-प्रतिनायक का इनसे क्या सम्बन्ध हो सकता है ?

(ii) यदि सन्धियों का सम्बन्ध रस से है तो फिर वह नायक-प्रतिनायक को किस प्रकार प्रभावित करती हैं ?

(iii) सन्धियों की योजना में सन्ध्यङ्गों का क्या महत्व है और सन्ध्यङ्गों का नायक-प्रतिनायक एवं रसपरिपाक से क्या सम्बन्ध है ?

नाटककार, कार्यावस्थाओं के माध्यम से नायक-नायिका प्रतिनायक प्रभृति सभी पात्रों के कार्यों को परस्पर जोड़ता है, तथा सन्धियों एवं संध्यंगों की सहायता से नायक-प्रतिनायक प्रभृति पात्रों और आधिकारिक अथवा प्रासंगिक इतिवृत्त के मध्य एक सामंजस्य स्थापित करते हुए उन्हें सम्वादों, कथोपकथन, अन्तर्द्वन्द्व प्रभृति माध्यमों से रसपुष्टि करता हुआ नाटक अथवा रूपक को सत्य के धरातल पर सामाजिक के समक्ष प्रस्तुत करता है।

रसपरिपाक एक लम्बी प्रक्रिया है अतः सामाजिक को उसकी अनुभूति कराना एक कष्टसाध्य कर्म है। अर्थात् कथावस्तु को ऐसे ढंग से प्रस्तुत करना होता है कि सामाजिक भी उस घटना से, उसके पात्रों से तादात्म्य स्थापित कर सके। सन्धियों एवं सन्ध्यंगों की उन्हीं स्थानों पर योजना होती है जो इस दृष्टि से उपयोगी होते हैं। इसी कारण ऐसे रूपकों में जहां कथावस्तु संक्षिप्त एवं रूपकों का स्वरूप लघु होता है

1- देखें, प्रबन्ध अ० ८ पृ० ३५६, ३६१

कभी सन्धियों की भी आवश्यकता नहीं होती है। अनेक संध्यंग भी छोड़ दिए जाते हैं।

रूपकों को कभी-कभी साधारण मनोरंजन का साधन बनाने की दृष्टि से उन्हें एकाङ्की बनाकर प्रस्तुत किया जाता है वहां स्वत: ही सन्धियों की व्यापकता अप्राप्त हो जाती है। ऐसे रूपकों में नायक का चरित्र, रस का परिपाक, विभिन्न गुण वृत्तियों और अलंकारों को छोड़कर उनकी संक्षिप्तता और क्षिप्रता पर अधिक ध्यान दिया जाता है। यद्यपि रस एवं नायक-प्रतिनायक इन दोनों ही तत्त्वों को दृष्टि में रखते हुए भरतमुनि ने विविध लघु रूपकों के लक्षण किए हैं, किन्तु उन लक्षणों को ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि रस की दृष्टि से इन रूपक-भेदों का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि उनकी कथावस्तु और कथावस्तु की संक्षिप्तता तथा घटनाक्रम की क्षिप्रता की दृष्टि से उनका महत्त्व है।

सन्ध्यङ्गों की योजना एवं प्रतिनायक :-

सन्धियों, उनके अंगों, रस और नायक-प्रतिनायक के सम्बन्धों पर विचार करते समय संध्यङ्गों के स्वरूप पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। आचार्य आनन्दवर्धन ने इसके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है :- 'रसाभिव्यञ्जकत्वे प्रबन्धस्य चेदमन्यन्मुख्यं निबन्धनं, यत्सन्धीनां मुखप्रतिमुखगर्भविमर्शनिर्वहणाख्यानां, तदङ्गानां चोपक्षेपादीनां घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।' --ध्वन्यालोक, पृ० १६५ (३।१४)

अर्थात् रसाभिव्यक्ति के उद्देश्य से ही सन्धि-सन्ध्यंगों की योजना करना उचित है अन्यथा नहीं। अभिनवगुप्त भी इसकी व्याख्या करते हुए इसी तथ्य का समर्थन करते हैं तथा इसे भरतमुनि द्वारा समर्थित सिद्धान्त मानते हैं। अभिनवगुप्त कहते हैं :-'भरतमुनिना सन्ध्यङ्गानां रसाङ्गभूतमितिवृत्त प्रशस्त्योत्पादनमेव प्रयोजनमुक्तम्। न तु पूर्वरङ्गाङ्गवदृष्टसम्पादनं विघ्नादिनिवारणं वा[1]।'

-- ध्वन्यालोक ३।१२ पर 'लोचन'

वस्तुत: सन्ध्यङ्गों पर एक विहङ्गम दृष्टि डालने पर उनके दो

---

[1] तुलना करें : भरत० १६। १०२ पर अभिनवभारती।

मुख्य उद्देश्य ज्ञात होते हैं । प्रथमत:, वे कथावच्छेदक धर्म हैं अर्थात् वे कथावस्तु को विशृंखल होने से बचाते हैं । दूसरे उन्हें सम्वादों की योजना का मुख्य साधन बनाया जाता है । सन्धड्गों की कथावच्छेदकता की दृष्टि से `एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानाम् अवान्तरैकप्रयोजन सम्बन्ध: सन्धि:` दशरूपककार का यह कथन महत्वपूर्ण है । नाट्यदर्पणकार ने भी इसे ही `मुख्यस्य स्वतंत्रस्य महावाक्यार्थस्यांशा भागा: परस्परं स्वरूपेण साङ्गै: सन्धीयन्ते इति सन्धय:` कहकर उन्हें नाट्यरूपी वाक्य के अंशों को जोड़ने वाले तत्व के रूप में स्वीकार किया है ।

अधिकांश दृश्य रूपकप्रबन्धों में नायक-प्रतिनायक प्रभृति भूमिकाओं के मध्य संवादों में ही इन सन्ध्यंगों के आदर्श स्थल मिलते हैं जिसके आधार पर उनका इस दृष्टि से जो महत्व है वह स्पष्ट ही है, इसी कारण साहित्यदर्पणकार ने `प्रायेण प्रधानपुरुषप्रयोज्यानि सन्ध्याङ्गानि भवन्ति` कहकर इनके महत्व को स्वीकार किया है । सन्ध्यङ्गों की यह प्रधानपुरुष-प्रयोजनीयता क्या है इसे समझने के लिए सन्ध्यङ्गों के लक्षण और आचार्यों द्वारा उद्धृत उनके उदाहरणों को देखा जा सकता है ।

जैसाकि कहा जा चुका है नाट्यप्रबन्धों की आत्मा रस है और व्यापक दृष्टि से सारे सम्वाद, अवस्थाएं, अर्थप्रकृतियां तथा अन्य सहायक तत्व उसी के पोषक हैं । किन्तु इस रसाभिव्यक्ति के निमित्त रूपकों का अभिनयपक्ष दुर्बल न होने पाये अत: नाटककार को कथोपकथनों पर विशेष ध्यान देना पड़ता है और संवादों की गतिमत्ता में व्यवधान न आने पाये इसके लिए सन्ध्यंगों की योजना के अवसरों का सार्थक उपयोग करना होता है ।

इसी कारण विभिन्न नाट्यशास्त्रियों में सन्ध्यङ्गों के प्रयोग के सम्बन्ध में मतभिन्य है । दृश्य रूपकों में इन स्थलों को ढूढ़ने का प्रयास नितान्त अव्यावहारिक प्रतीत होता है क्योंकि एक ने एक स्थल पर जहां एक संध्यंग देखा है दूसरे ने उस संध्यंग को अन्यत्र देखा है । इतना ही नहीं एक ही स्थल को एक आचार्य ने यदि एक संध्यंग के रूप में माना है तो दूसरे ने उसे ही किसी अन्य अंग के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है । उदाहरणार्थ मुखसन्धि के अन्तर्गत दशरूपककार ने वेणीसंहार

में द्रौपदी को समाश्वस्त करते हुए भीम के कथन[1] को जहाँ `समाधान` माना है, उसे साहित्यदर्पणकार ने `परिन्यास` का स्थल माना है और दशरूपककार ने जिस उदाहरण को `उद्भेदो गूढभेदनम्` के रूप में दिखाया है उसे साहित्यदर्पणकार ने `समाधान` का स्थल माना है[2]। इन्हें ध्यान में रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि इस वैचित्र्य का कारण अपनी-अपनी धारणाएं हैं ।

वस्तुतः जिस प्रकार किसी कूलगामिनी सरिता अथवा स्रोत के मध्य यह ढूंढना कि उसमें किन-किन स्थलों पर सहायक स्रोत धरती को फोड़कर निकल आए हैं, जो मुख्यधारा को गति देते हैं, नितान्त कठिन है उसी प्रकार किसी रूपकप्रबन्ध में संध्यंगों की खोज भी कठिन है । यही कारण है कि इनके लक्ष्य स्थलों के सम्बन्ध में भारी मतवैभिन्य है । सत्य तो यह है कि नाटककार सन्ध्यंगों का ध्यान रखकर अपनी रचना नहीं प्रस्तुत करता, उसकी योजना में ये तत्व स्वतः उदित और अस्त होते रहते हैं । नाटककार का मुख्य केन्द्र नायक और उसका प्रतिद्वन्द्वी अथवा नायिका एवं अन्य भूमिकाएं होती हैं,उनके मध्य कथोपकथन, कथोपकथनों में भी अभिव्यक्ति की क्षमता,उस अभिव्यक्ति में भी रसात्मकता और मानवीय आदर्श एवं मूल्यों की स्थापना का प्रयास ही मुख्य होता है । अतः रूपकों में सन्धि सन्ध्यंगों की विवेचना का शास्त्रीय महत्व है और किस रचनाकार ने किस ढंग से अपने उद्देश्य को व्यक्त किया है, उसे कितनी सफलता मिली है और उसकी सफलता के क्या कारण हैं इसे देखते समय ही हमारा ध्यान सन्धियों और सन्ध्यंगों पर जाता है ।

संध्यंगों की योजना के सम्बन्ध में इसी कारण धनिक-धनञ्जय, अभिनवगुप्त, भोज, रामचन्द्र-गुणचन्द्र,सागरनन्दी एवं विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों में

---

१ तुलना करें : (क) बीजागमः समाधानं -(द०रू०) यथा वेणीसंहारे- भीमः-
`चञ्चद्भुजभ्रमित`......। वेणी० १।२१

(ख) `सन्धिव्याप्तिः परिन्यासः`(सा० द०)यथा वेणी संहारे --
`चञ्चद्भुज` इत्यादि ।

२ (क)`उद्भेदो गूढभेदनम्`(द०रू०)यथा वेणीसंहारे -(नेपथ्ये) यत्सत्यव्रत...आदि(१।२४)
(ख)`बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते`(सा०द०) (नेपथ्येकलकलानन्तरम्)
`सत्य `यत्सत्यव्रत`...आदि ।

दृष्टि भेद है । दशरूपककार, रुद्रट प्रभृति इनकी अनिवार्यता के पोषक हैं, नाट्य-दर्पणकार भी किसी सीमा तक ऐसे ही रुढ़िवादी है (रुद्रट एवं दशरूपककार की अपेक्षा उदार) किन्तु आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त प्रभृति आचार्य रस अथवा रसध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए 'रसविशेषोपयोगी' और रसाभिव्यक्ति के अनुकूल उनके प्रयोग को स्वीकार करते हैं जिससे स्पष्ट है कि उन्हें छोड़ा भी जा सकता है और उनका क्रम भी तोड़ा जा सकता है[1] ।

इसी कारण कीथ महोदय भी उनके विभाजन के महत्त्व को उचित नहीं मानते हैं[2] । वस्तुतः इनका प्रयोग इस रूप में होना चाहिए कि उनसे कथानक को गति, संवादों को सार्थकता मिल सके और नायक-नायिका एवं प्रतिनायक जैसी भूमिकाओं को उभारा जा सके तथा सामाजिक को परमानन्द सहोदर रस की पराकोटिका आस्वाद कराया जा सके ।

इस दृष्टि से नायक हो अथवा नायिका प्रतिनायक हो अथवा कोई अन्य भूमिका उनके संवादों को, संवादों के माध्यम से उनके चरित्र-चित्रण को प्रभावशाली बनाया जा सकता है । संस्कृतरूपक हों अथवा पाश्चात्य सभी में यह गुण, यह अन्विति, यह विधा मिल जाती है । कथोपकथन वह सशक्त माध्यम है जो सर्वत्र सतत इस उद्देश्य की पूर्ति करता है । वाचिक अभिनय के रूप में इसीलिए इसे भी एक अभिनय का प्रकार मान लिया गया है ।

सारांशरूप में नाटककार अपनी प्रतिभानुसार सन्धियों के स्तम्भों पर सन्ध्यङ्ग रूपी ईंटों, पत्थरों की सहायता से नाट्यरूपी प्रासाद की सृष्टि करता है । जिसमें नींव के रूप में बीज, भित्तियों के रूप में बिन्दु का प्रयोग करता है । इसके निर्माण के बाद नाटककार स्वेच्छया मात्र-आधिकारिक इतिवृत्त के रूप में एक ही बड़े कक्ष का निर्माण करता है अथवा पताका एवं प्रकरी के रूप में उसमें अन्य कक्षों की

---

1 डा० पाण्डेय, स्वतन्त्र० पृ० ४५५-५६

2 संस्कृत नाटक, पृ० ३२०

योजना करता है । यह उसकी योजना पर निर्भर करता है । जिसमें नायक-नायिका अथवा नायक अपने सहायकों के साथ त्रिवर्ग- रूप कार्य की प्राप्ति के निमित्त प्रयास करता है और उसके प्रयास को आरम्भ, यत्न आदि पंचावस्थाओं के रूप में देखा जा सकता है । उनके मार्ग में बाधक तत्त्व कहीं प्रतिनायक के रूप में,तो कहीं प्रतिनायिका के रूप में, कहीं दैवी आपदा के रूप में,तो प्राकृतिक बाधाओं के रूप में, कहीं शाप के रूप में, तो कहीं तिरस्कार के रूप में नाट्यधारा को गति एवं नायक चरित्र को सार्थकता, अर्थवत्ता प्रदान करते हैं ।

- o -

चतुर्थ अध्याय

-o-

नायक-प्रतिनायक सम्बन्ध एवं रस

"नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित् प्रभावातिशयवर्णने तत्प्रतिपक्षाणां यः करुणो रसः स परीक्षकाणां न वैक्लव्यमादधाति प्रत्युत प्रीत्यतिशयनिमित्ततां प्रतिपद्यते ।"

--ध्वन्यालोक

अध्याय- चार

-0-

नायक-प्रतिनायक सम्बन्ध एवं रस

विषय-वस्तु	पृष्ठ संख्या

अध्याय - ४

नायक-प्रतिनायक सम्बन्ध एवं रस

विषय प्रवेश :-

प्रतिनायक की भूमिका का महत्त्व नायक चरित के उत्कर्ष चित्रण के अतिरिक्त यह भी है कि उसके माध्यम से भावाभास एवं रसाभास की योजना करते हुए नाटककार सामाजिक को अङ्गीरस की परम अनुभूति के साथ ही रसाभास एवं भावाभास की अनुभूति के अवसर सुलभ कराने में समर्थ हो पाता है ।

ऐसा नहीं है कि प्रतिनायक के बिना नायक का उत्कृष्ट चित्रण अथवा भावाभास, रसाभास की अनुभूति हो ही नहीं सकती, वस्तुत: प्रतिनायक तो द्वन्द्व, संघर्ष और फल प्राप्ति में बाधक उन सभी तत्त्वों की सामूहिक संज्ञा का पर्याय है जो नायक के चरित को गतिमान करने के साथ ही सामाजिक को परमानन्द की अनुभूति का अवसर प्रदान करता है । किसी पहाड़ी सरिता के मार्ग में आने वाली ऊंची-नीची पर्वतशिलाओं अथवा प्रस्तर खण्डों के रूप में आने वाले अवरोध जिस प्रकार उसकी गति को प्रखरता एवं गतिमत्ता प्रदान करते हैं उसी प्रकार नायक के चरित्र में ये बाधक तत्त्व उसे गति भी देते हैं और अग्नि में तपे हुए सुवर्ण की भांति कान्ति भी देते हैं[1]। विरोधी रसों की योजना द्वारा भी मुख्य रस ही पुष्ट होता है ऐसा आनन्दवर्धन भी मानते हैं ।

---

१ 'नायक का व्यक्तित्व ही उसके सहायकों अथवा विरोधियों के व्यक्तित्व का आधार हुआ करता है और इस दृष्टि से नाटककार अन्यान्य नाटक चरितों के व्यक्तित्व का विकास इसलिए किया करता है जिसमें नायक का व्यक्तित्व शतदल कमल की भांति उन्मीलित हो उठे ।'

--डा० एस० पी० सिंह
('भारतीय नाट्य साहित्य'-सेठगोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ)।

वे कहते हैं :-

स्वसामग्र्या लब्धपरिपोषे विवक्षिते रसे विरोधिनां, विरोधिरसाङ्गानां, बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानां सतामुक्ति: अदोष: ।

एवं- नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित् प्रभावातिशय वर्णने तत्प्रतिपक्षाणां य: करुणोरस: स परीक्षकाणां न वैक्लव्यमादधाति प्रत्युत, प्रीत्यतिशयनिमित्ततां प्रतिपद्यते । (ध्वन्यालोक - ३।२० वृत्तिभाग)

अर्थात् प्रतिनायकगत रस, रसाभास अथवा भावाभास की अपेक्षा और अधिक उपयोगी होकर नायक के चरित के उत्कर्ष चित्रण एवं अङ्गीरस की निष्पत्ति में सहायता करते हैं ।

नायक की प्रतिद्वन्द्विता में प्रतिनायक अथवा प्रतिद्वन्द्वी अथवा उसके मार्ग में आने वाले बाधक तत्त्व जितने सशक्त होंगे नायक का चरित्र चित्रण उतना ही सफल होगा । प्रत्येक बाधा उसके विजय-स्तम्भ के रूप में उभरेगी । यह भारतीय अथवा संस्कृत साहित्य की दृष्टि है । भारतीय आदर्शों के परिप्रेक्ष्य में (परिप्रेक्ष्य में,) सांस्कृतिक मूल्यों के प्रतिनायक का यही मूल्यांकन हो सकता है । पाश्चात्य दृष्टि इसके विपरीत भौतिक जीवन की असफलताओं को यथार्थ मान कर एक भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है जो यथार्थ भले ही हो आदर्श नहीं हो सकती । यही कारण है कि संस्कृत नाटकों का नायक अपने उद्देश्य में सफल होता है और प्रतिनायक असफल । इसके विपरीत पाश्चात्य खलनायक प्रत्येक स्थल पर नायक पर विजय पाता है और अन्त में अपने अपावन उद्देश्य में सफल होता है । नायक की यह पराजय ही पाश्चात्यनाटक नाटक का जीवन है ।

---

१ '.... the two philosophies by no means differ in their interpretation of the basic human conditions. They differ only in the manner of confronting it. One (Western) implies the value of the intellegence and the will to ameliorate the forces of evil ; the other (Indian) implies the power of the spirit to transcend them. '

CDI, page 12

सांस्कृतिक अथवा परम्पराओं के दृष्टि भेद के होने पर भी प्रतिनायक किंवा खलनायक अथवा अन्य बाधक तत्व एक साथ सदा और सर्वत्र नायक के चरित्र को उभारते हैं, उसके प्रति सामाजिक के मन में सद्भावना उत्पन्न करते हैं, उसके अनुपात में अन्तर भले ही हो। संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक का जो स्वरूप मिलता है उसे दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि वह कहीं नायक के समक्ष आकर वादविवाद की उस स्थिति तक ले जाता है जिसके आगे युद्ध की सीमा आ जाती है अथवा उसके विरोध का विज्ञापन किन्हीं पात्रों के सम्वादों के माध्यम से होता है और कहीं-कहीं यह मात्र एक ही पात्र द्वारा दर्शकों को एक विवरण के रूप में संप्रेषित कर दी जाती है। नाट्य-शास्त्रियों की परम्परा ने चूंकि रंगमंच पर युद्ध नियुद्ध की वर्जना कर रखी थी,[1] अतः नाटककारों ने पूर्णतः यह प्रयास किया है कि उसे रंगमंच पर प्रस्तुत न किया जाए। अतएव सर्वत्र ही यह संघर्ष वादविवाद के स्तर तक ही पहुंचता है और युद्ध-नियुद्ध नेपथ्य की वस्तु हो जाती है। महाकविभास को छोड़कर संस्कृत में ऐसे नाटककारों का अकाल है जिन्होंने रंगमंच पर मृत्यु की घटनाएं घटित होती हुई प्रदर्शित की हों। फिर भी ऐसे नाटकों का अभाव नहीं है जिनमें संघर्ष ने उस सीमा का स्पर्श कर लिया है जहां प्रदर्शन के अभाव का आभास ही नहीं होता है, मुद्राराक्षस ऐसा ही रूपक है। महावीर०, वेणीसंहार, मृच्छकटिकम् भी इस स्थिति में खरे उतरने वाले रूपक हैं।

काव्यवत् वर्णन बहुल नाटकों में भी संघर्ष का स्थान गौण नहीं होता। वहां भी सक्षमता के साथ नाटककारों ने अपनी प्रतिभा के माध्यम से नायक विरोध की भावना को प्रदर्शित करते हुए प्रतिनायक चरित्र के व्याज से नायक के चरित्र को उभारा है। सबसे बड़ी बात नाट्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह है कि संस्कृत नाटककारों ने तो प्रतिनायक विहीन नाटकों की भी रचना की है।

कोमल भावनाओं और शृङ्गार रस के इन नाटकों में नायक-नायिका

---

1 दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादि विप्लवम्।
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम्।
अम्बर-ग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न दर्शयेत्।। द०रू०३।३४-३५
तथा नाट्यदर्पण १।१८-२२, २।२७

के प्रेम-संयोग अथवा वियोग को कवि प्रतिभा द्वारा उद्भासित किया गया है। इस प्रकार के नाटकों में नायक-नायिका के मिलन रूपी फल में अनेक बाधाएं आती हैं जो कभी प्राकृतिक बाधा के रूप में उसके प्रेम को अपूर्व गति देती है तो कभी उसके वियोग को उद्दीप्त करती है। इनके अतिरिक्त इस प्रकार के सभी रूपकों में नायिका की प्रतिद्वन्द्विता में एक अन्य पात्र का प्रमुख स्थान है वह है – नायक की परिणीता पत्नी-रानी- महारानी। इसके अपवाद भी हैं। मृच्छकटिकम् में चारुदत्त की पत्नी धूता वसन्त सेना के मार्ग में कहीं भी कोई बाधा उपस्थित नहीं करती। इसका कारण सम्भवत: यही है कि प्रकृति एवं शकार और स्वयं राज्य का शासक उसके मार्ग में बाधा उपस्थित करने और तदनुसार नायक के चरित्र को उभारने के लिए पर्याप्त है। प्रतिनायक अथवा इन बाधक तत्वों की यह सफलता ही नायक प्रतिनायक के सम्बन्ध को परस्पर मुखापेक्षी बनाती है और नाटक के मुख्य-तत्व रस की पुष्टि में सहायक होती है।

नायक और प्रतिनायक :

पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि 'नायक' का प्रयोग नाट्यशास्त्रियों ने 'पुरुषपात्रों' के सन्दर्भ में भी किया है अन्यथा द्वादश अथवा चौंसठ नायकों की बात न उठाई गयी होती। किन्तु प्रकृत स्थल पर नायक से तात्पर्य उस प्रमुख भूमिका से है जो किसी काव्य अथवा नाटक के फल का भोक्ता है। कथावस्तु को उपसंहार तक ले जाने वाले[1] इस प्रधान चरित्र को इसी कारण 'नेता' भी कहा गया है। नायक के समान ही 'नेता' या 'नेतार:' का प्रयोग सभी प्रमुख पुरुष भूमिकाओं के अर्थ में हुआ है,[2] किन्तु वस्तुत: ये दोनों ही नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से साधारणत: पारिभाषिक चार प्रकार के नायकों के बोधक हैं।

नायक के लक्षण को देखते हुए संस्कृत नाट्यपरम्परा के उस उत्स तक पहुंचा जा सकता है जो संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि है। साहित्य की कोई

---

१ सं० ना०- कीथ-(अनु० उ० भा० सिंह,) पृ० ३२६

२ द० रू० ३।७०, ना० द० ४।१०, सा० द० ६।२५०

विधा हो नायक की सारी विशेषताएं सर्वत्र एक सी हैं । जैसा कि आगे स्पष्ट किया जाएगा नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में ही नहीं धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत और इनके धीरशान्त चारों प्रकार के नायक प्रत्येक स्थल पर समानरूपेण कुछ सामान्य गुणों से युक्त होते हैं और इन गुणों का सामूहिक नाम है धीरता[1] जो प्रतिनायक का भी ऐकान्तिक गुण है । नायक के साधारण लक्षण को देखने से ज्ञात होता है कि संस्कृत का नायक उन सभी मानवीय गुणों से युक्त है जो उसे नितान्त आदर्श बना देते हैं । सबसे बड़ी बात यह है कि नायक प्रतिनायक के ये सारे गुण भारतीय संस्कृति और दर्शन के अनुरूप हैं और यही कारण है संस्कृत साहित्य का नायक वह चाहे कथा साहित्य में हो अथवा काव्य में, नाट्य साहित्य में हो अथवा अन्यत्र, कुछ आदर्शों से अनुप्राणित हो ऐसा नायक युगों युगों तक जीवित रहता है । यही कारण है कि ऐसे साहित्य ने त्रासदी जैसी विधा को जन्म नहीं किया[2]।

नाट्यशास्त्र पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य और भी स्पष्ट होता है कि नायक ही नहीं नाटक के प्रत्येक पात्र के गुणों की एक निश्चित रूपरेखा है उसके लिए निश्चित निर्देश हैं, यहां तक कि भरतमुनि की पैनी दृष्टि ने सूक्ष्मतापूर्वक विट, चेट जैसी गाणिक भूमिकाओं को भी निश्चित सांचों में ढाला है । जिसके पीछे संस्कृत का अपना मौलिक चिन्तन और दर्शन है ।

---

१ Dr. V. Raghavan, BHOJA'S SHRINGARPRAKASH - Page 445

२ 'The reasons why the Sanskrit dramatists did not develop the tragic form are, I think many. And they are connected with the individual and social life of man, the contemporary conditions in so far as they promote response to dramatic entertainment, the conception of literature and art, and the social, ethical, religious and philosophical values which a society accepts.'

- G K Bhat, Tragedy And Sankrit Drama
Page 87

संस्कृत साहित्य का मूल मंत्र है `सत्यं शिवं सुन्दरम्`। साहित्य सत्यपरक हो, सत्य को उद्घाटित करता हो, महान् एवं एकमेव सत्य जिसे वैदिक-वाङ्मय `ऋत` के नाम से जानता है उसका पोषक हो। वह सत्य सदा `सर्वेभवन्तु सुखिन:` की मंगल भावना को संचरित करने में सक्षम हो। काव्यप्रकाशकार ने इसे ही `शिवेतरक्षतये` के रूप में देखा है। मृदुता, कोमलता और सौन्दर्य बोध की दृष्टि से साहित्य का `सुन्दरम्` होना अभिप्रेत है। श्रुतियां और स्मृतियां जिस सत्य का उद्घाटन प्रभुसम्मित रूप में करती हैं, पुराणादि जिसे मित्रवत् समझाते हैं तथा नीतिज्ञ लोग जिस सत्य को कथा के व्याज से बताते हैं[1] उसे ही कवि अथवा नाटककार कान्ता-सम्मिततया उद्घाटित करते हैं। किन्तु `सत्य` एक ही है। वैदिक नायक- इन्द्र, मरुत्, वरुण हो अथवा पुराणों के नायक पुरूरवा, दुष्यन्त और राम अथवा काव्यों-नाटकों में इन्हीं नायकों का प्रतिबिम्बन, उनके महनीय, ऐकान्तिक गुणों में कोई अन्तर नहीं आता।

नायक

नाट्य-संदर्भ में नायक के रूप में उन सभी प्रमुख पात्रों की गणना की गयी है जो रूपक-प्रबन्धों में मुख्य-मुख्य भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं। इनमें मुख्य-नायक, उपनायक, अनुनायक और प्रतिनायक सभी आ जाते हैं। यहां तक कि उप-प्रतिनायकों को भी नायक माना गया है ऐसा हम देख चुके हैं। प्रकृत संदर्भ में `नायक` शब्द उस मुख्य भूमिका के सन्दर्भ में ग्रहण किया गया है जिसके सम्बन्ध में भरतमुनि ने कहा है `नाट्यस्यान्तं गच्छति तस्मात् नायकोऽभिहित:[2]` अर्थात् किसी रूपक की चरम-परिणति का प्रापक ही नायक,मुख्यनायक होता है। हेमचन्द्राचार्य ने कहा है, `समग्रगुण: कथाव्यापी नायक: - अर्थात् नयति व्याप्नोति इतिवृत्तं फलं चेति नायक:[3]` इस प्रकार कथानक में व्यापकता एवं फल की प्राप्ति ही उसका ऐकान्तिक गुण है। ऐसे नायक के सामान्य गुणों का उल्लेख करते हुए उन्हें विनीत, मधुर स्वभाव वाला, त्यागी, त्वरित बुद्धि, नीतिनिपुण, प्रियभाषी, लोकरंजक, पवित्र, वाक्पटु, कुलीन,

----

१ कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते। -- हितोपदेश

२ भरत: ३५।३२

३ काव्यानुशासन - अध्याय ७।१

अविचल बुद्धि, मन एवं वाणी से युक्तवक्तृव्यवहर्ता माना गया है। उसे ज्ञान, उत्साह, स्मृति, बुद्धि, कलाविज्ञता एवं स्वाभिमान से युक्त तथा शूर, दृढ, तेजस्वी, शास्त्रज्ञाता तथा धर्म में निष्ठा रखने वाला कहा गया है[1]।

इन महनीय गुणों पर विचार किया जाए तो यह धारणा स्वतः निर्मूल हो जाती है कि संस्कृत साहित्य एकांगी है जो समाज के उस पक्ष को छोड़ देता है जिससे मानवता संत्रस्त है। पाश्चात्य दृष्टिकोण से भिन्न, संस्कृत साहित्य की परम्परा 'कला कला के लिए'को न स्वीकार कर कला को जीवन के लिए मानती है, इस रूप में वह सत्य, शिव, सुन्दर से अनुप्राणित है। ऐसी हरीतिमा में मरुभूमि की शुष्कता को कैसे संजोया जा सकता था। उद्देश्यपरक, आदर्शोन्मुख साहित्य में नायकपर प्रतिनायक की विजय धुरी को उलट देगी। पाठक या दर्शक जब सामाजिक जीवन में देखता है कि सच्चरित्र, सज्जन और त्यागमय जीवन-यापन करने वाले दु:खी है, लंपट और दुश्चरित्र सुखी हैं तो स्वाभाविक रूप से उसके मन में नाना प्रकार के सन्देह, नाना प्रकार की जिज्ञासा उठती है। उनके सम्मुख यदि साहित्य के माध्यम से (जिसे उद्देश्यपरक माना गया है) वही तथ्य प्रदर्शित किया जाए तो वह निश्चित रूप से पथभ्रष्ट होगा। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर भारतीय उपजीव्य साहित्य में क्रमानुसार कुछ प्रतिनिधि चरित्रों का निर्माण हो चुका था जिसके आधार पर परवर्ती साहित्य का उपबृंहण हुआ[2]। राम यदि आदर्शों के प्रतिनिधि हैं तो रावण दुष्प्रवृत्तियों का। दुर्योधन, शिशुपाल प्रभृति चरित्र भी उसी के सहगामी हैं। अतः स्वाभाविक है ऐसे महनीय गुणों

१(अ) नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः । रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ।।
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।शूरोदृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः।।
--द० रू० २।१-२

(ब) त्यागीकृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही,दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्यशीलवान् नेता । -- सा० द० ३।३०

२ Indian drama is a stage whose main issues have been fully solved long before the play begins and where equilibrium and stability are the qualities to which the theatre itself is primarily dedicated.'

- CDI, Page 82

से युक्त नायक को नाना बाधाओं के आने पर भी सफल प्रदर्शित किया जाए । मानवीय मूल्यों के प्रति यही निष्ठा पाश्चात्य साहित्य से संस्कृत साहित्य को विलग करती है । यही वह तथ्य है, जिसके कारण संस्कृत साहित्य में घटनाप्रधान, अथवा तथाकथित यथार्थवादी नाटकों को स्थान नहीं मिला । यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि किसी साहित्य की अमूल्य निधि वही साहित्य बन सकता है जिसके पीछे महान् उद्देश्य है । महान् से तात्पर्य आदर्श ही नहीं है । वह यथार्थ भी हो सकता है पर ऐसा यथार्थ जो सार्वकालिक हो । विशेष परिस्थितियों की उपज न हो । सम्भवत: संस्कृत का साहित्य भी यदि इसी प्रकार का होता तो आज सहस्रों वर्षों तक वह जीवित न रहता, वह कालजयी न हो पाता । यहीं इस बात को भी बल मिलता है कि सम्भव है ऐसे ही घटनाप्रधान अथवा क्षणिक मनोरंजन युक्त हल्के-फुल्के नाटक भी संस्कृत में लिखे गए हों पर वे काल-जयी न हो पाए हों । जिनके अवशेषों के रूप में अनेक प्रहसन और भाण-भाणी अभी भी उपलब्ध हैं ।

किन्तु यहीं यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि इन आदर्शों से अनुप्राणित संस्कृत साहित्य के नायक भी इसी कारण कालजयी हैं । राम हों अथवा युधिष्ठिर, कृष्ण हों अथवा जीमूतवाहन, ऊरुभङ्गम् का दुर्योधन हो अथवा कर्णभारम् का कर्ण, दुष्यन्त हों अथवा उदयन अथवा चारुदत्त, नाना प्रकार की झंझावातों से लड़ते हुए शापों और प्रकृति के कोपों से जूझते हुए वे अन्त में अपने उद्देश्य में सफल होते हैं । उनका चरित्र आज तक जीवित है । वे सभी आदर्श हैं, दर्शकों और पाठकों के लिए अनुकरणीय हैं । यही वह सत्य है वह शिव है और वह सौन्दर्य-बोध है जिससे पाश्चात्य जगत् भी स्पृहा करता है[1]। इसी कारण संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त विश्व के किसी भी साहित्य में ऐसे उदाहरण नहीं मिल सकेंगे जहां दुर्योधन, अथवा कर्ण जैसे प्रसिद्ध प्रति-द्वन्द्वियों को भी नायक बनाया गया हो । कहीं भी मैकबेथ अथवा कैशस अथवा इआगो नायक के रूप में न मिलेंगे क्योंकि उनमें वह प्रवृत्ति है ही नहीं जो उन्हें नायक बनाये ।

---

[1] .... West must in some degree shift its philosophical out took if it is to derive from even the best of the Sanskrit theatre as keen an asthetic pleasure as it does from its own. Yet in many and grave terms of appraisal the Sanskrit stage appears equal or even superior to that of the West.

— GDI , Page 84

इस दृष्टि से प्रतिनायक के महत्त्व को समझने के लिए और उनके परस्पर सम्बन्ध को मुखर करने के लिए यह आवश्यक है कि नायकों के लक्षणों पर एक विहङ्गम दृष्टि डाल ली जाए ।

भरतमुनि नायक-नायिका अर्थात् प्रत्येक पुरुष अथवा स्त्री पात्रों को प्रकृति भेद से उत्तम, मध्यम और अधम के रूप में विभक्त करते हैं[1]। नाटक के मुख्य नायक को उत्तम कोटि का मानते हुए वे कहते हैं :--

नाट्येचत्वार एवैते नायकाः परिकीर्तिताः ।
तत्रोत्तमायां प्रकृतौ नानालक्षण-लक्षिताः ।।
धीरोद्धतो धीरललितो धीरोदात्तस्तथैव च ।
धीरप्रशान्तश्चैवेति नायकाः नाटकाश्रयाः ।। २४ ।२-३

भरतमुनि प्रकृतिभेद से नायकों को पुनः `देव`, `नृप`, `सेनापति अथवा आमात्य` और `ब्राह्मण एवं वणिक्` के रूप में क्रमशः धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त एवं धीरशान्त नायकों का प्रतिनिधि मानते हैं[2]। अर्थात् नाटककार यदि अपनी रचना में किसी देवता को नायक बनाता है तो उसका चरित धीरोद्धत[3] होगा । यदि किसी राजा को नायक बनाता है तो उसका चरित धीरललित होना चाहिए[4]। इसी प्रकार यदि सेनापति अथवा किसी आमात्य को नायक बनाए तो उनका चरित धीरोदात्त होना चाहिए[5]। किसी ब्राह्मण अथवा वणिक को नायक बनाये तो उनका चरित धीर-शान्त होना चाहिए[6]।

---

१ समासतस्तु त्रिविधा प्रकृतिः परिकीर्तिता। स्त्रीणां च पुरुषाणां उत्तमाधम-मध्यमाः ॥ -- ना० शा० २४ ।१

२ ना० शा० २४।४, ५

३ देखें : प्रथम अध्याय में ऋग्वेद के इन्द्र का चरित ।

४ उदयन का चरित --रत्नावली, द० रू० २।३

५ जीमूतवाहन का चरित -- नागानन्द

६ चारुदत्त अथवा माधव का चरित --मृच्छ० मालतीमाधव

भरत के इस विधान के अनुरूप कितने नाटक लिखे गए ? कितने उपलब्ध हैं ? उनमें अक्षरशः इसी प्रकार चित्रण है या नहीं ? यह विषय विवादास्पद हो सकता है। किन्तु इनके आधार पर एक निश्चित परम्परा का बीज अवश्य पड़ा जो कालान्तर में फलीभूत हुआ। रूपक के प्रकारों में इस बात का अवश्य ध्यान रखा गया और इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही उनका विभाजन रूपक-भेदों के रूप में किया गया। ऐसा नहीं है कि उसके अपवाद न हों पर उसका कारण कवि जैसे स्वतंत्र चेता मानव की प्रतिभा के रूप में देखा जा सकता है।

संस्कृत के रूपकों में नायक सम्बन्धी विवाद भी एक अनूठी बात है और उस आधार पर प्रतिनायक का निर्णय भी कठिन न हो तो विवाद के रूप में देखा जा सकता है। फिर भी प्रतिनायक का निर्णय जितनी सरलता से हो जाता है नायक का निर्णय उतना सरल नहीं है। जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है संस्कृत का सम्पूर्ण वाङ्मय जिस पात्र को एक स्थान पर व्यसनी, पापकृत, लोभीप्रतिनायक मानता है वह भी नायक बन सकता है। कर्णभारम् में कर्ण के दान का माहात्म्य और ऊरुभङ्गम् में दुर्योधन की नीतिनिपुणता, करुणा, और प्रायश्चित्त की भावना उसे नायक बना देती है। यद्यपि यह सत्य है कि अधिकांश पौराणिक रूपकों में नायक प्रतिनायक के मध्य जो रेखा उपजीव्य काव्यों में बनायी गयी है उसपर चलना सरल भी था और परम्परानुकूल भी, फिर भी 'महावीर चरितम्' में रावण का चरित्र कुछ भिन्न है। नाटककार परम्परा के प्रति प्रतिबद्ध होते हुए भी उससे विलग होने का प्रयास करता है। वह राम-रावण के मध्य नैसर्गिक विरोध को जानता है। पर रावण द्वारा कुमारी सीता की याचना, वह भी अपने पुरोहित को दूत के माध्यम से शिष्टाचार-पूर्वक कैसे अनुचित हो सकती है। इस व्याज से रावण का चरित्र तो उभरता ही है राम का चरित्र भी उभरता है[1]।

---

१ राम :- वत्स ! आधारव्यान्निरातङ्कं कन्यामन्योऽभियाचते।
किं पुनर्जगतां जेता प्रपौत्रः परमेष्ठिनः ॥
- म० च० १।३१

लक्ष्मण :- अति हि सौजन्यमार्यस्य तस्मिन्नपि निसर्गवैरिणि निशाचरे बहुमानः।

प्रकृतिभेद के साथ-साथ भरतमुनि ने जिन चार प्रकार के नायकों का उल्लेख किया है वह सभी साहित्याचार्यों को मान्य हैं। इसके अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने रसों के आधार पर भी उनके भेद किये हैं, जैसाकि हम दूसरे अध्याय में देख चुके हैं। किन्तु प्रमुखरूप से उनको भी इन्हीं चार में अनुस्यूत किया जा सकता है। क्योंकि रसाधारित नायकों के भेद के पीछे उनकी रसानुकूलता को ध्यान में रखा गया है जो किसी भी नायक पर विभिन्न परिस्थितियों में घटित हो सकती है। प्रकारान्तर से धीरोद्धत-नायक दुर्योधन को हम वेणी संहार के द्वितीय अंक में शृङ्गारनायक के रूप में देख सकते हैं और शकुन्तला के लिए उद्विग्न धीरोदात्तनायक दुष्यन्त राजा कभी मातलि के वध का उपक्रम करते हुए वीर नायक-सा हो जाता है। इसी प्रकार महावीरचरितम् में परशुराम से बात करते जाते समय राम का सीता के प्रति कथन उनके शृङ्गार नायक होने के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसे स्थलों पर अङ्गीरस और संचारीभावों की महत्ता को सदा ध्यान में रखना चाहिए। यह दृष्टि रूपक विशेषपरक भी मानी जा सकती है, क्योंकि रूपकभेदों का लक्षण निर्धारण करते समय रसों पर विशेष ध्यान दिया गया है।

जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है यह चारों प्रकार के नायक उत्तम प्रकृति के माने गए हैं। यद्यपि धीरोद्धतनायक के लक्षण के प्रसंग में हम देखेंगे कि उसके लिए गिनाए-गए गुणों में अधिकांश गुण सद्गुण नहीं माने जा सकते। जहां तक इस विपरीत दृष्टि का कारण है वह सात्विक, राजसी और तामसी वृत्ति को ध्यान में रखकर देखने से स्पष्ट हो जाता है।

राजा, सेनापति, आमात्य, ब्राह्मण अथवा वणिक वर्ग के लोगों को नायक बनाने की परम्परा की दृष्टि से उन्हें उत्तम कोटि में रखने का औचित्य भी स्पष्ट हो जाता है। इसी कारण राजसी वृत्ति प्रधान धीरोद्धतनायक का चरित्र भी आश्चर्यजनक नहीं लगता। इतना ही नहीं प्रतिनायक भी एक उत्तम कोटि की ही भूमिका है। जिसका कारण है नाट्यशास्त्र की वह परम्परा जो उसे द्वादश चौदह नायकोंके `नायक` इस अभिधान से अनुगृहीत करती है। यहां तक कि नाट्यदर्पणकार

---

१ डा० उपाध्याय बलदेव : संस्कृत सा० इति०, पृ० १६२

उसे स्पष्ट रूपेण उत्तम-पात्र मानते हुए कहते हैं :--

मध्यमैरित्यमात्य सेनापति वणिग् विप्रादिभिर्न पुनर्देवी कुमार कुमार्य नायक प्रतिनायकादिभि: । ना० द० १।२४ की व्याख्या

इसी स्थल पर यह भी स्पष्ट कर देना अधिक उचित होगा कि नायकों के इन चार भेदों के साथ ही इसी आधार पर नायिकाओं के भी चार भेद किए गए हैं। भरतमुनि का विभाजन दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री और गणिका के रूप में चार प्रकार का है और उन्होंने दिव्या तथा राजाङ्गना (नृपपत्नी) दोनों को धीरा, ललिता, उदात्ता तथा निभृता (शान्त चित्त की) माना है। कुलाङ्गना (कुलस्त्री) को उन्होंने उदात्ता एवं निभृता तथा गणिका को शिल्पकारी (कलामर्मज्ञा) एवं उदात्त तथा ललित गुणयुक्त माना है[1]। इसके विपरीत दशरूपककार एवं अन्य आचार्यों ने स्वीया परकीया साधारण स्त्री के रूप में तीन प्रमुख भेद करके मुग्धा,मध्या, प्रगल्भा आदि नानाभेदोपभेद किये हैं[2]। शृङ्गारप्रकाशकार ने इसके विपरीत उदात्ता, उद्धता, ललिता और शान्ता के रूप में चार भेद किए हैं और यह भी स्पष्ट किया है कि धीरता का गुण इनमें आवश्यक तत्व के रूप में नहीं है[3]। किन्तु एक बात जो इन लक्षणों को देखने से स्पष्ट होती है वह यह कि नायिकाओं का यह विभाजन पूर्ण-रूपेण नायकों के साथ उनके सम्बन्धों पर प्रमुखरूपेण अवलम्बित है[4] जबकि नायक के सन्दर्भ में यह गुण ऐकान्तिक है और सभी ने उसे स्वीकार किया है[5]।

नायकभेद :--

धीरोदात्तनायक :-- दशरूपककार के अनुसार शोक क्रोधादि से अनभिभूत होने वाले, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा न करने वाले, विनयी, अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़

---

१ भरत० २४।५-६ २ द० रू० २।१५-२८

३ धैर्यमासामविवक्षितम् -- देखें : शृङ्गार० डा० राघवन्, पृ० ४०

४ दि क्लासिकल ड्रामा आफ इण्डिया, पृ० ८४-८५ - कीथ, सं० ना० पृ० ३२७

५ कीथ सं० ना० ३२६ तथा शृङ्गार०,डा० राघवन्, पृ० ४० तथा ४४५

रहने वाले नायक को धीरोदात्त माना गया है -

महासत्वोऽतिगम्भीरः क्षमावान् अविकत्थनः ।

स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तः दृढव्रतः[1] । द० रू० २।४५

दशरूपककार ने शास्त्रार्थ के साथ यह सिद्ध किया है, कि जीमूतवाहन एक धीरोदात्तनायक है[2]। किसी नायक को किस भेद में रखा जाए इसपर मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना की स्थिति हो सकती है। लक्षणों की व्याख्या भी अपने-अपने ढंग से की जा सकती है। अतः किसी नायक का उदाहरण प्रस्तुत स्थल पर न देते हुए यहां यही संकेत करना अभीष्ट है कि उपर्युक्त गुणों से युक्त नायक को धीरोदात्त माना गया है। अन्य आचार्यों के लक्षण भी इसी से मिलते जुलते हैं।

धीरललित :— राज्यकार्य के गुरुतर भार को अपने सचिव आदि पर निक्षिप्त कर उस दिशा से निश्चिन्त, नाना प्रकार की कला—गीत, नृत्य, मृगया आदि में संसक्त, स्वतः सुखी एवं स्वभाव से कोमल, शृङ्गार प्रधान नायक को आचार्यों ने धीरललित माना है। दशरूपककार ने धीरललितनायक का लक्षण इस प्रकार किया है :—

निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः । - द० रू० २।३

अन्य आचार्यों ने भी इन्हीं गुणों से युक्त नायक को धीरललित माना है[3]। दशरूपककार ने वत्सराज उदयन को, उदाहरण के रूप में, धीरललितनायक माना है जो वासवदत्ता के प्रेम में आसक्त हो राज्यकार्य को अपने आमात्य यौगन्धरायण पर न्यस्त कर स्वतः निश्चिन्त हो वीणा वादन और मृगया में व्यस्त रहता है। इस प्रकार के नायकका शृङ्गारी होना स्वाभाविक है।

---

१ अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्वः ।
स्थेयान् निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ।।
-- सा० द० ३।३२

२ द० रू० २।४-५ वृत्ति भाग

३ निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरोधीरललितः स्यात् ।
-- सा० द० ३।३४ पूर्व भाग

धीरशान्त :— इसके विपरीत धीरशान्तनायक को दशरूपककार ने केवल 'सामान्य गुणयुक्त द्विजादि' माना है :—

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः । - द० रू० २।४

साहित्यदर्पणकार भी इसी प्रकार का लक्षण करते हैं[1]। दशरूपक की वृत्ति में 'सामान्यगुण' की व्याख्या नेता के सामान्यगुण 'नेताविनीतो मधुरः...' आदि के रूप में की गयी है । भरतमुनि के 'ब्राह्मणाः वणिजश्चैवप्रोक्ता धीरप्रशान्तकाः[2]' के आधार पर दशरूपककार ने भी विप्र, वणिक्, सचिवादि' की गणना धीरप्रशान्तनायकों के रूप में की है । इसे धीरललित से विलग करते हुए वृत्ति भाग में और स्पष्ट किया गया है कि धीरललितनायक के निश्चिन्ततादिगुणों से युक्त होने पर भी विप्र वणिक्सचिवादि को धीरशान्त ही मानना चाहिए धीरललित नहीं[3]। मृच्छकटिकम् के नायक चारुदत्त की कलाप्रियता तथा जातीय गुणों को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्टीकरण आवश्यक है ।

धीरोद्धत :— धीरोद्धतनायक का लक्षण बताते हुए दशरूपककार कहते हैं :—

दर्पमात्सर्य भूयिष्ठः मायाछद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः ।।

वृत्ति भाग में दर्पमात्सर्य आदि की व्याख्या करते हुए वे उदाहरण के रूप में जामदग्न्य (महावीरचरित) तथा रावण का उल्लेख करते हैं । आचार्य हेमचन्द्र ने धीरोद्धतनायक को शूरवीर, मायावी, आत्मश्लाघी, छद्मपरायण, रौद्रस्वभाव तथा शौर्यादिजन्यमद से युक्त माना है । वे कहते हैं :—

'शूरो मत्सरी मायी विकत्थनश्छद्मवान् रौद्रोऽवलिप्तः धीरोद्धतः'
(काव्यानुशासन - ७।१५) अर्थात्

'मत्सरी असहनः । मन्त्रादिबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशको मायी । छद्म-वञ्चनामात्रम् । रौद्रो चण्डः । अवलिप्तः शौर्यादिमदः । यथा जामदग्न्यरावणादिः ।' इस रूप में

---

१ सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात् । - सा०द० ३।३४

२ भरत० २४।५

३ द० रू० 'धीरशान्त' लक्षण का वृत्ति भाग ।

वे धीरोद्धतनायक के दशरूपक के लक्षण के दर्प एवं अहंकार की विशिष्टता को ग्रहण करते हुए उसे सम्भवत: शौर्यादिकन्यमद में संगृहीत कर लेते हैं । किन्तु दशरूपक के `चल:` गुण को छोड़ देते हैं । वे उद्धत किन्तु धीर नायक इस गुण को ध्यान में रखकर ऐसा करते हैं यह माना जा सकता है । भरत ने देवों को धीरोद्धत माना है और उस परिप्रेक्ष्य में ही सम्भवत: हेमचन्द्र ने 'चल:' यह विशेषण छोड़ दिया है । प्रतिनायक के लक्षण में धीरोद्धतनायक के गुणों का समावेश करते समय दशरूपककार के `व्यसनी` विशेषण को छोड़ देने के पीछे भी सम्भवत: यही कारण है क्योंकि प्रतिनायक भी एक आदर्श भूमिका है । कालान्तर में साहित्यदर्पणकार के लक्षण[1] में हम पुन: धीरोद्धतनायक में `चल:` को `चपल:` के रूप में गृहीत पाते हैं । दशरूपककार एवं हेमचन्द्र ने जामदग्न्य तथा रावण को इसका आदर्श नायक माना है जबकि साहित्यदर्पणकार ने भीम को उद्धृत किया है ।

<u>प्रतिनायक का आलम्बनरूप</u>

जैसाकि भरतमुनि ने स्वयं कहा है, `विभावानुभाव संचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्ति:` अर्थात् विभाव[2], अनुभाव[3] और संचारीभाव[4] वे मूल तत्त्व हैं जो ब्रह्मानन्द सहोदर रस की निष्पत्ति के लिए आवश्यक हैं, इसी कारण सम्भवत: काव्यप्रकाशकार की कारण-कार्य और सहायक भावों के रूप में इसकी व्याख्या अधिक समीचीन है[5]। इनमें भी विभाव की सर्वप्रथम गणना का भी महत्त्व है जिसके दोनों ही प्रकार -आलम्बन और उद्दीपन विभाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । भट्टलोल्लट ने `विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपन कारणै: रत्यादिको भावो जनित: ...` के रूप में इसके महत्त्व को स्पष्ट किया है । वस्तुत: आलम्बन भूत नायक-नायिका एवं उद्दीपन भूत उद्यान, चन्द्रिका, तड़ाग प्रभृति तत्त्व ऐसे हैं जिनके बिना रस की कल्पना नहीं की जा सकती । इनमें भी आलम्बन विभाव वह प्रमुख तत्त्व है जिसमें सर्वप्रथम रति आदि भाव जागृत होते हैं और अनुभावों द्वारा यह दर्शक तक सम्प्रेषित होता है ।

---

१ सा० द० ३। ३३   २ सा० द० ३।२६, द० रू० ४।२

३ द० रू० ४।३, सा०द० ३।१३२-१३३   ४ सा० द० ३। १४०

५ का० प्र० ४।२७-२८ तथा सा० द० ३।१४

ये आलम्बनभूत नायक नायिका जिन्हें हम पहले ही नाट्य संदर्भ में सभी भूमिकाओं के लिए ग्रहण कर चुके हैं, वह तो उपनायक, अनुनायक, प्रतिनायक प्रभृति सभी पात्रों की एक सामूहिक संज्ञा है। एक दूसरी दृष्टि से देखें तो वह स्थिति जहां दर्शक नायक या नायिका से तादात्म्य स्थापित करके रसानुभूति की पराकाष्ठा पर पहुंचता है वहां पर भी नायक-प्रतिनायक का भेद बना ही रहता है। महाभाष्य के उस उल्लेख को जहां कंस और बलि के घात और बन्धन के साथ ही 'केचित् कंसभक्ता भवन्ति केचित् वासुदेव भक्ताः' का उल्लेख हुआ है और उसी आधार पर जहां 'केचित् कालमुखा भवन्ति केचित् रक्तमुखा' कहा गया है वहां कुछ विद्वानों ने उसे दर्शक या सामाजिक की रसानुभूति के रूप में देखा है।[1]

महाभाष्य के इस उल्लेख की व्याख्या को छोड़ भी दें तो भी रस की सामाजिकगत अनुभूति और तदनुरूप उनकी प्रतिक्रिया एवं नायक-प्रतिनायक विषयक भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को, नायक अथवा प्रतिनायक के समर्थन को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस आधार पर इतना तो स्पष्ट ही है कि आलम्बनभूत नायक नायिका वे मुख्य पात्र हैं जिनके चारों ओर रसवादी विचारधारा चक्कर काटती है और उन्हें ही रस का अजस्र स्रोत समझकर सामाजिक टकटकी लगाए रहता है। इस आशा की पूर्ति के लिए नायक नायिका को जिनकी सहायता मिलती है उन भूमिकाओं में प्रतिनायक की भूमिका का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि उनके माध्यम से ऐसे भाव तरङ्गित होते हैं जो रस को तो प्रभावित करते ही हैं नायक के चरित्र को भी प्रभावित करते हैं- उनके उत्कर्ष का कारण बनते हैं। इसके विपरीत जैसाकि प्रतिनायक शब्द से ध्वनित है उसका नायक के बिना कोई अस्तित्व नहीं है। केवल नायक या केवल नायिका स्वयं में पूर्ण भी हो सकते हैं, किन्तु प्रतिनायक या प्रतिनायिका कभी स्वयं में पूर्ण नहीं हैं। इस रूप में वे उद्दीपन हो सकते हैं, पूरक हो सकते हैं नायक नायिका के, अथवा सहायक हो सकते हैं। नायक प्रतिनायक के मध्य यह सम्बन्ध वैसा नहीं है जैसा कि पाश्चात्य रूपकों में देखा जाता है, जहां बैंको और इयागो को हटा दिया जाए तो मैकबेथ और

---

१ संस्कृत नाटक, पृ० २६

औचित्य शून्य हो जाते हैं। तीन डाइनों और मैकडफ को हटा दिया जाय तो मैकबेथ केवल एक वीरयोद्धा ही तो है और वह भी ऐसा योद्धा जो भाग्य के भरोसे ही जीतता है, डाइनों से डरता है तथा लेडी मैकबेथ का साक्षात्कार नहीं करपाता। इसके विपरीत चाणक्य और राक्षस दोनों ही महान् हैं। एकदूसरे की प्रतिद्वन्द्विता से उनकी महानता और विस्तार पाती है। रावण के बिना भी राम महान् हैं। दुर्योधन के बिना भी भीम की महानता पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकता। भीम के बिना दुर्योधन की महानता के लिए `ऊरुभङ्गम्` साक्षी है। यहां तक कि राम के बिना भी रावण की महानता नहीं घटती उसकी विद्वत्ता, वीरता और शालीनता स्थिर है। शकार इसका अपवाद है किन्तु उसके अभाव में भी दरिद्र किन्तु उदार चारुदत्त महान् है उसकी निःस्पृहा कर्मपरायणता, उसके आदर्श उसे महान् बनाए रखते हैं।

तात्पर्य यह कि संस्कृत रूपकों का प्रतिनायक भी एक नायक है। मुख्य नायक का सहायक है - नायक के उत्कर्ष चित्रण की दृष्टि से। विरोधीरसों, विरोधीभावों एवं सामाजिक दृष्टि से विरोधी एवं बाधक कर्मों के माध्यम से वह नायक को आदर्श स्थापना के कार्य में सहायता करता है। फिर भी विभिन्न भूमिकाओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कुछ भूमिकाएं ऐसी भी हैं जो प्रतिनायक की सहायक हैं जिनकी गणना पिछले अध्यायों में की जा चुकी है। मृच्छकटिकम् में विट, चेट, माथुर, द्यूतकर, स्थावरक प्रभृति अनेक पात्र ऐसे हैं जो किसी न किसी रूप में चारुदत्त के औदात्य और धैर्य का आदर करते हुए भी शकार की सहायता करते हैं। इसी प्रकार रामायण की कथा पर आधारित रूपकों में बाली, मारीचि, सुबाहु प्रभृति अनेक सहायक पात्र मिलते हैं। महाभारत की कथा पर आधारित रूपकों में दुर्योधन के सहायक दुःशासन, शकुनि, कर्ण, अश्वत्थामा प्रभृति पात्र इसी प्रकार के उप-प्रतिनायक हैं।

कुछ व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो हम पाते हैं कि वस्तुतः प्रति-नायक की सहायक भूमिकाओं को नायक की सहायक भूमिकाओं में ही अनुस्यूत कर लिया गया है। जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं लगभग सभी आचार्य `नायक` इस शब्द का बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हैं जिससे प्रतिनायक और उसके सहायकों को भी नायक

कहलाने का अवसर मिल जाता है । फिर भी जैसाकि कहा जा चुका है कुछ आचार्यों ने नायक के सहायकों को जिस प्रकार उपनायक कहा है उसी प्रकार प्रतिनायक के सहायक को उपप्रतिनायक कहा है ।

वस्तुत: इसके पीछे मुख्य कारण यही है कि नाट्यशास्त्रीय दृष्टि में प्रतिनायक की भूमिका ऐसी नहीं है जिसे पाश्चात्य खलनायक की तुलना में देखा जाए। शकार इसका अपवाद है और सम्भवत: यही कारण भरतमुनि ने उसे ही पृथक् करके देखा है और उन्होंने प्रतिनायक की प्रत्यक्षत: पृथक् सत्ता नहीं मानी है । `नायक` का जो स्वरूप बताया गया है दुर्योधन हो अथवा रावण वे उस सीमा में स्वत: आ जाते हैं क्योंकि `नायक` इस भूमिका की मूल धारा कमानुसारिणी न होकर वर्णानुसारिणी है । `देवा: धीरोद्धता:`[1] और `वंश: क्षत्रियोवापि` अथवा `एकवंश:` `राजर्षिवंश चरितम्`[2] इत्यादि नाट्यशास्त्रीय कथन इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं । इतना ही नहीं नायक-नायिका की प्रकृति की चर्चा करते हुए भरतमुनि स्पष्टरूप से धीरोदात्तादि नायकों के सम्बन्ध में एक स्पष्ट धारणा देते हैं[3]। नाटक, नाटिका, प्रकरण, भाण, व्यायोग, प्रभृति रूपकों उपरूपकों में नायक किस कुल का हो, नायिका का वंश कौन-सा हो यह उल्लेख जहां उन्हें सम्भ्रान्तवर्गीय बना देता है वहीं तदनुरूप अन्य भूमिकाओं के लिए भी सीमांकन किया जाता है । यही कारण है कि संस्कृत रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका भी एक सुसंस्कृत, निष्ठावान्, धर्मभीरु एवं सीमित आदर्शों वाली भूमिका है । उसके सहायक तो और भी धर्मभीरु हैं (इसके अपवाद भी हैं शकुनि और दु:शासन) वे किसी न किसी कारण प्रतिनायक के आभारों से बंधे हुए हैं अथवा किसी राजनीतिक लाभ की आशा में प्रतिनायक की सहायता करते हैं ।

संस्कृत नाटकों में पताका एवं प्रकरी के रूप में मुख्य कथा के साथ कथान्तर कथाओं की जहां-जहां सृष्टि की जाती है वहां नायक की एक प्रमुख सहायक भूमिका होती है और इन स्थलों पर प्रतिनायक का सहायक उसकी प्रतिद्वन्द्विता में प्रस्तुत

---

१ ना० शा० २४।४ २ ना० शा० १८।१०,शा० द० ६।६

३ ना० शा० २४।५-११

किया जाता है, सुग्रीव और बालि के युद्ध की यही नाट्यशास्त्रीय व्याख्या है। इसी प्रकार उपनायक के प्रतिद्वन्द्वी उपप्रतिनायक के अतिरिक्त नायिका से नायक के मिलन में बाधक बनकर आने वाली स्त्री पात्रों की भूमिकाएं शृङ्गार प्रधान रूपकों में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि इस प्रकार की भूमिकाएं अधिक उभर नहीं पायी हैं फिर भी उनका अस्तित्व है।

नायक विरोधी तत्वों की गणना के प्रसंग में प्राकृतिक बाधाओं, वियोग के कारणों और वियोग के उद्दीपन विभावों की भी गणना की जा सकती है। इन उद्दीपन विभावों का महत्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि इनसे रस की पुष्टि होती है और प्रकारान्तर से इससे नायक के चरित्र के उत्कर्ष को अवकाश मिलता है।

किन्तु 'प्रतिनायक' इस पारिभाषिक भूमिका के प्रसंग में 'शकार' की भूमिका का अपना विशिष्ट स्थान है। कहना न होगा यही वह नायक विरोधी भूमिका है जिसका अभिधानतः उल्लेख भरतमुनि ने किया है[1]। इतना ही नहीं इस विशिष्ट भूमिका के सन्दर्भ में भरतमुनि ने उसकी गति[2], प्रकृति[3] और भाषा[4] पर व्यापक चर्चा की है।

प्रकृति भेद से भरतमुनि ने शकार को अधम माना है और 'अधम' प्रकृति की भूमिकाओं की विशेषताएं बताते हुए वे कहते हैं कि अधम जन रूक्षभाषण करते हैं, आचरण-शिथिल, निःसत्व, मन्दबुद्धि, क्रोधी, घातक, कृतघ्न, एवं छिद्रान्वेषी होते हैं। व्यर्थ की बातों में लगे होते हैं तथा उनके बातचीत का स्तर निम्न प्रकार का होता है। चुगलखोर, पापी, स्त्रीलोलुप एवं झगड़ालू होना भी उनका विशिष्ट गुण है। इसके साथ ही कौन मान्य है और कौन तिरस्करणीय इस शिष्टाचार से अपरिचित तथा चोर कर्म जैसे दोषों से युक्त व्यक्ति अधम प्रकृति के माने गए हैं[5]। भरतमुनि की

---

१ भरत० २४।१०२

२ भरत० १२।१४८-५०

३ भरत० ३४।१५

४ भरत० १७।५०

५ भरत० २४।८७-८९

इस प्राचीर के मध्य शकार का चरित्र, जिसे वे स्पष्टत: `अधमो मागधीभाषी` के रूप में देखते हैं किसी भी पाश्चात्य खलनायक से कम नहीं उतरता । अन्तर केवल दो स्थलों पर है एक तो शकार की सीमा छोटे-छोटे स्वार्थों तक सीमित है उसकी महत्त्वाकांक्षाएं इयागों की तरह नहीं हैं दूसरे इन सारे दुर्गुणों के होने पर भी उसे अपने किये का पाश्चाताप होता है ।

शकार अपने इन गुणों के परिवेश में नायक विरोधी होने के कारण प्रतिनायक के रूप में गिना जाता है । लक्ष्य ग्रन्थों-रूपकों के अभाव में उसकी नाटकीयता के नाना रूप देखने को नहीं मिलते फिर भी उसका जो रूप `मृच्छकटिकम्` तथा `दरिद्र-चारुदत्तम्` में मिलता है वह इस मान्यता की पुष्टि के लिए पर्याप्त है । यही कारण है जहां शकार की भूमिका है वहां किसी अन्य प्रतिनायक की कल्पना नाटककार ने नहीं की ।

शकार को `राज्ञ: श्याल:` राजा की रखैल का भाई कहा गया है । किन्तु `शाकुन्तलम्` के छठे अंक के प्रवेशक में नागर का जो स्वरूप मिलता है वह शकार के चरित्र से बिलकुल विपरीत है, अत: उसे `शकार` कहना उचित नहीं है । नाट्यदर्पणकार ने भी कहा है— ` न सर्वो राजपुत्राविर्नृपश्याल: शकार:` ।

शकार— नायक विरोधी स्वतन्त्र भूमिका है अथवा प्रतिनायक की सहायक भूमिका । इस सम्बन्ध में यह स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि `मृच्छकटिकम्` एवं `दरिद्रचारुदत्तम्` के अतिरिक्त भरतमुनि से लेकर साहित्यदर्पण तक सभी नाट्य-शास्त्रियों ने उसके चरित्र को कुछ इस तरह चित्रित किया है जिससे उसे एक स्वतंत्र भूमिका ही मानना उचित है । इसका कारण यह भी है कि प्रतिनायक को किसी भी अर्थ में अधम प्रकृति का नहीं माना जा सकता । जबकि शकार निश्चित रूप से एक अधम भूमिका है । जिसकी समकक्ष भूमिकाएं विट,चेट आदि हैं उसकी गणना वामन, षण्ढ किरात, आभीर, म्लेच्छ, कुब्ज, प्रभृति निम्न प्रकृति की भूमिकाओं के साथ की गयी है। इसके विपरीत प्रतिनायक वस्तुत: नायक-विरोधी `नायक` है । यही कारण है नायक की तुलना में अपनी सामर्थ्य, सैन्य-परिवार, पार्षद तथा अन्य सहचरों की दृष्टि से संस्कृत के प्रतिनायक नायक से न्यून नहीं है ।

नायक-प्रतिनायक के मध्य केवल आदर्शों का संघर्ष है और उपजीव्य काव्यों से प्रभावित हमारे संस्कार एक पूर्वाग्रह से ग्रस्त होने के कारण निश्चित धारा में प्रवाहित होते हैं। वस्तुत: पौराणिक कथाओं और मान्यताओं के प्रभाव के कारण ही इन आदर्शों का निर्णय होता है और इसी आधार पर नायक और उसकी प्रतिद्वन्द्वी भूमिका की सृष्टि की जाती रही है। यही तत्व सामाजिक मनोभावों को भी प्रभावित करता है। मुद्राराक्षस जैसे रूपकों में नायक-प्रतिनायक की शास्त्रीय स्थापना कुछ भी हो किन्तु उपजीव्य काव्यों में, पौराणिक आख्यानों की शिथिल-पृष्ठभूमि में, चाणक्य का नायकत्व भी शिथिल हो उठता है और उसकी कठोरता नीति प्रवणता घात-प्रतिघात की नीति सामाजिक के हृदय में एक भयमिश्रित श्रद्धा को जन्म भले ही दे किन्तु राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, चारुदत्त जैसे नायकों के प्रति उठने वाली श्रद्धा की भांति वह असीम और अनन्त नहीं है। इसके विपरीत रावण-दुर्योधन और शकार के प्रति सामाजिक अनुभूति की तुलना में राक्षस के प्रति उद्भूत सहानुभूति अधिक गम्भीर और आत्मीय है। यह अन्तर स्वत: में महत्वपूर्ण है और उसकी पृष्ठभूमि उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से तीन प्रकार के प्रतिनायक हमें दृष्टिगत होते हैं- (१) संस्कारगत कारणों से निर्मित प्रतिनायक जिनके प्रति सामाजिक में स्वाभाविक घृणा का संचार होता है। (२) उपजीव्य काव्यों एवं पौराणिक परम्पराओं से पृथक् रूपकों के वे प्रतिनायक जिनमें नायक-प्रतिनायक दोनों ही समान ठहरते हैं तथा जहां सामाजिक नायक की अपेक्षा प्रतिनायक से अधिक सहानुभूति रखता है। ऐसे प्रतिनायकों में बालि जैसे उपप्रतिनायक भी हैं, जो सामाजिक की यथाशक्ति सहानुभूति अर्जित करते हैं। (३) शकार जैसे प्रतिनायक जिनके पीछे कोई भी सद्भावना नहीं है और जो पूर्णत: धूर्त-चरित के रूप में प्रतिनायकत्व ग्रहण करते हैं। अन्य रसों की निष्पत्ति के कारणभूत अन्य द्वन्द्वों के पीछे जो तत्व हैं उसका महत्व यही है कि ये नायकगत दृढ़ता की, वीरता की, धैर्य और उदारता की, सहिष्णुता और औदात्य की, सांस्कृतिक और सामाजिक निष्ठा की अभिव्यक्ति करते हैं। इन द्वन्द्वों की कोटि एवं स्वरूप की भिन्नता सामाजिकगत पराकोटि रस की विभिन्न अनुभूतियों को जन्म देती है।

इस प्रकार प्रतिनायक से नायक अथवा नायक से प्रतिनायक का सम्बन्ध यही है कि एक ओर तो उसके माध्यम से नायक के चरित्र का उत्कर्ष प्रदर्शित किया जाता

है उसकी धीरता और उदारता का औदात्य, लालित्य, औद्धत्य और सहिष्णुता की कोटिका निर्धारण होता है तो दूसरी ओर तद्गत रसाभिव्यक्ति जो सामाजिक को अन्त तक अभिभूत किए रहती है उसे गति, तीक्ष्णता, गहरायी और स्पन्दन देती है ।

प्रतिनायक एवं रसनिष्पत्ति

नायक-प्रतिनायक के इस प्रगाढ़ सम्बन्ध को देखने के उपरान्त रस के सन्दर्भ में प्रतिनायक-भूमिका की उपयोगिता का मूल्यांकन करते हुए हम पाते हैं कि कुछ रसों की निष्पत्ति तो बिना प्रतिनायक के सहयोग के हो ही नहीं सकती । द्वितीय अध्याय में प्रतिनायक के नाट्यशास्त्रीय स्वरूप की विवेचना करते समय इस विषय पर संकेत दिये जा चुके हैं कि उसकी इस उपयोगिता को नाट्यशास्त्रियों ने भी स्वीकार किया है । यहां विभिन्न रसों अथवा रसकुलों के सन्दर्भ में प्रतिनायक की महत्वपूर्ण भूमिका की उपयोगिता पर कुछ व्यापक चर्चा अपेक्षित है ।

षड्दीप्तरस एवं प्रतिनायक

इस दृष्टि से षड्दीप्तरसों का अपना विशिष्ट स्थान है । यह षड् रस हैं ; वीर, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, करुण एवं भयानक[1]। ऐसा नहीं है कि शान्त, हास्य एवं शृङ्गार रसों के सन्दर्भ में विरोध की कोई उपयोगिता नहीं है । वस्तुत: उनके साथ विरोध को प्रतिनायक के नाट्यशास्त्रीय स्वरूप के माध्यम से निष्पन्न होते हुए प्रदर्शित करने की अपेक्षा आचार्यों ने विरोध के दूसरे स्वरूपों को अपनाया है, जैसाकि अभी पहले कहा जा चुका है ।

प्रतिनायक वह चाहे किसी कोटि का हो उसका नायक से सम्बन्ध यही है कि नायक उसके अस्तित्व को स्वीकार करता है उसके कारण आने वाली मनःस्थिति को झेलता है । पीड़ा और द्वन्द्व को अनुभव करता है, उसमें जीता है, उसका प्रसन्नतापूर्वक साक्षात् करता है । इस द्वन्द्व के अनेक रूप हैं वासवदत्त के भय के कारण उदयन के मन में उत्पन्न द्वन्द्व, उदयन के बन्दी बनाए जाने पर यौगन्धरायण के मन बुद्धि पर छा जाने वाला द्वन्द्व, दुर्वासाशाप के कारण दुष्यन्त के मन में जायमान द्वन्द्व और लाञ्छित शकुन्तला की शारीरिक वेदना एवं मानसिक द्वन्द्व, सीताहरण पर राम और सीता के मन का

---

1 भरत० १८।१२७, १४५, द० रू० ३।५८ सा० द० ६।२४४

द्वन्द्व, और सीतापरित्याग पर दोनों ओर उत्पन्न द्वन्द्व । शकार के कारण चारुदत्त का अपमान होता है, उसके मन में जो द्वन्द्व होता है, उसे जो सामाजिक जीवन में क्षति होती है, वह भिन्न प्रकार का द्वन्द्व है । इसके अतिरिक्त वीर अथवा रौद्र अथवा करुण प्रभृति कुछ ऐसे ही ~~प्रकृत प्रसंग में~~ दीप्त रसों से तात्पर्य उन विशिष्ट रसों से है जिनके मूल में दीप्ति, दीप्त, प्रकाशात्मिकावृत्ति अथवा ओज की भावना है । इस दृष्टि से ध्वन्यालोक-कार का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है --

रौद्रादयोरसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः ।

तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्योजो व्यवस्थितम् ।। ध्व० २।६

रौद्रादयोहिरसाः परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्ति इति लक्षणया त एव दीप्तिरित्युच्यते।।

इस स्थल पर ध्वन्यालोककार ने रौद्रादिरसों को दीप्ति-उज्ज्वलता को किंवा ओज को उत्पन्न करने वाला माना है । रौद्रादि से उन्होंने किन २ रसों को माना है ? अभिनवगुप्त के अनुसार इस आदि के द्वारा वीर एवं अद्भुत रसों की भी गणना की जानी चाहिए ।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि वीर, अद्भुत एवं रौद्र रस दीप्तिमूलक हैं । जहां तक वीभत्स, करुण और भयानक रसों का सम्बन्ध है इसमें सन्देह नहीं है कि उनमें भी दीप्ति का स्थान है । इसे ही प्रकारान्तर से इस तरह स्पष्ट समझा जा सकता है कि इन छहो रसों में उत्तेजना को पर्याप्त स्थान मिलता है । इस दीप्ति अथवा उत्तेजना की सही व्याख्या उनका मानसमन पर त्वरित प्रभाव है । एक वीर रस का काव्य, वीभत्स दृश्य, करुणा का पात्र, अद्भुत कार्य और किसी का रौद्र और भयानक रूप देखकर जिस शीघ्रता से उसका प्रभाव मन पर पड़ता है दुष्यन्त का प्रेम, बसन्तक का हास्य और नागानन्द का शम उतना शीघ्र प्रभाव नहीं डाल पाता ।

रूपक का आरम्भ होते ही 'ममरिपुबलकालं लाङ्गलं लङ्घयित्वा' अथवा 'चञ्चद्भुजभ्रमित०' किंवा 'आस्वादितद्विरदशोणित' द्वारा सामाजिक पर जितनी तीव्रता एवं तीक्ष्णता से क्रोध की भावाभिव्यक्ति होती है शृङ्गार, हास्य अथवा शान्त-रस-प्रधान रूपकों में वह उतनी शीघ्रता से नहीं होती । काव्यप्रकाशकार ने इस ओज की

सुतरां व्याख्या करते हुए कहा है 'चित्तस्य विस्तार रूप दीप्तत्वजनकमोज:'[1] और यह ओज, वीर, बीभत्स तथा रौद्र रसों के माध्यम से क्रमश: अधिक चित्त विस्तारक होता जाता है :--

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ।
बीभत्स-रौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च । --का० प्र० ८।६९-७०

यह चित्त की विस्तारकता ही वह तत्व है जो विवेच्य चतुरसों को शृङ्गार, हास एवं शान्त रसों से पृथक् करता है ।

भरतमुनि के 'दीप्त-काव्य-रस-योनि:'[2] इस कथन को ध्यान में रखते हुए उनके डिम एवं व्यायोग रूपक भेदों और तदनुसारी परम्परा में दशरूपककार[3] एवं विश्वनाथ[4] के डिम एवं व्यायोग के लक्षण को देखा जाए तो यह दीप्तिमूलक चतु-रसों की मान्यता और भी प्रामाणिक सिद्ध हो जाती है । इसके अतिरिक्त प्रधानता अप्रधानता की दृष्टि से - हेतु हेतुमद्भाव के अनुरूप रसविषयक चर्चा में भरतमुनि स्पष्ट-रूपेण कहते हैं :--

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रस: ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानक: ।।

वस्तुत: भरतमुनि के इस कथन के आधार पर शृङ्गार का नैकट्य हास्य से बनता है एवं अन्य छहों रस एक अन्य कोटि में ठहरते हैं जहां उनमें कारणकार्य सम्बन्ध है और वीर, रौद्र एवं बीभत्स की ओजोमूलकता के परिप्रेक्ष्य में तज्जायमान क्रमश: अद्भुत, करुण एवं भयानक रसों में भी वही भाव अभिप्रेत होता है । वस्तुत: ओज, दीप्ति-प्रकाशन किंवा चित्तविस्तारकता के रूप में जिस गुण को हम उपर्युक्त चतुरसों के मूल में देख रहे हैं वह ओज दशरूपककार के विस्तार, क्षोभ, विक्षेप का ही पर्याय है[5] ।

---

१ का० प्र० ८।६९ की वृत्ति　　२ ना० शा० १८।१३७, १४५
३ द० रू० ३।५७-६२　　४ सा० द० ६।२३३, २४४

५ विकासविस्तरक्षोभविक्षेपै: स चतुर्विध: ।
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनस: क्रमात् ।।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ।
अतस्तज्जन्यतातेषामत एवावधारणम् ।। --द० रू० ४।४३-४५

यह भरत की उपर्युक्त मान्यता का पोषक सिद्धान्त है जहां उन्होंने अन्य अनेक भावेन इन रसों का निर्धारण किया है ।

तात्पर्य यह कि वीर, बीभत्स, रौद्र, अद्भुत, करुण एवं भयानक ये षड्रस अपने विशिष्ट रूप में शृङ्गार,हास्य एवं शान्त से पृथक् हो जाते हैं । यही कारण है नाट्यशास्त्रियों ने जिन रूपकभेदों में इन षड्रसों के प्रयोग का विधान किया है वहां तदनुरूप कथानक में 'संघर्ष' को युद्ध-नियुद्ध को स्थान मिला है । यहां संघर्ष से तात्पर्य उस स्थिति से है जहां स्वाभाविक रूप से नायक-विरोध की भावना एवं तदनुरूप भूमिका के निर्माण का अवकाश स्वत: बन जाता है और अन्तर्द्वन्द्व को संघर्ष और युद्ध-नियुद्ध के रूप में विस्तार मिलता है ।

ऐसे रूपक भेदों की चर्चा के पूर्व इस शंका का निराकरण आवश्यक है कि क्या जहां शृङ्गार, हास्य अथवा शान्त रस को अङ्गी बनाया गया है वहां नायक विरोधी भावना उत्पन्न नहीं हो सकती । वस्तुत: शृङ्गार हास्य अथवा शान्त रस के परिपाक की दृष्टि में रखते हुए विरोध की भावना और नायक के मार्ग में बाधा की स्थिति तो उत्पन्न हो सकती है, होती देखी जाती है । किन्तु रति, हास एवं निर्वेद जैसे भावों के सन्दर्भ में प्रतिनायकोचित गुणों का विस्तार रसानुकूल नहीं प्रतीत होता यही कारण है इन रसों के प्रसंग में या तो धीरोद्धत प्रतिनायक की भूमिका है ही नहीं ; फिर भी यदि कहीं विरोध है तो वह ऊपरी धरातल पर । शकार की योजना अवश्य एक अपवाद है । किन्तु वह भी रस की दृष्टि से शृङ्गार के अनुकूल हास्य को जन्म देता है यद्यपि वह नायक-नायिका के मध्य बाधक बनकर आता है ।

शृङ्गार अथवा रति के परिप्रेक्ष्य में, नायिका के प्रति प्रतिनायक का मोह हो सकता है किन्तु उसे सांस्कृतिक दृष्टि से उचित नहीं माना गया है । यहां तक कि गणिका वसन्त सेना से शकार की रति-भावना फलीभूत नहीं होने पाती, यह आदर्शों के प्रतिकूल तो है ही रस के नैरन्तर्य की दृष्टि से भी अनुचित है अतएव उसे 'आभास' रसाभास भावाभास कहकर छोड़ दिया जाता है । ऐसे अवसरों पर यह ध्यान देना आवश्यक है कि संस्कृत नाट्यपरम्परा रसवादी है और उस रस की निष्पत्ति भी इतनी साधारण नहीं कि क्षण में ही हो जाए । इसी कारण एक ओर तो

शृङ्गार को 'दीप्त' नहीं माना गया दूसरी ओर उसे भ्रष्ट नहीं होने दिया गया। शृङ्गार रस के ही सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। किसी भी अङ्गी रस के सन्दर्भ में ऐसे विरोधी रसों की योजना उचित नहीं मानी गयी। वेणीसंहार में दुर्योधन-भानुमती के व्यापार को इसी कारण शृङ्गाराभास माना जाता है। क्योंकि उससे नायक ही नहीं प्रतिनायक भी उदयभ्रष्ट हो जाता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही नाट्याचार्यों ने अनुकूल एवं प्रतिकूल, सहयोगी एवं विरोधी रसों की भी योजना की है। इतना ही नहीं विभिन्न रूपकों को भी कथावस्तु एवं उनके रस के आधार पर विभक्त किया गया है।

इस परिप्रेक्ष्य में कुछ रूपक भेदों के लक्षण स्वतः में महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। जैसाकि कहा जा चुका है नाट्यशास्त्रियों ने अनेक रूपकों के लक्षण प्रसंग में इन अङ्गदीप्त-रसों में से एक को अङ्गी (मुख्य) बनाकर अन्य अनुकूल रसों को उनका पोषक बनाकर प्रयोग करने का विधान किया है। ऐसे रूपकों में संघर्ष के माध्यम के रूप में त्रिविद्रव, त्रिकपट,उद्धतपुरुषप्राय भूमिकाओं, माया इन्द्रजाल जैसे आश्चर्यजनक कार्यों की योजना का विधान किया है।

<u>प्रतिनायक एवं डिम रूपक भेद</u>

ये रूपक भेद हैं - डिम,व्यायोग,समवकार,अङ्क (उत्सृष्टिकाङ्क) और ईहामृग। इन रूपक भेदों की सबसे बड़ी विशेषता है उनमें संघर्ष-प्रधान-कथावस्तु का उपगूहन। द्वितीय अध्याय में भरतमुनि के प्रतिनायक सम्बन्धी विचारों का संक्षिप्त परिचय देते हुए बताया जा चुका है कि इन लक्षणों के आधार पर वहां नायक-विरोधी भूमिका की योजना आवश्यक है। भरतमुनि के इन लक्षणों की अन्य आचार्यों के लक्षणों से तुलना करने पर यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है कि इन रूपक भेदों में यदि प्रतिनायक की भूमिका का ग्रथन न किया जाए तो उनमें रसपरिपाक की कल्पना अत्यन्त कठिन हो जाएगी। रूपक भेद के उदाहरण रूप में भरतमुनि ने जिस रूपक का उल्लेख किया है वह है त्रिपुरदाह। त्रिपुरदाह का कारण प्रतिनायक के ही कार्यों का प्रतिफल है। यदि ऐसा न होता सामाजिक को उससे कितना परितोष होता इसे सरलता से समझा जा सकता है।

दशरूपककार के अनुसार डिम रूपकभेद का कथानक प्रसिद्ध अर्थात् ऐतिहासिक इतिवृत्त प्रधान होना चाहिए जिसमें देवगन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, भूतप्रेत, पिशाच आदि विभिन्न सोलहनायकों का प्रयोग होना चाहिए जो स्वभावत: (प्रकृति) उद्धत होंगे जिसमें हास्य, शृङ्गार को छोड़कर शेष दीप्तिप्रधान वीर, अद्भुत, बीभत्स, रौद्र, करुण एवं भयानकरसों का प्रयोग हो सकता है किन्तु जिसका अङ्गीरस रौद्र होगा। इसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोधादि से उद्भ्रान्त लोगों की चेष्टा का प्रदर्शन होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसकी कथावस्तु विमर्श संधि को छोड़कर शेष चार संधियों में बद्ध तथा चार अङ्कों में समाप्य होनी चाहिए[1]।

उद्धत पुरुषों की प्रधानता, रौद्र को अङ्गी के रूप में तथा अन्य दीप्ति-प्रधान रसों की गौण रूप में योजना, माया, इन्द्रजाल प्रभृति कार्यों के प्रदर्शन, संग्राम की अनिवार्यता और दीप्त रसों को देखते हुए उसमें प्रतिनायक की अनिवार्य योजना अप्रत्याशित नहीं है।

डिम की पदव्याख्या करते हुए अभिनवभारतीकार कहते हैं :— 'डिमो डिम्बो विप्लव इति पर्याया:, तद्योगादयं डिम:। अन्येतु ध्वन्त इति डिमा: उद्धत-नायकास्तेषां वृत्तिर्यत्रेति[2]।।' अर्थात् डिम उत्पात का पर्याय है। भरतमुनि स्वयं भी डिम की कथावस्तु में निर्घात, उल्कापात, युद्धनियुद्ध, घर्षण और स्फोट की योजना का स्पष्ट विधान करते हैं। जिससे नायक-विरोधी किंवा प्रतिनायक जैसी भूमिका की रंगमंच पर अवतारणा सहज हो उठती है। नाट्यदर्पणकार कहते हैं :—

'रण: संग्राम: बाहुयुद्धबलात्कार पराभवादिरूप:। डिमो डिम्बो विप्लव इत्यर्थ: तद्योगादयम् डिम:।' (ना० द० द्वितीय विवेक)।

अर्थात् रौद्ररस की प्रधानता, शान्त, हास्य एवं शृङ्गार को छोड़कर अन्य रसों का गौण रूप में प्रयोग, ख्यात कथावस्तु, उल्कापात, निर्घात, इन्द्रजाल आदि की योजना, इस रूपक भेद की विशेषताएं है। जिसमें सुर-असुर पिशाच आदि के रूप में

---

१ द० रू० ३।५७-६०

२ भरत० १८।१३६-१४१

इस चतुरङ्कीय रूपकमें चार-चार के क्रम से सोलह नायक (पुरुष भूमिकाएं) होते हैं[1]।

साहित्यदर्पणकार,नाट्यशास्त्र एवं दशरूपककार की ही मान्यताओं को दुहराते हैं[2] तथा उन चड्दीप्त-रसों की योजना का विधान करते हुए शृङ्गार, हास्य एवं शान्त रसों के प्रयोग का निषेध करते हैं। वस्तुत: यह सम्पूर्ण मान्यता भरतमुनि के ही लक्षण पर आधारित है,जो सर्वमान्य है। तात्पर्य यह कि यहां रौद्र-रस की अनिवार्यता को देखते हुए ऐसे रूपक भेदों में प्रतिनायक की उद्भावना स्वत: स्पष्ट हो उठती है। युद्ध नियुद्ध आदि के परिप्रेक्ष्य में यहां प्रतिनायक की भूमिका को नायक के प्रतिरोध का पर्याप्त अवकाश भी मिलता है।

प्रतिनायक एवं व्यायोग रूपकभेद

व्यायोग रूपकभेद की भी कथावस्तु इतिहासप्रसिद्ध होती है। उसके पात्र (नर) सुप्रसिद्ध एवं उद्धत चरित्र वाले होते हैं। उसमें भी संग्राम की योजना होती है किन्तु उसका कारण `स्त्री` कभी भी नहीं होगी। एक दिन की कथा पर आधारित यह रूपक,गर्भ एवं विमर्श सन्धियों से रहित तथा एक अङ्क में समाप्त होना चाहिए[3]। भरतमुनि के अनुसार उसमें युद्ध-नियुद्ध,धर्षण की योजना होनी चाहिए तथा सुख-दु:ख की समानयोजना (१८।९२६) पुरुषभूमिकाओं की बहुलता और न्यूनातिन्यून स्त्री पात्रों का प्रयोग होना चाहिए। भरतमुनि तथा दशरूपककार के व्यायोग लक्षण में थोड़ा सा अन्तर है जो सैद्धान्तिक है। भरतमुनि व्यायोग में संग्राम-युद्ध नियुद्ध की योजना का विधान तो करते हैं किन्तु यह बन्धन नहीं लगाते कि यह संग्राम `अस्त्री-निमित्त` हो। जैसाकि दशरूपककार - साहित्यदर्पणकार मानते हैं[4]। इसके अतिरिक्त भरत इसमें प्रयुक्त रसों के सम्बन्ध में केवल `दीप्तकाव्य रसयोनि:` कहकर संकेत करते हैं और दशरूपककार `डिम` लक्षण में बताये गए छ रसप्रयोग को आदर्श मानते हुए चड्-दीप्त-रसों की योजना के साथ रौद्ररस को अङ्गी बनाने का विधान करते हैं।

---

१ भा० द० २।२१-२२ २ सा० द० ६।२४१-२४४

३ द० रू० ३।६०-६२ ४ सा० द० ६।२३१-२३३

भास के मध्यम व्यायोग को आदर्श मानकर यदि देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है उन्हें भरत और दशरूपक के बीच की ऐसी ही परम्परा का ज्ञान है जिसके अनुसार व्यायोग 'अस्त्रीनिमित्त' न होकर 'अल्पस्त्रीजनयुक्त' प्रयोग है, और इसी कारण तदुक्त संग्राम हिडिम्बा के आदेश पर सिद्ध होता है और उसमें एक अन्य स्त्री-पात्र ब्राह्मणी के चरित्र को भी ग्रथित किया गया है। जो भी हो कथावस्तु, नेता और रस की दृष्टि से इस रूपक भेद में भी प्रतिनायक की भूमिका का महत्वपूर्ण स्थान स्वयं सिद्ध है। भास के व्यायोगों में इस तथ्य के स्पष्ट दर्शन होते हैं। दशरूपककार ने इसके उदाहरण के रूप में 'सहस्रार्जुनवध' का और साहित्यदर्पणकार ने 'सौगन्धिकाहरण' का उल्लेख किया है। इनकी कथावस्तु के आधार पर इनमें प्रतिनायक की अनिवार्यता स्वतः स्पष्ट है। इसी कारण रसार्णवसुधाकरकार सिंहभूपाल ने उसमें प्रतिनायक की योजना का उल्लेख करते हुए कहा है :--

'ख्यातेतिवृत्तसम्पन्नो निस्सहायकनायकः
युक्तोदशावरैः ख्यातैरुद्धतैः प्रतिनायकैः'

--रसार्णवसुधाकर ३।२२६

अर्थात् व्यायोग में अकेले नायक की प्रतिद्वन्द्विता में दशावर उद्धत-प्रतिनायकों की योजना होनी चाहिए।

प्रतिनायक एवं समवकार रूपभेद

समवकार एक ऐसा रूपक भेद है जिसकी कथावस्तु 'देव अथवा असुर-विषयक' होती है और जिसकी पृष्ठभूमि पौराणिक होती है ('देवासुरबीजकृतं' भरत के इस कथन को दशरूपककार,[1] नाट्यदर्पणकार[2] एवं साहित्य-दर्पणकार[3] इसी रूप में ग्रहण करते हैं)। समवकार में त्रिविद्रव, त्रिकपट के आधार पर जिस वस्तु की अपेक्षा

---

१ ख्यातं देवासुरं वस्तु द० रू० ३।६२

२ समवकारे च संविधाप्यः सहास्यः शृङ्गारः कपटो विद्रवो देवासुर-वैरनिमित्तं संप्रहारादिकं च दिव्यप्राणबाध्य लौकिकीमिव चपातिमिहीनि मायेन्द्रजाल-प्लुत-छद्मचर्मोच्चेद-पुस्तावपातादि-बहुला ऽसङ्ग्रामूत्या कर्मापि प्रहसन-कपट-विद्रवा-भिवृष्टिजानां परां पुष्टिमुत्पादयितुं व्युत्पाद्यते।
यथाहुः शरास्त्र वीर-रौद्रेण नियुक्तेनात्मनेन च।
बाला मूर्खाः स्त्रियश्चैव हास्यशोकाद्यपि च ॥ ना० द० द्वितीयविवेक

३ वृत्तं समवकारेतु ख्यातं देवासुराश्रयम्। -- सा० द० ६।२३४

की जाती है वह त्रिशृङ्गार के कारण ध्वस्त होती प्रतीत होती है किन्तु यहां वीर रस के अङ्गी होने से[1] तथा शृङ्गार को धर्म, अर्थ एवं प्रहसनमूलक काम के रूप में व्याख्यायित करने से उसका निराकरण हो जाता है और इस रूप में यह त्रिशृङ्गार के रूप में संचरण करने वाले व्यभिचारीभाव वीररस के मध्य उचित ही प्रतीत होते हैं । यद्यपि दशरूपककार के लक्षण[2] से भरत के लक्षण की तुलना करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि इस रूपक भेद में `आमुखं नाटकावित्` तथा `बहुवीररसाः सर्वे` के आधार पर अङ्गदीप्त रसों की योजना की सीमा टूट जाती है किन्तु वीररस की प्रधानता तथा त्रिविद्रव, त्रिकपट, देव-दानव के मध्य संघर्ष पर आधारित वस्तु के परिप्रेक्ष्य में प्रतिनायक पात्र का ग्रथन नितान्त आवश्यक है । अभिनवगुप्त ने इसी कारण इस रूपक के सामाजिकों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए कहा है :--

`एवं महात्मनो देवतात्मका: सह दैत्यात्राधाषनेन प्रयोगेणानुगृह्यन्ते, निरनुसन्धानहृदया: स्त्रीबालमूर्खाश्च विद्रवादिना कृतहृदया: क्रियन्ते` (अभिनवभारती)

प्रतिनायक एवं उत्सृष्टिकाङ्क रूपभेद

उत्सृष्टिकाङ्क अथवा अङ्क इस अभिधान से प्रसिद्ध रूपक भेद की कथावस्तु की सीमा प्रख्यात होते हुए भी `उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत्`[3] के आधार पर कवि प्रतिभा को प्रमाण मानती है । `यद्दिव्यनायककृतं काव्यं संग्रामबन्धवधयुक्तम्`[4] भरतमुनि के इस कथन के आधार पर उसमें संग्राम, बन्धन एवं वध जैसे कार्यों की योजना की जानी चाहिए । इसके ख्यातवृत्तात्मक होने का कोई स्पष्ट विधान भरत नहीं करते हैं किन्तु वे दिव्य नायक की सीमा से सम्भवत: ऐसा ही संकेत करते हैं । अतएव इसके लक्षण में उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने `प्रख्यातवृत्तम्`[5] की मान्यता

---

१ बहुवीररसा वीररसाङ्गनी -- द० रू० ३।६४ एवं वृत्ति भाग
वीरमुख्यो ऽखिलो रस: । सा० द० ६। २३६

२ द० रू० ३।६२-६८ ३ द० रू० ३।७० ४ भरत० १८।१४६

५ (क) `उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातमितिवृत्तं क्वचिद् भवेत्`
--भावप्रकाशन अष्टमा अधिकार

(ख) (उत्सृष्टिकाङ्के) `वस्तु तद् स्वयं प्रसिद्धं वा सर्वत्र निबन्धनीयम्`
--नाट्यदर्पण द्वितीय विवेक

(ग) प्रख्यातमितिवृत्तं च कवि: बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् । सा० द० ६।२५१

को दुहराया है । जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है भरतमुनि दिव्यनायक की मान्यता प्रस्तुत करते हैं, किन्तु दशरूपककार, नाट्यदर्पणकार, भावप्रकाशनकार एवं साहित्यदर्पणकार सभी इस रूपकभेद में प्राकृत-साधारणजन को नायक बनाने का विधान करते हैं[1]। नायक और कथावस्तु के सम्बन्ध में भरत एवं उत्तरवर्ती आचार्यों के मध्य अन्तर होते हुए भी सभी आचार्यों ने एकमत से इसके लिए करुणरस का विधान किया है[2]। भावप्रकाशनकार `क्वचिद्भयानक प्राय:` का भी विधान करते हैं जिसका कारण सम्भवत: सभी आचार्यों की यह मान्यता है जिसके अनुसार इस रूपक-भेद में भी युद्ध, उद्धतप्रहार, संग्राम, वध, बन्धन आदि से सम्बद्ध कथावस्तु की योजना का विधान ~~में निहित~~ है । रस चाहे करुण हो अथवा भयानक उनका दीप्तरसयोनित्वात् आश्चर्य और वस्तु के अनुरूप प्रतिनायक की उपस्थिति महत्वपूर्ण है ।

यह युद्धादि व्यापार निश्चितरूप से नायक की प्रतिद्वन्द्विता में प्रतिनायक जैसी भूमिका के अस्तित्व को साकार करता है । दशरूपककार के `वाचा-युद्धं विधातव्यं` एवं साहित्यदर्पणकार के `युद्धं च वाचाकर्तव्यं` की सीमा भरत की परम्परा से अनुप्राणित है । नाट्यदर्पणकार भी ऐसा ही संकेत करते हैं । अत: इस

----

१ `नेतारो प्राकृता: नरा:` द० रू० ३।७१

`मुग्धा-स्त्रीपरशोदिद्वप्रहारबन्धवधाकन्दाविक्लवसंग्रामा: पात्रत्वेन नियोज्या:`
— ना० द० विवेक २

`दिव्येस्तुक: पुरुषै: हैर्भरन्ये: समन्वित:`--भावप्रकाशन आठवां अधिकार

`उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतार: प्राकृता नरा:`--सा०द० ६।२५०

२ करुणरसप्रायकृती - भरत० १८।१४७, रसस्तु करुण: स्थायी - द०रू० ३।७१,

`करुणाङ्किक: - करुणरसबहुल्` — ना० द० विवेक २,

`उत्क्रमणीया सृष्टिर्जीवितं प्राणा: यासां ता उत्सृष्टिका: शोचन्त्य:

स्त्रियस्ताभिरङ्कितत्व-वाक्यपोद्ध ।`-- अभिनव० १८ अध्याय

`प्रभूत करुणस्त्रीणां परिदेवितसंकुर: ।

निर्वेदभाषितै: स्त्रीणां नानाव्याकुल चेष्टितै: ।।` भाव० अधि० ८

`रसोऽत्र करुण: स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम् निर्वेदभनं बहु: ।

--सा० द० ६।२५१-२५२

रूपकविशेष की सीमा में वास्तविक युद्ध का अधिक अवकाश नहीं है । फिर भी दश-रूपककार, नाट्यदर्पणकार, भावप्रकाशनकार एवं साहित्यदर्पणकार एवं इन सबके पूर्व भरत-मुनि द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में कम से कम युद्ध संग्राम, वधबन्धादि सम्बन्धी सम्वाद-कथोपकथन, आकाशभाषित तो होंगे ही, अत: उसके निमित्त नायकविरोधी पात्र की योजना अवश्यम्भावी है अन्यथा दीप्तरस अदीप्त ही रह जायेंगे ।

इस रूपकभेद एवं तद्गत रस के संदर्भ में कहा जा सकता है कि परम्परा के अनुरूप नायक की विजय निश्चित है, अत: इस रूपक का रस प्रतिपक्ष की पराजयजन्य करुणा में निहित होगा तो उससे प्रतिनायक के नायकत्व की सिद्धि होगी । कीथ महोदय ने `ऊरुभङ्गम्` को `उत्सृष्टिकाङ्क` रूपकभेद माना है । उसमें दुर्योधन का नायकत्व स्वयं सिद्ध है एवं नेपथ्य में प्रतिनायक भीम की उपस्थिति तो है ही । यदि दुर्योधन नायक नहीं प्रतिनायक ही है तो भी यही सिद्ध होता है कि इस रूपकभेद एवं तद्गत करुण रस के लिए प्रतिनायक की भूमिका अनिवार्य है । नायक की दारुणिक पराजयजन्य करुणा के सन्दर्भ में भी प्रतिपक्ष की सत्ता माननी ही होगी । चूंकि उत्सृष्टिकाङ्क में करुणरस अङ्गी (मुख्य) होगा अत: उसका नायकगत होना तो निश्चित ही है । अन्यथा किसी अन्य विरोधी रस के अङ्गी होने पर भी करुणरस की गौणता प्रतिपक्ष की सत्ता का ही समर्थन करेगी । ऐसे ही किसी रूपक को लक्ष्यरूप में रखकर आनन्दवर्धन ने कहा है :--

`नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित् प्रभावातिशयवर्णने तत्प्रतिपक्षाणां य: करुणो रस: स परीक्षकाणां न वैक्लव्यमादधाति प्रत्युत प्रीत्यतिशयनिमित्ततां प्रतिपद्यते` — ध्वन्या० 3।20 वृत्ति भाग

प्रतिनायक एवं ईहामृग रूपकभेद

इस रूपकभेद के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त कहते हैं - `ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्था यत्र ईहामृग: ।`- अभिनवभारती । किन्तु इसे ही स्पष्ट करते हुए, `नायको मृगवदलभ्यां नायिकामत्र ईहते वाञ्छतीतीहामृग:` अर्थात् मृग सी-अलभ्य नायिका की इच्छा करने वाले नायक की क्रियाओं का चित्रण ही इस रूपकभेद की विशेषता है, ऐसा भी कहा जा सकता है । भरतमुनि के अनुसार दिव्य नायक द्वारा

दिव्य स्त्री के लिए कृत कर्मों वाले इस रूपकभेद में युद्ध की योजना से युक्त कथावस्तु का ग्रथन होता है। इसी कारण भरतमुनि व्यायोग रूपकभेद के समान इसे भी 'दीप्तकाव्यरसयोनि' अर्थात् षड् दीप्त रस- वीर, बीभत्स, रौद्र, भयानक, करुण एवं अद्भुत में से एक को मुख्य तथा अन्यों को गौण रसों के रूप में प्रयोग करने का विधान करते हैं। इसके लक्षण में भी भरतमुनि ने प्रतिनायक की भूमिका का अभिधानत: कहीं भी उल्लेख नहीं किया है[1]। किन्तु कालान्तर में सभी नाट्यशास्त्रियों ने इस रूपकभेद में प्रतिनायक पात्र का अभिधानत: उल्लेख किया है[2]।

दशरूपककार इस तीन संधि एवं चार अंकों में समाप्य रूपक भेद में प्रतिनायक की योजना को लेकर एक मौलिक सिद्धान्त रखते हैं। 'नरदिव्यावनियमान्नायक-प्रतिनायकौ' के रूप में वे दिव्यनायक की प्रतिद्वन्द्विता में मर्त्य पात्र एवं मर्त्य नायक की प्रतिद्वन्द्विता में किसी दिव्य पात्र को प्रतिनायक के रूप में प्रस्तुत करने का विधान करते हैं। इतना ही नहीं दोनों को सुप्रसिद्ध एवं धीरोद्धत होना चाहिए। प्रतिनायक को नायक के विपरीत अनुचित कर्मों में संलग्न होना चाहिए। ईहामृग की कथावस्तु के अनुरूप दिव्य नायिका जोकि वस्तुत: नायक में अनुरक्त होगी उसे प्रतिनायक अपहरण करेगा। अत: स्वाभाविक रूप से उस नायिका के प्रेम की प्राप्ति के लिए प्रतिनायक कृत शृङ्गार चेष्टाएं शृङ्गाराभास की स्थिति उत्पन्न करेंगी।

नाट्यदर्पणकार इस रूपक भेद पर विस्तारपूर्वक विचार करते हैं। किन्तु सैद्धान्तिक स्तर पर दशरूपककार, नाट्यदर्पणकार, रसार्णवसुधाकरकार एवं साहित्यदर्पणकार में कोई विशेष अन्तर नहीं है। ~~सम्मत्र~~ सभी आचार्य भरत की

----

१ भरत० १८।१२६-१३५

२ 'प्रतिनायको दिव्यांशादिनिर्व्यक्तिनाद्यनुककारी विधेय:'- द०रू० ३।७२ वृत्ति भाग, 'अत्र हि दिव्यां नायकस्त्रियम् अनिच्छन्तीं प्रतिनायकोऽपहरति'- ना०द० विवेक २ 'स्त्री निमित्तविग्रह्य: धन्यथा: प्रतिनायका: ।'--रसार्णवसुधाकर ३।२८६ 'नरदिव्यावनियमौ नायकप्रतिनायकौ' -- सा० द० ६।२४६

परम्परा को आगे बढ़ाते हुए दशरूपककार के दिव्य एवं मर्त्य नायक-प्रतिनायक के विपर्यय-सिद्धान्त का पोषण करते हैं। दशरूपककार के इस सिद्धान्त का मूल भी भरतमुनि के 'विप्रत्ययकारकश्चैव' में खोजा जा सकता है। यह विवेच्य विषय के अनुरूप एक महत्त्व-पूर्ण रूपकभेद है। जिसमें अङ्गीदीप्तरसों की योजना के अतिरिक्त रसाभास अथवा शृङ्गाराभास की स्थिति और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इतना ही नहीं भरत से लेकर उत्तरकालिक आचार्यों के लक्षणों को देखने पर यह तथ्य और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इस लक्षण के अन्तिम चरणों में सभी आचार्यों ने अपेक्षित पात्रों की स्थिति एवं उनके वध तथा युद्ध के प्रशमन का निरूपण किया है। इस रूप में यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिनायक के कलुष कर्म एवं उसकी उपस्थिति द्वारा वीर, रौद्र,भयानक आदि दीप्त रसों में से जो भी रस अङ्गी हो वह पूर्णरूप से निष्पादित किया जा सकता है।

वैसे तो रंगमंच पर युद्ध-वध आदि का निषेध सभी आचार्यों ने किया ही है किन्तु इस रूपकभेद में इसका विशेषरूप से उल्लेख यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि नायक-प्रतिनायक के मध्य वादविवाद, अनुबन्धों के अतिरिक्त युद्ध की स्थिति भी यहां आती है। अत: ऐसे रूपकभेद में प्रतिनायक का क्या स्वरूप होगा इसे सरलता पूर्वक समझा जा सकता है। नाट्यदर्पणकार स्पष्टरूपेण कहते हैं :--

'....स्त्रियमुद्दिश्य हेतु संग्रामो यत्र। अत्र हि दिव्यां नायकस्त्रियमनिच्छन्तीं प्रतिनायकोऽपहरति। ततस्तन्निमित्तको नायकप्रतिनायकयोः संग्रामो निबन्धनीयः।.. .. व्याजेन वधाभावो ... शरीरिणि व्याजेन पलायनादिना रणाभावो विधेयः।'

स्त्री - नायक स्त्री का अपहरण, समर, वध, इन सबकी योजना के कारण इस रूपक भेद को पर्याप्त लोकप्रिय होना चाहिए था, किन्तु उपलब्ध साहित्य में इसके विरल उदाहरणों से यह सिद्ध है कि इस भेद का भी नाट्यशास्त्रीय रूप ही अधिक आकर्षक है। जिसका कारण चाहे जो भी रहा हो किन्तु इसमें नाट्यशास्त्रीय निषेधाज्ञाएं भी बाधक रही होंगी इसमें सन्देह नहीं।

प्रतिनायक एवं नाटक तथा प्रकरण रूपक भेद

समवकार, व्यायोग, डिम, उत्सृष्टिकाङ्क, और ईहामृग रूपक भेदों के अतिरिक्त नाटक तथा प्रकरण ऐसे मुख्य रूपक भेद है जिनको प्रकृत प्रसंग में देखना अभीष्ट होगा । नाटक एवं प्रकरण को भरतमुनि ने 'नानारस योजना' के रूप में विविधता दी है । अङ्गीप्त रसों की विवेचना के आधार पर तदनुसार इन रूपक-प्रबन्धों में भी प्रतिनायक चरित की योजना में कोई सन्देह नहीं रह जाता । जहां तक शृङ्गार, हास्य एवं शान्त रसों का सम्बन्ध है उस दृष्टि से शृङ्गार-प्रधान रूपकों में विरोधी भावों और नायक-नायिका के संयोग में विघ्नकारी तत्वों की चर्चा भी की जा चुकी है । विप्रलम्भ शृङ्गार की भूमि इस दृष्टि से नितान्त उर्वरा है जहां कभी दुर्वासा का शाप, तो कभी नायक की बड़ाङ्गिनी का कोप, कभी लोकापवाद (उत्तररामचरित) तो कभी बलात् अकार अथवा दुष्ट की योजना के माध्यम से रस को पराकोटि तक पहुंचाया जाता रहा है । इसे ही काव्यप्रकाशकार ने 'अभिलाष-विरह-ईर्ष्या-प्रवासशापहेतुक:' माना है । संयोग शृङ्गार के सम्पर्क में भी जबकि सीता एवं राम के मध्य प्रेमाङ्कुर उत्पन्न हो चुके हैं रावण की सीता विषयरति (महावीर-चरितम्) वासना के रूप में (रसाभास रूप में) प्रकट होती है । पंचवटी में शूर्पणखा द्वारा राम से रति की याचना और रावण द्वारा सीताहरण जैसे कार्य संयोग शृङ्गार में ही प्रतिनायक के कार्यों को बताते हैं ।

शान्तरसप्रधान नागानन्द में जीमूतवाहन के शान्त और धीरचरित की परीक्षा गरुड़ द्वारा सम्भव हो सकी है । गरुड़ का प्रतिनायकत्व और भविष्य में सर्पभक्षण न करने का प्रतिज्ञारूप-आत्मसमर्पण परम्परा के अनुरूप ही है ।

हास्यरस-प्रधान कोई नाटक अथवा प्रकरण तो उपलब्ध नहीं है किन्तु अङ्गी हास्य में प्रतिनायक के माध्यम से करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर, अथवा भयानक का आभास (रसाभास-भावाभास) असम्भव नहीं है ।

वीथी, भाण, प्रहसन आदि रूपकभेद अथवा नाटिका आदि उप-रूपकों में भी रस के साथ प्रतिनायक का ऐसा ही सम्बन्ध है । उपर्युक्त अनेक रूपक भेदों

के आधार पर इनमें भी प्रतिनायक की स्थिति और उसका रसानुसारी होना नितान्त सम्भव है, अनुकूल है ।

सारांशरूप में नवनवोन्मेषशालिनी कवि प्रतिभा किसी भी प्रकार के बन्धन नहीं स्वीकारती अत: निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि किस रस के साथ प्रतिनायक योजना नहीं हो सकती अथवा किस-किस रस के साथ ही उसकी योजना हो सकती है । दोनों ही स्थितियों में अपवाद मिल सकते हैं । इसी कारण अभिनव-गुप्त कहते हैं :--

'तथाहि धीरोदात्त-धीरललित-धीरप्रशान्तानां पुरुषार्थोपायप्रवृत्तत्वेन नायकानाम-तादृगुपायाश्रयेण प्रतिनायकानां च चरितं सफलत्वाफलत्वेन साधात्क्रियमाणं वीराद्-भुताभ्यां वीरशृङ्गाराभ्यां: वीररौद्रभयानककरुणै: वीरबीभत्सशान्तै: प्रतिनायकगत-रसान्तरसान्तरतया सातिशय चमत्कार गोचरीभूतैर्व्यानुप्रवेशं विषयकर्मादिचतुष्कोपायोपादेय-विषयकर्मादिभ्यश्च निवृत्तिं निर्विशङ्कं विधत्त ।'— अभिनवभारती अध्याय १

अर्थात् तत् तत् इन रसों के माध्यम से कवि अथवा नाटककार नायक की सफलता और प्रतिनायक की असफलता को प्रदर्शित करता हुआ जिस चमत्कार की सृष्टि करता है उसके द्वारा धर्मादि चतुर्वर्ग के प्रति प्रवृत्ति (नायक विजय द्वारा) एवं अधर्म से निवृत्ति (प्रतिनायक पराजय द्वारा) की प्राण प्रतिष्ठा होती है ।

इस प्रकार अभिनवगुप्त किसी रस को किसी नायक या प्रतिनायक से बांधना उपयुक्त नहीं मानते किन्तु वे स्थायी भावों, रसों एवं संचारी भावों के, नायक-प्रतिनायक के सन्दर्भ में औचित्य, अनौचित्य के ज्ञान का होना आवश्यक मानते हुए कहते हैं :-

'स्थायुत्पादकरसकक-तद्गतव्यभिचारि-अयस्त्रिंशत्सात्त्विकाष्टकानुरूपाणां कथाऽवलोऽथानां व्याख्याव्याख्यातैव नायकप्रतिनायक-विषयतया-प्राधान्याभिप्रायेणेति'
—अभिनवभारती अध्याय-१

निष्कर्ष :- इस सम्पूर्ण विवेचना से यह सिद्ध होता है कि :-

(१) रस वह महत्वपूर्ण तत्त्व है जिसकी निष्पत्ति नाटककार का मुख्य लक्ष्य हुआ करता है । किन्तु रसनिष्पत्ति इतनी साधारण क्रिया नहीं है कि बिना किसी

आयोजन के वह पूर्ण हो जाये । उसके लिए `विभावानुभावसंचारि संयोग` आवश्यक है। विभावों में आलम्बन रूप में विभिन्न भूमिकाओं की उपयोगिता अपना स्थान रखती है और `प्रतिनायक` भी एक ऐसी ही भूमिका का विग्रह है जो कभी आलम्बन तो कभी-कभी उद्दीपन विभाव के रूप में भी आता है । नायक-प्रतिनायक का सम्बन्ध भी यही है और रसनिष्पत्ति का अनुषङ्गिक कारण भी सही है। संचारीभावों की दृष्टि से भी प्रतिनायक की भूमिका का उपयोग अब रूपकों में देखना कठिन नहीं है । कथावस्तु के माध्यम से ही रूपकप्रबन्धों में यह सारी योजना पूरा होती है अतः उसका भी इस दृष्टि से महत्त्व है ।

(२) इस सारी योजना के हो जाने पर भी प्रतिनायक को किसी रसविशेष, भावविशेष या वस्तुविशेष के बन्धन में नहीं रखा जा सकता और यह सब कविप्रतिभा पर निर्भर करता है तथा `यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिकल्प्यते` के आधार पर नाटककार उसकी योजना और उसका उपयोग करता है ।

(३) फिर भी `प्रकृतीप्परसों` के सन्दर्भ प्रतिनायक का चरित्र अधिक विस्तार पाता है क्योंकि उसके लिए निर्धारित गुणों के पल्लवन के लिए वही भूमि अधिक उपयुक्त है ।

प्रस्तुत स्थल पर इन रूपक भेदों की विवेचना द्वारा यही सिद्ध करना अभीष्ट है कि इनमें कुछ विशिष्ट रसों की योजना पर बल दिया गया है । रसवादी विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में यह महत्त्वपूर्ण है कि तदनुरूप कथावस्तु का चयन किया जाए । रूपकों की प्रस्तावनाओं में हम पाते हैं सूत्रधार विद्वत्परिषद्, ऋतु, अथवा अवसर के अनुरूप रस की बात कहकर ही किसी रूपक की प्रस्तावना करता है । नाटककारों को दिए गए रसानुकूल इतिवृत्त के चयन के निर्देशों से भी यही तथ्य सिद्ध होता है । अतः रसानुकूल कथावस्तु और उसी के आधार पर धीरोदात्तादिनायकों की योजना के परिप्रेक्ष्य में आवश्यकतानुसार प्रतिनायक की स्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । `काव्यस्यात्मा रसः` की परम्परा में जहां सम्पूर्ण काव्य, श्रव्य भी और दृश्य भी रसाश्रित- रसप्राण हो वहां रूपकों के नायक और प्रतिनायक रसानुसारी न हों ऐसा कैसे सम्भव है । फिर साहित्य में मुख्यनायक और उसके प्रतिद्वन्द्वी दोनों को, इतना ही

जहाँ रूपकप्रबन्ध में आने वाले उपनायकों और उप-प्रतिनायकों तक को नायक और नेता मान लिया गया हो,[1] जिस साहित्य में रस के आधार पर ही कर्मवीर, दयावीर, दान-वीर जैसे नायकभेद[2] हों, जिस साहित्य और साहित्यशास्त्र में रसानुकूल शृङ्गारनायक, वीरनायक, रौद्रनायक, भयानकनायक तथा करुणनायक के रूप में नायकों को सम्बोधित किया गया हो[3] वहाँ प्रतिनायक जिसे बार-बार नायक और नेता माना गया है[4] उसके लिए रसानुकूल सम्मान न मिले, उसका सम्बन्ध रस से न हो ऐसा कैसे सम्भव है। यही कारण है कि अनुचित होते हुए भी शृङ्गाराभास की योजना निषिद्ध नहीं है। यही कारण है कि कहीं दिव्यनायक होने पर मर्त्य पुरुष-प्रतिनायक का विधान है तो कहीं मर्त्यनायक की प्रतिद्वन्द्विता में दिव्यप्रतिनायक की योजना का विधान है[5]। इस सबसे महत्वपूर्ण यह है कि यह सारी योजना रसानुसारिणी है - रसपरक है रस से आरम्भ होकर रस में ही विलीन होने वाली परम्परा है और प्रतिनायक उसी का अङ्ग है।

- ० -

---

१ ......'द्वादशनायकयुक्त इति.......। अन्ये तु प्रत्यङ्कं नायकप्रतिनायकौ तत्सहायौ चेति चतुर आहुः अनुपपादकतया हि द्वादशेति।' —अभिनवगुप्त

'एकः प्रधानो नायकः अपरश्च तस्योपनायकः। अन्यश्चापरश्च नायक एव। यथा वेणीसंहारस्य भीमः। दुःशासनानुगतो दुर्योधनः। अश्वत्थामा च एव। धृतराष्ट्रः च एव। संहारे तु युधिष्ठिरः. ....।' —सागरनन्दी

द्रष्टव्य - डा० राघवन् का 'भोज का शृङ्गारप्रकाश' पृ० ४० ; जहाँ भोज के मत में नायक, उपनायक, अनुनायक एवं प्रतिनायक इन चार नायकों को पुनः धीरोदात्तादि भेद से सोलह नायकों के रूप में विभक्त किया गया है'।

२ द० रू० ४।७२ एवं वृत्ति भाग,
'स च अनेकधा युद्धकर्मदान-गुण-प्रतापावलीलाकृपाभिभेदात्' - नाट्यदर्पण,
'स च वीरो दानवीरो-धर्मवीरो-युद्धवीरो-दयावीरश्चेति चतुर्धा स्यात्' -सा०द० ३।२३४

३ द्रष्टव्य - नृसिंहकवि का 'नञ्जराजयशोभूषण'

४ 'मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थी नायकः प्रतिनायकः' - ना० द०
'व्यसनी पापकृद् लुब्धो नेता स्यात् प्रतिनायकः' — नृसिंहकवि

५ 'नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ' —द०रू० ३।७२, सा०द० ६।२४६

उत्तरार्ध

पञ्चम अध्याय

-0-

रामकथामूलक रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका

युद्धे येन सुरा: सवासवगणा: शक्राद्यो निर्जिता:
दृष्ट्वा शूर्पणखाविरूपकरणं श्रुत्वा हतौ भ्रातरौ ।
दर्पाद् कुलिलप्रेक्षयाशिनं रामं विलोभ्याध्वरे :
सत्यां हर्तुमना विशालनयने ! प्राप्तोऽस्म्यहं रावण: ।।

-- प्रतिमानाटकम्

अध्याय- पांच

-o-

रामकथामूलक रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका

विषय-वस्तु	पृष्ठ संख्या

अध्याय - ५

रामकथामूलक रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका

प्रबन्ध के आरम्भिक उद्देश्य

संस्कृत साहित्य के उपलब्ध रूपकप्रबन्धों में प्रतिनायक की भूमिका के व्यावहारिक पक्ष को देखने पर पता चलता है कि प्रायः प्रतिनायक का विरोध, आदर्श नायक के विरुद्ध होने के कारण, भारतीय संस्कृति के मान्य आदर्शों के विपरीत जा पड़ता है। दुर्वासा अथवा जामदग्नि का क्रोध 'वार्धक्ये मुनिवृत्तीनाम्' के प्रतिकूल है। इसी कारण वसिष्ठ ने भी जामदग्नि को 'कामं गुणैर्महानेष प्रकृत्या पुनरासुरः' कहा है। रावण तो निखिल वेद-शास्त्रों का ज्ञाता होते हुए भी देव-विरोधी चरित्र है। राज्य के वास्तविक उत्तराधिकारियों से राज्य छीनने के कारण ही दुर्योधन को शत्रु मान लिया गया है। किन्तु यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो प्रश्न उठता है कि क्या शकुन्तला कृत मुनि-अवज्ञा अथवा अतिथि अपमान, राम द्वारा शिव-धनुर्भंग, सीता याचना पर विश्वामित्र एवं कुशध्वज द्वारा किया गया रावण का अपमान, सत्ता हथियाने के लिये चाणक्य द्वारा नन्दों का उच्छेद क्या शास्त्रानुमोदित कर्म हैं ?

वास्तविकता यह है कि आदर्शों की मनोनुकूल-स्वार्थानुकूल व्याख्याओं का यह संघर्ष संस्कृत रूपकप्रबन्धों के मूल में यत्र-तत्र दबा हुआ है- उसे दबा दिया गया है और नायकपक्ष की ओर से उसपर संस्कृति एवं धर्म का आवरण डाल दिया गया है। इसी कारण इस विरोध में प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता में कृत्रिमता उभर उभर आती है। यही कारण है मित्र-वत्सल, स्वामिभक्त, अप्रतिहत योद्धा, राक्षस भी हार जाता है, अपमानित होता है, आत्मसमर्पण कर देता है। दूरदर्शी, चिन्तक, धर्माधर्मविवेकी माल्यवान् भी असफल हो जाता है।

एक ही दर्शन के दो मान्य आदर्शों के मध्य संघर्ष की योजना द्वारा भी रूपकों में प्राणों की स्थापना हो सकती थी और उस संघर्ष को पाठकों और दर्शकों

के विवेक पर छोड़ा जा सकता था कि वे किसे उचित और किसे अनुचित मानते हैं । कृष्ण भक्तों के साथ ही कंस भक्तों के निमित्त भी अनुभूतियों का साधारणीकरण किया जा सकता है था किन्तु संस्कृति, आदर्श और जीवन मूल्यों के प्रति अतिपक्षपात के कारण कला को कान्तासम्मित उपदेश बना दिया गया है इसी कारण `अनुभूति` का वह पक्ष अपवाद बनकर रह गया । संस्कृत साहित्य के अधिकांश रूपकप्रबन्धों में इसी कारण `वंशवीर्यश्रुतादीनां वर्णयित्वा रिपोरपि । तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः ।` के आधार पर `बहु-गुण-वर्णन` तो किसी सीमा तक किया भी गया, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिपक्ष को अति-निष्क्रिय एवं प्रमादी बना दिया गया । वर्जनाओं और निषेधों के माध्यम से उसे नेपथ्य में ले जाकर निरीह और दीन-हीन बना दिया गया[१]। प्रकारान्तर से संस्कृत रूपकों में प्रतिपक्ष को शास्त्रों में प्रयुक्त पूर्वपक्ष की भांति उत्तरपक्ष की स्थापना के निमित्त ही उपयोग में लिया गया है और अपनी मान्यता और सिद्धान्तों की तो व्याख्या की गयी किन्तु पूर्वपक्ष को मात्र संकेतित किया जाता रहा ।

अस्तु, प्रस्तुत-सन्दर्भ में ऐसे ही प्रतिपक्ष के `नेता` प्रतिनायक और उसके सहायकों का मूल्यांकन करने के निमित्त केवल उन भूमिकाओं पर किंचित् विवेचना अभीष्ट है जिन्हें मूर्तरूप में दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता रहा है । सीतापरित्याग के पीछे लोकापवाद का भय, दुर्वासा का शाप, अनवस्थित चित्त उर्वशी पर भरतमुनि का क्रोध[२] जैसे अमूर्त तत्वों अथवा अमूर्त प्रतिपक्ष की विवेचना यहां अभीष्ट नहीं है । `मालविकाग्निमित्रम्` में इरावती व धारिणी की भूमिका, `रत्नावली` में वासवदत्ता,

---

१ ' The Sanskrit play must, according to imperative tradition, have a hero but in Western eyes this hero looks a trifle pallid. The most obvious explanation is that the protagonist lacks a really sinister antagonist. '

HW Wells - CDI Page 83

२ `लगता है कालिदास ने एक महान् दुःखान्त पौराणिक कथा को एक सुखान्त शृंगारमूलक नाटक में परिणत कर दिया है ।`

--शेल्डनचेनी, रंगमंच, पृ० १३६

अथवा स्वप्नवासवदत्तम् में वासवदत्ता और उदयन के मिलने में बाधक तत्वों की भूमिका के महत्व को स्वीकार करते हुए भी यहां मुख्यरूप से प्रतिनायक और उसके सहायक का ही मूल्यांकन आवश्यक समझा गया है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि इन कोमल भावनाओं के प्रतीक इन बाधक तत्वों की अल्पक्रिया से अनेक प्रतिस्पर्धी चरितों के ध्वस्त हो जाने का भय है। वासवदत्ता (रत्नावली में) प्रतिनायिका होते हुए भी उदयन को प्रिय है। प्रतिनायिका होने पर भी रुक्मिणी और सत्यभामा का अन्त न तो कृष्ण को अभीष्ट है और न तो राधा को ही। रामकथा के मूल में, रामवनवास के मूल में विद्यमान कैकेयी की महत्वाकांक्षा के परिप्रेक्ष्य में रावण, माल्यवान् प्रभृति चरित्र गौण हो जाते हैं वे मात्र बाधक सिद्ध होते प्रतीत होते हैं। अतएव कैकेयी की महत्वाकांक्षा, रुक्मिणी, सत्यभामा, वासवदत्ता के विरोध को अथवा दुर्वासा प्रभृति के शाप पर प्रकृत सन्दर्भ में विचार नहीं किया जा रहा है। यहां रावण प्रभृति चरितों का ही मूल्यांकन करते हुए, मुख्य नायक के चरित के उत्कर्ष के लिए उनके उपयोग पर विचार किया जा रहा है।

महाकवि भास

रूपक चाहे वाहे रामचरित पर आश्रित हों अथवा कृष्णचरित पर, अथवा इनसे इतर लोककथामूलक, उपलब्ध नाट्यसाहित्य के आधार पर भास से पहले नाटककार हैं जिनके रूपकों को सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। रामकथामूलक रूपक-प्रबन्धों के रूप में भास ने संस्कृत नाट्यसाहित्य को प्रतिमानाटकम् तथा अभिषेकनाटकम् के रूप में दो बहुमूल्य रचनाएं दी हैं। जैसाकि स्वाभाविक था उनकी भाषा भी सरल है और नाटक की तकनीक भी सरल है। भास की परम्परा नितान्त अपनी है और उन्होंने अपने सारे ही रूपक एक ही ढंग से लिखे हैं। सरलता के साथ अर्थ की गुरुता उनका महान् गुण है। वे शैली की दृष्टि से वाल्मीकि से विशेष रूप से प्रभावित हैं। यही कारण है उनकी भाषा सरल एवं अधिक प्रभावोत्पादक है जिसमें कृत्रिमता का अभाव है[1]।

---

१ सं० ना० पृ० ११०

प्रतिमानाटकम् ही नहीं स्वप्नवासवदत्तम् को छोड़कर भास के किसी भी नाटक में रस के प्रति उतना दुराग्रह नहीं दीख पड़ता कि कथावस्तु को दर्शक भूल जाए इसी कारण भास के रूपकों को केवल अभिजात्य किंवा अभिजात्य वर्ग से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता। यदि ऐसा ही होता तो सम्भवतः स्वप्न की तरह उनकी लेखनी से शायद कुछ अन्य महान् रसप्रधान रूपकों का जन्म होता।

प्रतिमानाटकम्

प्रतिमानाटकम् की कथा राम के अभिषेक से आरम्भ होकर उनके अभिषेक में ही समाप्त होती है। तात्पर्य यह कि सर्वप्रथम राम के अभिषेक की पूरी तैयारियां हो चुकी हैं। तभी कैकेयी की इच्छानुसार राम का अभिषेक रुक जाता है और राम का वनवास हो जाता है। सीता और लक्ष्मण उनके साथ जाते हैं। प्रतिमागृह में दशरथ के स्वर्गवास एवं सीता लक्ष्मण सहित राम के वनगमन की सूचना भरत को मिलती है। भरत राम के पास जाते हैं, राम के आग्रह पर वे राम की पादुकाएं लेकर लौटते हैं। आश्रम में रावण द्वारा सीता का हरण हो जाता है। सीता को ले जाते हुए रावण को रोकने के कारण जटायु का वध होता है। इधर भरत को भी सीताहरण की सूचना मिलती है वे कैकेयी को सारे दुःख का कारण मानकर क्रुद्ध हो उठते हैं। इसी समय चौदह दिन के स्थान पर चौदह वर्ष की भूल एवं दशरथ पर किसी शाप के कारण पुत्र-वियोग की भवितव्यता की सूचना मिलती है। तभी भरत सीता के उद्धार के लिए सपरिवार एवं ससैन्य प्रस्थान करते हैं। उनके पहुंचने पर ज्ञात होता है कि राम ने रावण का वध करके सीता को मुक्त करा लिया है। अतः वहीं पर माताओं तथा अन्य स्वजन परिजनों के समक्ष राम का राज्याभिषेक होता है। इस प्रकार राम की चतुर्दश वर्षीय यात्रा का जितना संक्षिप्त स्वरूप भास ने दिया है इतना संक्षिप्त कथानक कहीं अन्यत्र दुर्लभ है। इससे भी महत्त्वपूर्ण है यह तथ्य कि उसमें पात्रों की भी अधिकता नहीं है। राम का चरित्र भी अत्यन्त लघु है। हां भरत की भूमिका को प्रमुखता मिली है।

भरत का नायकत्व

इस रूपक के नायक राम हैं अथवा भरत यह एक विवाद का विषय हो सकता है। महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री के अनुसार प्रतिमानाटक के नायक राम हैं, वे इस नाटक की भूमिका में कहते हैं कि प्रतिमानाटक में करुण रस के साथ धर्म-वीररस की परिपुष्टि हुई है। राम अपने पिता की आज्ञा का पालन करते हुए एक धर्मवीर नायक के रूप में देखे जा सकते हैं।[१] किन्तु सम्पूर्ण नाटक में जो चरित्र सर्वाधिक स्पृहणीय एवं हृदय को स्पर्श करने वाला है वह भरत का है। प्रतिमागृह के नायक तो निश्चित रूप से भरत ही हैं और यह प्रतिमागृह ही वह मुख्य बिन्दु है जिसकी नवीन कल्पना कवि को मोह लेती है इसी कारण इस सम्पूर्ण कथा को ही कवि प्रतिमा-नाटकम् इस नाम से पुकारता है। अतः भरत को नायक मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

भरत का भ्रातृ-प्रेम, पितृभक्ति, राज्य के प्रति लिप्सा का अभाव, भाभी एवं भाइयों के ऊपर आए संकट से उनका विचलित हो उठना और उस रोष में माता कैकेयी को बुरा भला कहना किन्तु सत्य को जानकर अपने रोष के प्रति आत्म-ग्लानि एवं राम की सहायता के लिए ससैन्य-परिकर प्रस्थान, ये गुण भरत को इस नाटक का नायक बनाते हैं और आरम्भ से अन्त तक शोक, ग्लानि, पश्चात्ताप, दुःख, पीड़ा, सन्ताप इन सबके कारण सामूहिक रूप से करुणरस का प्रभाव सर्वत्र उभरता है।

रस की दृष्टि से यदि कथानक को देखा जाए तो निश्चय ही नायक का निर्णय भी सरल हो सकता है। लक्षणानुसार प्रतिमानाटकम् एक सम्पूर्ण नाटक से छोटा किन्तु मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक। जिसमें नियमानुकूल धीरोदात्तनायक,

---

१ 'In the PRATIMA, however, the central Rasa that runs through it is the DHARMVIRA mingled with KARUNA Rasa, the DHARMAVIRA manifesting itself in the enthusiasm displayed by the Hero (Rama) in cherishing the single thought of carrying out the DHARMAN i.e. fulfilling the mandates of his royal father.'

T. GANAPATI SHASTRI, Introduction of Pratimanatakam

सुप्रसिद्ध कथानक, पंच सन्धियां, सुख-दुःख अनुभूत नाना रस करुण, रौद्र, शान्त एवं वीररस का सामूहिक प्रयोग है। किन्तु सम्पूर्ण नाटक में अङ्गी रस करुण है। कारण है करुणा की व्यापकता, राम का अभिषेक वनवास में परिवर्तित हो जाता है, जिसे सुनकर लक्ष्मण का क्रोध[1] अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचता है पर राम का मन मां कैकेयी, भाई भरत एवं पिता दशरथ तीनों ही को निर्दोष मानकर क्रोध नहीं करुणा से द्रवित हो उठता है[2]। सुमन्त्र, कौशल्या स्वयं कैकेयी की पीड़ा को व्यक्त करने में कवि का कौशल महान् है। इधर राम के वनवास की तैयारी पर स्वयं लक्ष्मण का मन भारी हो उठता है विशेषकर सीता एवं राम द्वारा उन्हें छोड़ने का औचित्य वे नहीं समझ पाते और सीता से कहते हैं :--

> गुरोर्मे पादशुश्रूषां त्वमेका कर्तुमिच्छसि ।
> तवैव दक्षिणः पादो मम सव्यो भविष्यति।।--प्र० ना० १।२७

और दशरथ की स्थिति है किसी मनैले हाथी की भांति जोकि बार-बार मूर्छा खाकर पृथ्वी पर गिर-गिर पड़ते हैं। दूसरे अङ्क में दशरथ की दशा अत्यन्त कारुणिक है वे विक्षिप्त भी हैं और असहाय भी[3] और अन्त में उनकी स्वर्ग-यात्रा[4], जोकि मंच पर ही दिखाई गयी है, यह सभी करुणा के कारण है।

भरत जब ननिहाल से लौट रहे हैं उनका मन भयातुर है। वे पिता एवं सभी परिवार के लोगों का समाचार जानने को तो व्याकुल हैं ही, सभी उचित प्रस्थान

---

१ यदि न सहसे राज्ञो मोहं धनुः स्पृश मा दया। स्वजन निभृतः सर्वोऽप्येवं मृदुः परिभूयते ।
अथ न रुचितं मुञ्च त्वं मामहं कृतनिश्चयः । युवतिरहितं लोकं कर्तुं यतश्छलिता वयम् ॥
--प्र० ना० १।१८

२ तातेऽनुनेषि सत्यमवेक्षमाणे मुञ्चानि मातरि शरं स्वधनं हरन्त्याम् ।
दोषेषु बाह्यमनुजं भरतं हनानि किं रोषणाय त्रिषु पातकेषु ॥

३ (अ) हा वत्स ! राम ! जगतां नयनाभिराम ! हा वत्स! लक्ष्मण! सलक्षणसर्वगात्र !
हा साध्वि! मैथिलि ! पतिस्थितचित्तवृत्ते ! हा हा गताः किल वनं बत मे तनूजाः।
--प्र० ना० २।४

(आ) सूर्य इव गतो रामः सूर्यं दिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः ।
सूर्यदिवसावसाने छायेव न दृश्यते सीता ।।--प्र० ना० २।७
तथा 'राम ! वैदेहि ! लक्ष्मण ! अदृश्यतः पितॄणां सकाशं गच्छामि ।
हे पितरः ! अयम् अयमागच्छामि' वही २।८

४ प्र० ना० २।२१

वेला की प्रतीक्षा में बिताया जाने वाला समय उनके लिए बहुत महंगा पड़ता है और यहीं प्रतिमागृह में उन्हें पितृ-निधन के साथ राम वनवास की सूचना मिलती है। पितृ-निधन, माता की धृष्टता, भाई का वनवास सभी शोक के कारण एक साथ उन्हें मथ डालते हैं।[1] वे अपनी इस पीड़ा से इतने व्याकुल हैं कि मां को मां मानने से इन्कार कर देते हैं[2] और रोते हुए ही उधर प्रस्थान करते हैं जिधर राम गए हैं :--

तत्र यास्यामि यत्रासौ वर्तते लक्ष्मणप्रियः।
नायोध्या तं विनायोध्या सायोध्या यत्र राघवः। --प्र०ना० ३।२४

चतुर्थ अंक में भरत द्वारा राम लक्ष्मण सीता से मिलन के साथ पुनः करुणा का प्रस्फुटन होता है। किन्तु भरत की ममता पर राम की धीरता एवं उदात्तता का अंकुश यहां गहरा है[3]। फिर भी वे करुणा से विह्वल हैं[4]।

पांचवें अंक में भरत पर आपड़े राज्यसंचालन के गुरुतरभार को सोचकर[5] तथा वन में सीता की कठोर तपश्चर्या से राम का मन पुनः करुणाप्लावित है[6]। इतना ही नहीं पितृशोक[7] आदि भी कम नहीं हुआ है और इसीलिए वे पिता का श्राद्ध करना चाहते हैं। वस्तुतः पांचवा अङ्क ही एकमात्र अङ्क है जिसमें प्रतिनायक के दर्शन होते हैं। बिना प्रतिनायक के ही करुणा की सृष्टि कवि को अभीष्ट है। अतः रावण की योजना से करुण रस को विशेष प्रोत्साहन नहीं मिलता। सीता-हरण के कारण जो स्थिति उत्पन्न होती है और रामायण तथा अन्य रामकथा पर आश्रित नाटकों में इस प्रसंग से जो लाभ अन्य नाटककारों ने उठाया है भास उसे उपयुक्त नहीं समझते। इससे राम की धीरता और उनके धीरोदात्त चरित्र को जो क्षति हो सकती है भास उसके प्रति सजग हैं।[8] सीताहरण के अवसर पर रावण की आत्मश्लाघा, एवं राम की उपेक्षा-मात्र कथानक का निर्वाह है[9]। रावण की विद्या एवं माया का

---

१ अयोध्यामटवीभूतां पित्रा भ्रात्रा च वर्जिताम्। पिपासार्ता ऽनुधावन्ति क्षीणतोयां नदीमिव
--प्र० ना० ३। ७०

२ प्र० ना० ३।१८,२२ ३ प्र० ना० ४।२०, ४ प्र० ना० ४।१२, २२

५ प्र० ना० ५।१ ६ प्र० ना० ५,३ ७ प्र० ना० ५।४

८ प्र० ना० ५,१७,१९ ९ प्र० ना० ५।२१

परिचय यहां अवश्य मिलता है । वह सीता के हरण का यह कुकर्म क्यों कर रहा है इसे भी स्पष्ट कर देता है[1]। पांचवें अङ्क की समाप्ति पर जटायु द्वारा सीता की रक्षा के लिए आत्माहुति और छठे अङ्क के आरम्भ में उसी का वर्णनात्मक पक्ष भास नहीं भूले हैं । यह प्रसंग उन्होंने उठाया है पर उसके कारण भी वे मूल कथा एवं रस से अलग नहीं होना चाहते हैं सीधे वे भरत को सीताहरण का समाचार पहुंचा कर एक नयी उद्भावना करते हैं ।

सीताहरण का प्रसंग प्रतिमा में अत्यन्त संक्षिप्त है और इस प्रसंग पर राम के नेत्रों से कहीं भी अश्रुपात होते नहीं देखा जाता । छठे अङ्क में पुनः भरत द्वारा सीताहरण की सूचना पर मां कैकेयी को भला बुरा कहना फिर सुमन्त्र से राम वनवास, एवं उसके कारण पितृ-निधन के कारणभूत ऋषि शाप का प्रसंग जहां कथानक को अच्छा मोड़ देता है वहीं राम की सहायता के लिए भरत का ससैन्य प्रस्थान नवीनता की सृष्टि करता है और सम्पूर्ण अङ्क में भरत का ही चरित्र व्याप्त है ।

इसके उपरान्त सातवां और अन्तिम अङ्क है जहां सीता की प्राप्ति का सीधा उल्लेख है । यह वस्तुतः रस कथा एवं रूपक का उपसंहार है जहां नाटककार ने सब कुछ संगठित किया है । यहीं रावणवध की भी सूचना मिलती है और राम लक्ष्मण, भरत शत्रुघ्न, सीता, तीनों माताएं, सुमन्त्र, ऋषिगण, सैन्य परिजन सभी सीता की प्राप्ति एवं राम के अभिषेक के साक्षी बनते हैं ।

तात्पर्य यह कि आरम्भ से अन्त तक करुण रस का निर्वाह ही कवि को भला लगा है । कवि ने वीर, वीभत्स और अद्भुत का स्पर्शमात्र किया है । रौद्र रस अथवा क्रोधाभिव्यक्ति को भी स्थान मिला है । किन्तु ये सब मुख्य रस करुण के ही सहायक हैं । राम हों अथवा भरत, दशरथ हों अथवा सुमन्त्र । तीनों माताएं हों अथवा प्रतिहारी और कञ्चुकी सभी राम वनवास की पीड़ा से कराह उठते हैं और उसी घनीभूत पीड़ा के साक्षी हैं सामाजिक भी किसी स्थल पर उस करुणा से अभिभूत हो रो पड़े तो असम्भव नहीं है । इस दृष्टि से महान् नाटककार भास करुण रस के एक सफल प्रयोक्ता हैं ।

---

१ प्र० ना० ५।१६

इस करुणा के केन्द्र बिन्दु राम हैं अथवा भरत यह दूसरा प्रश्न हो सकता है । यद्यपि आरम्भिक तीन अङ्कों में भरत का नाम ही नहीं आता । किन्तु इस रिक्तता को पूरा करने वाले भरत का उल्लेख उन्हें इन तीनों ही अङ्कों में नेपथ्य में उपस्थित रखता है और उनकी अनुपस्थिति उनकी उपस्थिति से अधिक महत्वपूर्ण है करुणा की दृष्टि से । नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से नायक की सम्पूर्ण नाटक में उपस्थिति का तर्क नितान्त असंगत है । संस्कृत के ऐसे नाटक इस तथ्य की पुष्टि में देखे जा सकते हैं जहां अनेक अङ्कों में नायक दृष्टिगत नहीं होता । भास के ही छः अङ्कीय स्वप्नवासवदत्तम् के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अङ्कों के उपरान्त ही नायक आता है । अविमारकम् के प्रथम अङ्क में अविमारक नहीं है । अभिषेक के नायक राम द्वितीय, तृतीय एवं पंचम अङ्क में अनुपस्थित हैं जिसमें कुल छः अङ्क हैं । इसी प्रकार चतुरङ्कीय बालचरितम् के द्वितीय एवं तृतीय अङ्क नायक हीन हैं । बालचरितम् में दामोदर की प्रथम एवं द्वितीय अङ्कों में अनुपस्थिति भी विस्मयकारिणी नहीं है । ऐसा नहीं है कि भास ऐसे निराले नाटककार हों जिन्होंने ऐसा किया हो । मुद्राराक्षस का नायक यदि चाणक्य को माना जाए तो वह प्रथम अङ्क में आकर फिर दूसरे, चौथे, पांचवे तथा छठे अङ्क में दिखाई नहीं देता । यदि राक्षस को नायक माना जाए तो वह तो प्रथम तथा द्वितीय अङ्क में है ही नहीं । मृच्छकटिकम् का नायक द्वितीय, चतुर्थ, छठे तथा आठवें अङ्क में अनुपस्थित है जिसमें कुल दस अंक है । इसके विपरीत वेणीसंहार में यदि युधिष्ठिर को नायक माना जाए तो वे तो इस छः अङ्क के रूपक में केवल छठे अङ्क में ही उपस्थित हो पाते हैं । प्रथम से पांच तक कहीं आते ही नहीं । यदि भीम को ही नायक माना जाए तो वह भी दूसरे, तीसरे तथा चौथे अङ्क में अनुपस्थित है । उत्तररामचरित के चतुर्थ तथा पंचम में एवं प्रसन्नराघव के पहले और पांचवे अङ्क में राम अनुपस्थित हैं । महावीरचरितम् के प्रथम अंक में राम की उपस्थिति है पर नगण्य-सी फिर वे तीसरे तथा छठे अङ्क में भी अनुपस्थित हैं । इसी प्रकार प्रबोध चन्द्रोदय का नायक विवेक भी द्वितीय, तृतीय एवं पांचवे अङ्क में अनुपस्थित है जबकि इसमें कुल छः अङ्क ही हैं । इस आधार पर यह सरलता से समझा जा सकता है प्रत्येक अङ्क में न तो नायक की उपस्थिति ही अनिवार्य है न ही यह आवश्यक है कि जो पात्र प्रत्येक अङ्क में उपस्थित हों उसे ही नायक माना जाए ।

वस्तुत: नायक का निर्णय नाटक की, कथावृन्त की, घटनाओं के आधार पर होना चाहिए कि घटना किसके चारों ओर घटती है । कथावृन्त से सर्वत्र कौन सा चरित्र आवृत है[1]। कौन मुख्य रस है और उससे आप्यायित कौन चरित्र है । इस दृष्टि से प्रतिमानाटक में राम नहीं अपितु भरत ही नायक-मुख्य नायक सिद्ध होते हैं । `नाट्यस्यान्तं गच्छति तस्माद् नायकोऽभिहित:` (भरत० ३५।३२) भरत के इस कथन के आधार पर नायक का निर्णय उचित नहीं है । इसके विपरीत `नयति व्याप्नोति इतिवृत्तं फलं च इतिनायक:` की व्याख्या अधिक उचित है । नायक भरत इतिवृत्त पर छाये तो हैं ही फल को भी प्रभावित करते हैं इसमें सन्देह नहीं है ।

<u>उपनायक एवं प्रतिनायक के माध्यम से भरत का उत्कर्ष</u>

प्रतिनायक चरित्र की उपयोगिता नायक चरित्र को उभारने में है । जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है रावण द्वारा सीता के हरण के फलस्वरूप राम की प्रतिक्रिया पर कवि की लेखनी नहीं चली । राम की पीड़ा अथवा विप्रलम्भ के व्याज से करुण रस की सृष्टि करना कवि को अभीष्ट नहीं है । इसके विपरीत सीताहरण की सबसे तीखी प्रतिक्रिया भरत पर होती है । सीताहरण के वृत्तान्त को छुपाते हुए सुमन्त्र को दशरथ की शपथ दिलाकर भरत यह जान लेते हैं कि सीता का हरण हो गया है और वे बड़ी तीव्रता से अन्त:पुर में प्रविष्ट होते हैं । कैकेयी पर उनका सारा क्रोध फूट पड़ता है । यही वह स्थल है जहां भरत का क्रोध नि:सीम हो उठता है और यही वह स्थल है जहां शाप एवं चौदह दिन और चौदह वर्ष की भूल का पता चलता है । यहीं पर कैकेयी भी अपने मन की बात कहती है और इस संक्षिप्त संवाद के उपरान्त भरत रावणवध की योजना बनाते हुए राम की सहायता के लिए प्रस्थान करते हैं[2]

---

१ समग्रगुण: कथाव्यापी नायक: । -- काव्यानुशासन, ७।१

२ अथवा आर्यस्य साहाय्यार्थं कृत्स्नं राज्यमुपनेष्यामि । कथमिदानीम् —
वेलाभिन्नां गजबलान्धकारां करोमि सैन्यौघनिवेशनद्धाम् ।
बलैस्वराक्रम्य नयामि तुल्यं स्थानं समुद्रं सहराघवेन ।।
-- प्र० ना० ६।१५

इस प्रकार सीताहरण पर राम की मन:स्थिति के चित्रण का अभाव एवं भरत पर उनकी गहरी क्रोध-मिश्रित शोक की अभिव्यञ्जना भी इन्हें नायक सिद्ध करती है । अत: सीताहरण किंवा रावण के चरित्र की उद्भावना द्वारा कवि भरत के चरित्र को उभारने में सफलता प्राप्त करता है । तात्पर्य यह कि प्रतिनायक का चरित्र नायक चरित्र को उभारने के लिए होता है । यह तथ्य भरत के चरित्र पर लागू होता है राम पर नहीं ।

जहां तक लक्ष्मण के आवेश का प्रश्न है, वह समयानुकूल सशक्त एवं प्रभावोत्पादक है । इसमें दो राय नहीं हो सकती कि उससे राम लक्ष्मण तथा भरत एवं लक्ष्मण के चरित्रों की तुलना को अवसर मिलता है । लक्ष्मण के सुप्रसिद्ध क्रोधी स्वभाव का इतना संदीप्त सुन्दर एवं प्रभावोत्पादक चित्र अन्यत्र दुर्लभ है । `यदि राजा का मूर्छित हो जाना तुम्हें सह्य नहीं है फिर क्या किस बात की धनुष उठाओ । नहीं तो कोमल-स्वभाव वाले तुम्हारे जैसे लोगों को अपने ही लोग धोखा देते हैं । यदि तुम्हें धनुष उठाना भी अच्छा नहीं लगता तो छोड़ो मुझे, मैंने इस संसार की सारी नारियों को नष्ट कर देने की प्रतिज्ञा कर ली है जिन्होंने हमें छला है[1]।' लक्ष्मण की इस उक्ति में जो क्रोध है वह समयानुकूल नहीं है । सीता स्वयं कहती हैं :- `आर्य पुत्र । रोदितव्ये काले सौमित्रिणा धनुर्गृहीतम् । अपूर्व: खल्वायास: ।' किन्तु क्रोध की ज्वाला की लपटें लक्ष्मण को पूरी तरह आवेष्ठित कर चुकी हैं । वे पूछते हैं, क्या यह भी कोई सोचने का समय है जबकि परम्परानुसार प्राप्य राज्य आपसे (राम से) छीन लिया गया है और महाराज मूर्छित अवस्था में पड़े हुए हैं । मुझे तो लगता है आपने आत्म-गौरव ही खो दिया है[2]।

लक्ष्मण के इस प्रत्याख्यान में राम से उनके स्वभाव का अन्तर तो स्पष्ट होता ही है, `दोषेषु बाह्यमनुजं भरतं हनानि' राम के इस कथन के द्वारा लक्ष्मण एवं भरत के मध्य के अन्तर को भी स्पष्ट करना कवि को अभीष्ट है । क्योंकि भरत को राज्य मिलना है, अत: उसकी ही हत्या सारी समस्या का समाधान कर सकती है । अत: राम का यह प्रश्न लक्ष्मण के क्रोध पर पानी डाल देता है और वह चीत्कार

---

१ प्र० ना० १।१८ २ प्र० ना० १। १६

कर उठते हैं :—

यत्कृते महति क्लेशे राज्ये मे न मनोरथः ।
वर्षाणि किल वस्तव्यं चतुर्दश वने त्वया ।।

इन्हें तो राम के वनवास का दुःख है राज्य की लिप्सा नहीं है । वस्तुतः लक्ष्मण का यह कथन उनके पूर्व कथनों का उल्टा है । 'स्वकान्मृतः सर्वोऽप्येवं मृदुः परिभूयते' यह कथन एवं सम्पूर्ण संसार की युवतियों की हत्या का उपक्रम निरर्थक नहीं है । राम स्वयं लक्ष्मण की पीड़ा का कारण जानते हैं । वे कहते हैं-- 'सुमित्रा-मातः । अस्मद्राज्यभ्रंशो भवत उद्योगं जनयति । आः अपण्डितः खलु भवान् ।' 'राज्य भरत को मिले या मुझे दोनों बराबर है यदि तुम्हें धनुष पर बड़ा भरोसा है तो जो भी राजा बने तुम्हें तो उसी की सेवा करनी चाहिए ।' राम यह कहकर लक्ष्मण का क्रोध शान्त करते हैं । इस आधार पर दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं । एक तो लक्ष्मण की राज्य लिप्सा-राज्य हाथ से निकलते देख उनकी मानसिक स्थिति का अस्थिर हो उठना । दूसरे भरत का राज्य के प्रति निर्मोह । कवि ने लक्ष्मण एवं भरत के चरित्र के इस पक्ष को उभार कर भी भरत के चरित्र की महानता को अभिव्यक्त किया है ।

मुख्य चरित्र भरत की भूमिका को प्राणवान् बनाने के लिए एक ओर तो भास ने लक्ष्मण एवं भरत के वैषम्य का आश्रय लिया है दूसरी ओर रावण की भूमिका है । जैसाकि कहा जा चुका है सीताहरण की जितनी तीव्र प्रतिक्रिया भरत के मन पर होती है उतनी राम के मन पर नहीं होती । इस प्रकार रावण की संक्षिप्त किन्तु सार्थक और पौराणिक किन्तु मूल्यवान् भूमिका को किंचित् नये (श्राद्ध हेतु कृष्ण मृग की प्राप्ति) आयाम में प्रस्तुत करते हुए नाटककार ने भरत के चरित्र को उभारने का भरपूर प्रयास किया है । राम सीता की प्राप्ति के लिए क्या करते हैं, इसे बताने की अपेक्षा नाटककार ने भरत क्या करते हैं यह बताया है । यह तो दुर्भाग्य ही है कि पौराणिक परम्पराएं रावणवध का कार्य राम के हाथों ही सम्पन्न कराती है अन्यथा भास के भरत यहां भी राम की अपेक्षा अधिक आक्रामक सिद्ध होते और वे ही रावणवध का कार्य करके सीता को मुक्त कराते ।

रावण के चरित्र में हम पाते हैं कि वह एक सत्यसन्ध

नायक की भांति स्वीकार करता है कि खर नामक राक्षस को मारकर राम ने जो वैर ठाना है सीताहरण उसी का परिणाम है :-

नियतानियतात्मा स्ववेषं गृहीत्वा
खरवधकृतवैरं राघवं वञ्चयित्वा ।
स्वरपदपरिहीणां हव्यधारामिवाहं
जनकनृपसुतां तां हर्तुकामः प्रयामि ।। प्रतिमा० ५।७

प्रकारान्तर से वह मानता है कि सीता सती है, पतिव्रता है और वह स्वयं अनियतात्मा है । अतिथि होने के कारण राम जब रावण की शुश्रूषा के लिए सीता को आदेश देते हैं तब रावण (अपना भेद खुल जाने के भय से ही सही) सीता को ऐसा करने से रोक देता है और अपने औदात्य का ही प्रदर्शन करता है और यह मानता है कि सीता तो नारियों में अरुन्धती के समान है । प्रकटरूप से वह अपनी सारी योग्यताएं बता देता है । दशरथ के श्राद्ध के लिए कृष्ण मृग के व्याज से राम को दूर भेजकर वह सीता का हरण करता है । अपने इस रूप में वह राम से जो प्रतिशोध लेता है वह अनुचित नहीं है । किन्तु राम पर उसकी प्रतिक्रिया शून्य है ।

रावण के उपर्युक्त आत्मकथन के उपरान्त सीता के हरण के समय उसकी विकत्थना में किञ्चिद् औद्धत्य है । `आः रावणस्य चतुर्विभवमानता जन यास्यसि` में उसकी वासना से अधिक उसका दम्भ है किन्तु क्षणभर बाद ही वह अपनी वासना का भी उद्घाटन कर देता है `विनयय मां च यथा तवार्यपुत्रः` अपने आर्यपुत्र के स्थान पर अब मुझे ही अपना पति समझो यह कहकर वह सीता को शाप देने को बाध्य कर देता है और सीता द्वारा `शप्तोऽसि` यह कहने पर वह बताता है कि जब सूर्य की रश्मियां उसे भस्म नहीं कर सकीं तुम्हारा शाप मेरी क्या हानि कर सकता है ? वह चोरों की भांति सीता का हरण नहीं करता अपितु घोषणा करता है कि `जो जनस्थान के निवासियों! सुन लो, मैं सीता का अपहरण करके ले जा रहा हूं यदि राम में क्षात्रतेज है तो वह अपना पराक्रम दिखायें`:--

कथयेच दशग्रीवः सीतामादाय गच्छति ।
क्षात्रधर्मे यदि स्निग्धः कुर्याद् रामः पराक्रमम् ।

-- प्रतिमा० ५।२१

वह माया के आवरण से स्वयं को छुपाये हुए ऐसा ढोंगी है जो अपनी वासना को भी अपने प्रतिशोध की भावना के आवरण से ढंक लेता है। वह कहता है, खर और दूषण जैसे बन्धु-बान्धवों को मार कर तथा उसकी बहन शूर्पणखा को कुरूपा बनाकर दुष्कृति वाले राम ने[1] उसके मन में प्रतिशोध की भावना को उत्पन्न कर दिया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसकी वासना भी उसी प्रतिशोध की पुत्री है।

सीताहरण का यह दुःखद प्रकरण भी ; रावण का यह दुष्कर्म भी राम को उत्तेजित नहीं कर पाता। वह राम के औदात्य के अनुकूल भले ही हो किन्तु भास को भी जैसे यह प्रसंग राम की दृष्टि से अभीष्ट नहीं रहा है इसी कारण यहां न तो राम की करुणा ही व्यक्त हो सकी है और न तो उनका शौर्य और पराक्रम ही। इसके विपरीत राम के सम्बन्ध में `कृतदार: वनेऽस्मिन् तुल्यदुःखेन मोचितः'[2] सुमन्त्र का यह संकेत ही भरत को आशंकित कर देता है और रावण ने सीता का अपहरण कर लिया है यह सुनकर तो वे मूर्च्छित हो जाते हैं। चेतना आते ही सुमन्त्र को लेकर वे अन्तःपुर में आ पहुंचते हैं, वहां माता कैकेयी के प्रति उत्पन्न उनका क्रोध स्थिति के स्पष्ट होते ही रावण की ओर उन्मुख हो जाता है और तत्काल ही वे रावण पर आक्रमण के लिए ससैन्य प्रस्थान कर देते हैं। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण नाटक में भरत की करुणा ही प्रधान है। यहां तक कि सीताहरण का समाचार भी तत्काल भरत को क्रुद्ध नहीं कर देता, वे मूर्छित होते हैं, चैतन्य होते हैं और तब भी सर्वप्रथम उनकी करुणा ही जागती है, वेदना ही उत्पन्न होती है।[3] यह वेदना उनके क्रोध में भी अनुगामिनी है[4] और तब यह उस क्रोध का रूप धारण करती है जिसमें सम्पूर्ण सागरतटों को अन्धकारमय कर देने की क्षमता है[5]। यहां भरत की करुणा की अपेक्षा रावण का चरित्र उसकी भूमिका अत्यन्त संक्षिप्त है, अधिक उज्ज्वल और प्रभावी भी नहीं है फिर भी अन्य नाटककारों के रावण की अपेक्षा यह सशक्त है और भरत की दृष्टि से पर्याप्त उपयोगी है।

---

१ प्रतिमा० ५।१६ २ प्रतिमा० ६।१०
३ प्रतिमा० ६।१२ ४ प्रतिमा० ६।१३ और १४
५ प्रतिमा० ६।१६

इस रूप में हम पाते हैं कि प्रतिमानाटक में भरत के चरित्र को जोकि नायक है ; प्रतिनायक रावण एवं उपनायक लक्ष्मण के चरित्र के माध्यम से उभारा गया है और कवि सफलतापूर्वक नायक भरत के चरित्र को उस सीमा तक उठा सका है जहां से वह राम की तुलना में एक अधिक सशक्त चरित्र बन सका है ।

अभिषेकनाटकम्

प्रतिमानाटकम् की अपेक्षा अभिषेकनाटक कम सशक्त है । नायक राम, प्रतिनायक रावण, उप-प्रतिनायक बालि एवं उपनायकों के रूप में लक्ष्मण, सुग्रीव एवं हनुमान् हैं । इसका अङ्गीरस वीर है । प्रतिमा की भांति अभिषेक को भी नाटककार ने पर्याप्त संक्षिप्त कर दिया है । संक्षेपण की क्रिया में उसने अनेक घटनाओं को जिनमें नाटकीयता उत्पन्न करने की प्रक्रिया कठिन थी समेटने का प्रयास नहीं किया है ।

प्रतिमा एवं अभिषेक के तुलनात्मक अध्ययन से सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह उभरता है कि प्रतिमा नाटक में जहां नाटकीयता की प्रधानता एवं अधिक सरसता है वहीं अभिषेक में दोनों की ही न्यूनता है । कीथ एवं हेनरी वेल्स का विचार इस दृष्टि से सत्य प्रतीत होता है कि 'अभिषेक नाटक रामायण के तत्संवादी कांडों (४-६) का कुछ नीरस संक्षेप-सा है ।'[1] अभिषेक का कथानक बालिवध (किष्किन्धा-काण्ड) से आरम्भ होकर हनुमान् द्वारा सीता समाश्वासन एवं लङ्कादहन (सुन्दरकाण्ड) तथा राम-रावण युद्ध, विभीषण के राज्याभिषेक तथा स्वयं राम के अभिषेक (युद्ध काण्ड) की कथा के साथ समाप्त होता है ।

राम कथा का यह अंश जितना रोचक एवं महत्वपूर्ण है, अभिषेक नाटक के रूप में वह उतना ही नीरस एवं महत्वहीन-सा होकर रह गया है । फिर भी भास अपनी लीक पर न चलने की प्रकृति के धनी हैं और उन्होंने रंगमंच पर ही बालि का वध दिखाकर भरत की नाट्यपरम्परा के विपरीत प्रयोग किया है । राम एवं लक्ष्मण

---

१ (क) सं० ना० पृ० ६६ ।

(ख) --- Bhasa's The CORONATION reads more like a hastily composed, rapid-fire scenario than a dramatic poem. His STATUE Play on the contrary, is a highly sensitive and well composed poetic drama on a major episode in the Ramayana.

HENRY W. WELLS
C.D.I. page 26

के कुक्कशिरों द्वारा सीता के मन जीतने का रूपक भी कुछ रोचक बन पड़ा है। इन दो बातों के अतिरिक्त रूपक में सम्भवत: कुछ भी नया नहीं है। किन्तु इन्हीं दो उद्भावनाओं के कारण यह रूपक पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर सका है। कथानक शिथिल है, यद्यपि घटनाक्रम में गति है।

प्रतिमानाटकम् एवं अभिषेक इन दोनों ही रूपकों में राम के अभिषेक का स्थल लंका या उसके समीप का ही कोई प्राङ्गण है जो कवि की मौलिकता भी है और अपने क्षेत्र के प्रति उनका मोह भी (यदि वे दाक्षिणात्य थे)। जैसाकि कहा जा चुका है नाटक के नायक निर्विवाद रूप से राम हैं और उनका मुख्य प्रतिद्वन्द्वी रावण है। दोनों ही दूत समुदाचार का पालन करते हैं। किन्तु रावण दूत को भी दण्ड देकर उसका पूर्ण निर्वाह नहीं करता जबकि राम उन्हें जो कि वास्तविक दूत भी नहीं छद्मवेशी भेदिए हैं,क्षमा कर देते हैं। राम एवं रावण के मध्य धर्मवीर एवं युद्धवीर नायकों का यह वैषम्य दिखाकर कवि एक ओर राम को धीर और उदात्त प्रदर्शित करता है, दूसरी ओर रावण की छलनाप्रियता तथा मात्सर्य अथवा असूया की भावना को व्यक्त करता है।

<u>नायक राम</u> :

राम के चरित्र में वीरता कम औदात्य अधिक है। वस्तुत: उनका चरित्र धीरोदात्त नायक का चरित्र है। बालिवध-उससे सम्वाद, विभीषण को लङ्केश्वर बनाने का वचन, वरुण से उनका सम्वाद, छद्मवेशी शुकसारण नामक रावण के मंत्रियों के सम्बन्ध में विभीषण से मंत्रणा एवं उन्हें क्षमादान, विभीषण द्वारा सीता को लाने पर राम द्वारा अग्निपरीक्षा के निमित्त लक्ष्मण को आदेश फिर अग्निदेव से राम का सम्वाद और सब कुछ जानते हुए भी लोक-प्रदर्शन के निमित्त उनकी अग्नि-परीक्षा का हठ, ये वे स्थल हैं जहाँ राम का उदात्त एवं धीर रूप उभरता है। इसे ही उनकी धर्मवीरता भी कहा जा सकता है। वैसे अभिषेक के राम धर्मवीर[१] अधिक लगते हैं धर्मवीर

---

१ एक ओर तो राम सीता की शुद्धता की परीक्षा का आदेश देते हैं दूसरी ओर लक्ष्मण के यह बताने पर कि सीता अग्नि में प्रविष्ट हो गयी है, वे व्याकुल होकर उनसे सीता को रोकने का आग्रह करते हैं।

--अभिषेक ६।२०, २३, २४ एवं संवाद।

कम । फिर भी अभिषेक के राम पूर्णरूपेण नायक हैं । वे भास की दृष्टि में महा-मानव हैं, यद्यपि बालि से उनके सम्वाद, अग्नि एवं वरुण की उपस्थिति, अन्य देवों द्वारा उनकी प्रशंसा ने उन्हें महामानव से भी ऊपर उठा दिया है ।

प्रतिनायक रावण के माध्यम से राम का उत्कर्ष चित्रण

रावण का संक्षिप्त एवं शिथिल चरित्र प्रतिमानाटकम् में राम के चरित के उत्कर्ष को तो किंचित् भी सहायता नहीं देता है । भरत में अवश्य उसके विरुद्ध एक प्रतिक्रिया दिखाई देती है, जिससे उत्प्रेरित हो उनकी करुणा और क्रोध दोनों की उद्भावना हो पायी है । अभिषेक में इसके विपरीत राम और कुछ अन्य उपनायकों के चरित्र-निर्माण में रावण की भूमिका का महत्त्व है । फिर भी राम-रावण के मध्य साक्षात् सम्वादों के अभाव एवं युद्ध में उनके सामने सामने न आने के कारण राम का युद्धवीररूप तो सामने नहीं आता फिर भी रावण के चरित्र के माध्यम से कवि ने राम, विभीषण एवं हनूमान् के चरित्र का उत्कर्ष दिखाया है ।

रावण के मन में सीता के प्रति आकर्षण है, अपनी शक्ति का घमण्ड है । हनूमान् अथवा विभीषण द्वारा सीता की मुक्ति के उपदेशों में अथवा राम की शक्ति के प्रत्याख्यानों में उसका मात्सर्य और उसकी असहिष्णुता प्रकट होती है । सीता के विमोहन में उसकी माया एवं छलकपट के दर्शन होते हैं । वह अहंकार का जीवित आदर्श है । उसका क्रोधी अथवा उग्र स्वभाव भी स्पष्ट है । वह आत्मश्लाघा तथा पापपूर्ण कुविचारों से युक्त है । इस प्रकार के रावण का चरित्र निश्चय ही संक्षिप्त होते हुए भी पर्याप्त मुखर है ।

दर्प एवं कामुकता के वशीभूत हो रावण देवी सीता का मन जीतने के निमित्त जितना व्याकुल है, राम पर विजय प्राप्त करने को उतना आकुल नहीं है । वह जानता है छल-छद्म किसी भी प्रकार से यदि सीता उसे अपना लेती है तो राम स्वतः वापस हो जायेंगे यह उसकी नीति है । वैसे उसे अपनी शक्ति पर भी अटूट विश्वास है ।

सीता पर उसकी आसक्ति में विप्रलंभ भी है और दया भी, राम

नर हो या नारायण पर रावण की दृष्टि में तो वे निरीह तापस[१] ही हैं निरे मानुष[२] ही हैं, एक निरीह मूर्ख[३] हैं, नराधम हैं[४]। रावण द्वारा राम के प्रति व्यक्त इन शब्दों में राम को अपना शत्रु मानने की भावना है ही, वह उनको अपनी तुलना में क्षुद्र जीव मानकर अपने दर्प और अहंकार को भी व्यंजित करता है ।

प्रतिनायकगत व्यसनों में वे सभी दुर्गुण आ जाते हैं जो किसी भी व्यक्ति के पतन का कारण बनते हैं । मनु ने अट्ठारह प्रकार के व्यसन[५] गिनाये हैं । जो कि किसी भी राजा के लिए घातक हैं । मुख्य रूप से काम एवं क्रोध से उत्पन्न ये सभी दुर्गुण रावण में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप में विद्यमान है, क्योंकि वह कामी भी है और क्रोधी भी ।

सीता के प्रति राम की भावना, प्रेम भावना, भले ही उनके उदात्त चरित्र के कारण उभर कर सामने न आए, सीता के वियोग में राम की पीड़ा भी चाहे अभिव्यक्ति न पा सके, किन्तु रावण का अनुराग तो प्रकट होता ही है । उसे सीता के उपवास, उसके म्लानमुख एवं कृश शरीर को देखकर पीड़ा होती है[६]। चन्द्रमा की रक्त किरणें उसकी इस पीड़ा में घृताहुति डालती है[७]। सीता की यह उग्र तपस्या उससे देखी नहीं जाती और वह तत्काल प्रणय निवेदन कर देता है[८]। उसे लङ्केश्वरी बनाने के दिवास्वप्न दिखाता है[९]। किन्तु सीता की प्रतिक्रिया 'शप्तोऽसि' को सुनकर उसका दर्प भी जागता है, किन्तु उसे सीता के इन तीन अक्षरों पर हंसी भी आ जाती है[१०]। रावण

---

१ अभिषेक २।१०, ५।१६ २ वही २।१२, १४, ३।१७, ५।७, ८, ९

३ वही २।१३, ३।२१ ४ वही ५।१०

५ कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः । वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ।। मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परीवादः स्त्रियोमदः । तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गुणः ।। पैशुन्यं साहसं द्रोहईर्ष्यासूयार्थदूषणम् । वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽ गुणोष्टकः ।। -- मनुस्मृति०

६ एषा सीता पादमूलाश्रित्य ध्यानसंमीलितद्वयानतानदामवदना..............
अभिषेक ..... अभिषेक द्वितीय अंक

७ अभि० २।११ ८ वही २।१४ ९ अभि० २।१८

१० ,, २।१८

की यह कामुकता यहीं समाप्त नहीं होती । वह तो जब भी सीता को समक्ष देखता है उसकी वासना का आवेग तीव्र हो उठता है और वह नितान्त कामाचारी की तरह वह प्रलाप करने लगता है । उसे रात्रि में नींद भी नहीं आती है । सीता के आलिंगन को व्याकुल उसका शरीर नित्य क्षीण होता जा रहा है[1]। वह अपने प्रणय निवेदन में भी राम के प्रति अपनी कुभावना की अभिव्यक्ति करता नहीं थकता[2]। वह माया, छल एवं छद्म द्वारा भी राम से सीता के मन को हटाकर अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करता है इसीलिए राम एवं लक्ष्मण के कृतक शिरों को प्रदर्शित करता है[3]।

रावण के प्रणय-निवेदन एवं सीता के सतीत्व की परिचायक शापोक्ति के प्रत्यक्ष द्रष्टा एवं श्रोता हनुमान् की उपस्थिति के माध्यम से कवि ने राम को उत्तेजित करने का प्रयास किया है । रत्याभास एवं भावाभास के ये स्थल उपनायक हनुमान् के चरित्र को प्रभावित करते हैं । कम से कम हनुमान् की तात्कालिक प्रतिक्रिया तो नाटकीयता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो ही उठती है, जब वे रावण को स्वयं मार डालने अथवा इस पावन उद्देश्य में आत्म-बलिदान कर देने का संकल्प करते हुए देखे जाते हैं और अन्त में जब उनके क्रोध पर दूरदृष्टि विजयी होती है[4]। सीता से प्रणय-निवेदन करते समय रावण द्वारा राम को 'गतायुः' कहने पर हनुमान् की प्रतिक्रिया में राम के चरित्र को वर्णनात्मक दृष्टि से उभारने में भी सफलता मिली ही है,[5] प्रत्यक्षरूपेण हनुमान् के चरित्र का उत्कर्ष भी स्पष्ट हो उठता है[6]।

तृतीय अंक में रावण एवं हनुमान् के मध्य होने वाले संवादों के माध्यम से भी कथानक को आगे बढ़ाने एवं राम के महत्त्व को उभारने में सहायता ली गयी है । इसके अतिरिक्त हनुमान् के चरित्र को भी उनसे गति मिलती है । उपनायक हनुमान् की भूमिका का यह मुख्य अंश है । इस संवाद के माध्यम से रावण के क्रोध,दर्प, विकत्थना को दर्शाने में कवि ने सफलता पायी है । एक तुच्छ वानर से भयभीत लंका के राक्षसों द्वारा उसे पकड़ पाने में असमर्थता का उद्घाटन, रावण के सेनापतियों द्वारा

नु खलु अभि.

१ अशोक॰ अनुतुल्यता कुसुमधन्वनः आदि, ५।६ २ वही ५।७

३ वही ५।६ ४ वही २।१६ ५ वही २।१५

६ भवतु अहमेवार्यरामस्य कुसुमधन्वन कार्यं साधयामि ।। वही ।।

उसे पकड़ने के उपक्रम में मृत्यु एवं अन्ततोगत्वा इन्द्रजित द्वारा उसे वश में करने की कथा द्वारा राम के एक अनुचर के माध्यम से राम एवं रावण के शक्ति-सन्तुलन को स्पष्ट किया गया है। इसी कारण रावण भी चिन्ताकुल हो उठता है कि जिस लंका के बारे में सुर और दानव सोच भी नहीं सकते, उस लंका को अभिभूतकर एक वानर उत्पात मचा रहा है[1]। शंकुकर्ण द्वारा वानर के उत्पात का वर्णन प्रकारान्तर से राम की शक्तिसम्पन्नता का परिचय देता है[2]। तभी रावण के क्रोध एवं दर्प की अभिव्यक्ति को सुतरां अवसर मिलता है, वह कहता है यदि इसके पीछे देवताओं का हाथ है तो उन्हें भी इसका फल भुगतना होगा[3]।

तात्पर्य यह कि प्रतिनायक रावण के चरित्र को कवि ने अभिषेक नाटक में महत्त्वपूर्ण ढंग से उठाया है और यही कारण है कि नायक एवं उपनायकों के चरित्रों को भी उससे सम्बल मिला है। हनुमान् ही नहीं रावण से विभीषण के सम्वादों में भी जहां रावण का क्रोध अभिव्यक्ति पाता है वहीं विभीषण की धीरता, सहिष्णुता, औदात्य एवं शिष्टता के दर्शन होते हैं।

उपनायक

प्रतिनायक रावण के साथ उपनायक हनूमान् के चरित्र का संक्षिप्त परिचय मिल जाता है। अन्य उपनायकों में सुग्रीव एवं विभीषण का किंचित् महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसाकि स्पष्ट ही है उपनायक की उपयोगिता एवं महत्त्व नायक के मुख्य कर्म में सहायता करना है। इस कार्य को प्रतिनायक अथवा उप-प्रतिनायक के साथ उनके संघर्ष को प्रदर्शित करते हुए प्रस्तुत करना सबसे सशक्त माध्यम है। उपनायक सुग्रीव का बालि से संघर्ष एवं विभीषण एवं हनुमान् का रावण से वाक्कलह इस दृष्टि से आदर्श हैं। सुग्रीव का चरित्र एक वीर का चरित्र नहीं है। वह बालि से पराजित होता है और कहीं भी उसका वीरत्व उभर नहीं सका है। इसके विपरीत विभीषण

---

१ अभि० ३।११ २ वही देवकुसुमाण्यकुत्पाटिता: सालवृक्षा: मुष्टिना भग्नोद्यानपर्वतक:............ आदि। वही तृतीय अंक

३ ३।४

ीति निपुण है। वैसे तो सुग्रीव एवं विभीषण द्वारा राम की सहायता के पीछे स्वार्थ ही प्रमुख है। अपने भाई से राज्य छीनने का प्रयास दोनों पक्षों में स्पष्ट किन्तु विभीषण की कूटनीति अधिक परिपक्व प्रतीत होती है। दोनों ही राम उपकार से कृतार्थ हैं और उनके आज्ञाकारी सेवक लगते हैं। वे दोनों ही रावण की राजय एवं तदर्थ योजनाओं को साकार करने में समर्पित हैं।

ायकोत्कर्ष हेतु उप-प्रतिनायक बालि का उपयोग

बालि ही एक ऐसा उप-प्रतिनायक है जिसे महत्व दिया जा सकता है। उसके प्रतिनायकत्व का कारण है प्रतिनायक रावण के लिए उसका कार्य एवं उप-नायक सुग्रीव से उसका वैर, तदर्थ युद्ध। उस पर छोटे भाई सुग्रीव की भार्या के साथ व्याभिचार एवं रावण की सहायता का आरोप है। प्रतिनायक की 'पापकृद्'[1] की सार्थकता का यह प्रमाण है। वह उद्धत है, सुग्रीव के ललकारने पर उसकी उपेक्षा एवं गर्व[2] दोनों ही द्रष्टव्य हैं, जिसमें विदग्धता भी है, द्वेष भी है, अहं की सफल अभिव्यक्ति भी है।[3] किन्तु नाटक में गति क्षिप्रता के धनी भास की प्रकृत स्थल पर क्षिप्रता ने नाटकीयता को कुंठित किया है और शीघ्र ही राम छलपूर्वक बालि का वध कर देते हैं। इस प्रसंग में बालि एवं राम के बीच संवादों में न तो गम्भीरता है और न तो अधिक तर्क का अवकाश ही।

जैसाकि प्रतिनायक लक्षण प्रसंग में कहा जा चुका है, संस्कृत के प्रतिनायक की यह चारित्रिक विशेषता है कि वह अन्त में अपने पाप को स्वीकार कर प्रायश्चित करता है वही तथ्य बालि पर भी लागू होता है। बालि का प्रश्न[4] राम के उत्तर[5] से अधिक शक्तिशाली है। विशेषकर तब जबकि बालि अपने कर्म को अपने धर्म

---

१ अभि० १।६ २ वही १।१०,११ ३ वही १।१२

४ सुग्रीवेणाभिमृष्टायुष्ट धर्मपत्नी गुरोर्मम ।
तस्य दाराभिमर्शेन कथं दण्ड्योऽस्मि राघव: । — अभि० १।२१

५ राम :- नन्वेवं हि कदाचिज्ज्येष्ठस्य यवीयसो दाराभिमर्शनम् ।।

(परम्परा) के अनुकूल मानता है[1]। अस्तु अवैदिक संस्कृति पर वैदिक संस्कृति की यह विजय ही नाटककार को अभीष्ट है। इस व्यामोह के कारण ही राम के शिथिल से उत्तर पर उसकी पापस्वीकृति अनाटकीयता का कारण बनती है। किंचिदुपरान्त ही वह राम से सुग्रीव और अङ्गद को अपनी शरण में लेने की याचना करके और स्वर्गारोहण करता है। इस प्रकार सुग्रीव से उसका वैर किंचिद् कृत्रिम हो उठा है किन्तु यह भारतीय दर्शन के अनुकूल है जहां हृदयपरिवर्तन तथा आत्मशुद्धि को ज्ञान प्राप्ति और जीवन मुक्ति का साधन माना गया है। राम उसके स्वर्गारोहण के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। एक प्रतिनायक वह भी राम जैसे आदर्श पुरुष का विरोधी, और चारित्रिक दृष्टि से अपने अनुज की भार्या का अभिभ्रष्टा बालि, स्वर्गारोहण करे ऐसा भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त सम्भवत: अन्यत्र दुर्लभ ही होगा। प्रतिनायक चरित्र की यह प्रतिष्ठा संभवत: किसी भी साहित्य में दुर्लभ होगी। इस अप्रतिम कल्पना के पीछे भारतीय संस्कृति की वह मान्यता ही है जहां युद्ध में वीरगति प्राप्त करने वालों के लिए स्वर्ग के द्वार सदा खुले रहते हैं।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि रावण एवं बालि यह दोनों ही नायक विरोधी पात्र राम के चरित्र को उठाने में सहायक हैं। अभिषेक नाटक के आरम्भ में ही प्रतिनायक बालि की उपस्थिति द्वारा राम के तीन सहायकों और उनकी सेना की सहायता का उपक्रम स्वत: में महत्वपूर्ण है। सुग्रीव, अङ्गद एवं हनुमान् यह तीन सहायक राम को बालि के वध से ही सुलभ हो पाते हैं, कम से कम बालि के जीवित रहते राम का कार्य सुकर न होता और राम की सैन्य शक्ति पंगु ही रह जाती। निश्चय ही बालि वह चट्टान है जिससे टकराकर राम के चरित्र को गति मिलती है। नाटककार भास ने रस एवं नाटकीयता को ध्यान में रखते हुए रामायण की अनेक घटनाओं को छोड़ दिया है। जिससे कथानक में गतिमत्ता आयी है, बालि एवं रावण के चरित्र को अवकाश मिला है एवं प्रकारान्तर से इनके माध्यम से हनुमान् एवं राम के चरित्रों का भी विकास हुआ है।

रस की दृष्टि से अभिषेक प्रतिमानाटकम् की अपेक्षा अधिक सुन्दर नहीं है किन्तु रावण एवं हनुमान् के संवाद, विभीषण एवं रावण के विवाद एवं बालि

१- बालि:- अगम्यागमनेनेति ? स्त्रीऽस्माकं धर्म: । अभिषेक, अङ्क -१

तथा सुग्रीव के युद्ध के माध्यम से वीर एवं रौद्र रसों का प्रयोग सफल है । किन्तु इन दोनों ही रसों का जैसा परिपाक महाभारत की कथा पर आश्रित उनके अन्य रूपकों में हुआ है वैसा यहां नहीं दिखाई पड़ता है फिर भी नाट्यपरम्परा के अनुसार कवि का यह प्रयास अवश्य रहा है कि वह वीर एवं रौद्र रसों का उपनिवेश कर सके । प्रतिनायक रावण के चरित्र के माध्यम से कवि ने वीर एवं रौद्र रस के साथ ही शृङ्गाराभास तथा रत्याभास का भी सफल उपगुम्फन किया है । इस रूप में हम पाते हैं कि रावण अपनी कामुकता के परिवेश में अपने सहायकों पर आश्रित एक सचिवायत्त प्रतिनायक के रूप में भी कभी-कभी दिखाई पड़ता है । उसे ऐसे स्थलों पर शृङ्गारप्रकाशकार के धीरललित प्रतिनायक के रूप में देखा जाय तो अनुचित न होगा । अन्यथा भास ने उसके धीरोद्धत स्वरूप को व्यक्त करके राम के चरित्र का उत्कर्ष दिखाने में सफलता प्राप्त की है इसमें सन्देह नहीं है ।

महाकवि भवभूति कृत महावीरचरितम्

भवभूति ने भी राम कथा को आधार बनाकर दो रूपकों की रचना की है । राम के विवाह से लेकर राम-वनवास, सीताहरण एवं उसकी प्राप्ति तक के कथानक को उन्होंने `महावीरचरितम्` में संगृहीत किया है, जबकि लोकापवाद के भय से सीता के प्रति राम के व्यवहार पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए उन्होंने `उत्तररामचरितम्` में उस महान् करुणा की अभिव्यक्ति की है जिसे `एक मात्र रस` मानने वालों का एक सम्प्रदाय ही बन गया । प्रकृत प्रसंग में उत्तररामचरितम् की करुणा के मूल में विद्यमान उन तत्वों की विवेचना अभीष्ट नहीं है, जो इस करुणा के जनक अथवा पोषक होने के कारण नायक नायिका के विरुद्ध हैं । अतः यहां `महावीरचरितम्` को ही लिया जा रहा है ।

महावीरचरितम् में राम के दानवीर, दयावीर, धर्मवीर और युद्ध वीर रूप को कवि कितना उभार सका है और इस कार्य में प्रतिनायक एवं उसके सहायक और उपनायकों से सहायता लेने में कितना सफल हुआ है, यही प्रकृत-विवेचना का विषय है । यहां परशुराम के चरित्र के उत्कर्ष के माध्यम से धीर-गम्भीर राम के चरित्र का महान् पक्ष उभारा गया है । परशुराम का इतना विकराल रूप सम्भवतः

संस्कृत के किसी अन्य रूपक में नहीं दिखायी देता और इसी कारण राम का जो रूप महावीरचरितम् में है वह भी अन्यत्र दुर्लभ है। माल्यवान, जामदग्नि एवं बालि की भूमिकाओं के माध्यम से भी इसी उद्देश्य को पूरा किया गया है।

ख्यातवृत्तात्मक महावीरचरितम् में सुख-दुःख का नैरन्तर्य अतः नाना-रसों की स्थान-स्थान पर योजना स्वाभाविक है। किन्तु रस की योजना में मुख्य कथानक से अलग पड़ जाने की प्रवृत्ति से बचते हुए भवभूति ने महावीरचरितम् की रचना की है, जिसमें सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही पक्षों को उन्होंने ध्यान में रखने का प्रयास किया है। अपने गुण-दोषों के परिप्रेक्ष्य में यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि महावीर-चरितम् एक सुन्दर कृति है। भास की-सी गतिमत्ता और सरलता के अभाव में भी कवि उन स्थलों को ढूंढने में सफल रहा है जिससे नायक तथा अन्य भूमिकाओं का उत्कर्ष प्रदर्शित किया जा सके।

कथावस्तु :-- महावीरचरितम् का आरम्भ नवीन उद्भावनाओं से युक्त होते हुए भी किंचिद् शिथिल है। तपोवनों में होने वाले यज्ञों की सुरक्षा हेतु लाये गए राम एवं लक्ष्मण से विश्वामित्र के आश्रम में, जनक के अनुज कुशध्वज के साथ सीता एवं उर्मिला का साक्षात्कार, राम द्वारा अहल्या के उद्धार से उनका चमत्कृत होना, रावण द्वारा प्रेषित राक्षस का अपमान, ताड़का वध, विश्वामित्र द्वारा राम को और राम की याचना पर लक्ष्मण को दिव्यास्त्रों का दान, फिर इन कार्यों से प्रभावित कुशध्वज की इच्छा को समझकर विश्वामित्र द्वारा राम से वहीं वन में हर-धनु को भंग करवाना, राम एवं उनके भाइयों के साथ सीता एवं उनकी बहिनों के विवाह का निर्णय तदनन्तर मारीच एवं सुबाहु का वध, यह सब प्रसंग एक साथ दिखाए गए हैं। उधर राम के इन कर्मों का प्रत्यक्ष-द्रष्टा रावण का दूत राक्षस अपने स्वामी की याचना की उपेक्षा से अपमानित होकर रावण के मन्त्री माल्यवान् के पास जाकर सारा वृत्तान्त बताता है। जिससे चिन्तित होकर वह एक षड्यन्त्र रचता है जिसके द्वारा वह एक ओर शूर्पणखा को मन्थरा के रूप में कार्य करने को तैयार करता है तथा दूसरी ओर परशुराम को उत्तेजित करने के लिए खण्डित हरचाप को माध्यम बनाता है। उसकी यह दोनों ही योजनाएं कार्य रूप में परिणत हो जाती हैं। परशुराम जनकपुरी में पहुंचकर आतंक मचाते हैं और उनके शान्त होते ही अर्थात् माल्यवान् के इस षड्यन्त्र के निर्मूल होते ही

मन्थरा द्वारा उत्तेजित कैकेयी की याचना दशरथ के सामने आती है। यह कार्य मिथिला में ही होता है, ऐसी कल्पना कवि की अपनी है। राम वहीं से भरत के आग्रह पर अपनी पादुका देकर सीता एवं लक्ष्मण के साथ वन चले जाते हैं। जहां (दण्डकारण्य में) पहुंचकर वे खरदूषण का वध करते हैं। क्रुद्ध रावण द्वारा सीता का अपहरण होता है जिसमें बाधक जटायु मारा जाता है। जटायु के बताने पर राम सीता को खोजते हुए विराध का वध करते हैं। तभी सुग्रीव से उनकी मैत्री होती है। बालि का वध करने के उपरान्त उनकी यह मैत्री और भी दृढ़ हो जाती है। विभीषण भी राम से आ मिलता है। राम लंका पर चढ़ाई करते हैं। जहां युद्ध में लक्ष्मण को शक्ति लगती है, संजीवनी द्वारा उनकी चेतना वापस होती है। अन्त में मेघनाद एवं रावण प्रभृति शत्रुओं को मार कर राम सीता को मुक्त करा लेते हैं। इसके साथ ही लंका का राज्य विभीषण को देकर वे अयोध्या लौट आते हैं।

कथानक में मौलिकता

महावीरचरितम् में भवभूति ने रामायण की कथा को पर्याप्त परिवर्तित कर प्रस्तुत किया है। किन्तु रामकथा के छोटे-छोटे प्रसंगों को भी संजोये रखने के मोह का संवरण वे नहीं कर सके हैं। इस कारण कथानक में शिथिलता आयी है। अहल्योद्धार, ताड़कावध, एवं सुबाहु तथा मारीच का प्रसंग, धनुर्भङ्ग, दिव्यास्त्रों का दान यह सारी कथा एक ही अङ्क में संगृहीत करके जहां उन्होंने कथानक को बोझिल कर दिया है, वहीं कथा के क्रम को तोड़ा मरोड़ा है। विश्वामित्र के आश्रम में ही सीता एवं उर्मिला के साथ कुशध्वज का आगमन, सीता-राम तथा उर्मिला और लक्ष्मण के हृदय में परस्पर प्रेम का संचार, रावणदूत द्वारा रावण के लिए सीता की याचना, विश्वामित्र एवं कुशध्वज द्वारा उसे उपेक्षित कर उसी के समक्ष दिव्यशक्ति द्वारा समाहूत धनुष को राम से खण्डित करवाने की घटनाओं में नवीनता है।

माल्यवान् की योजनाएं, शूर्पणखा का मन्थरा के शरीर में प्रवेश, एवं माल्यावान् द्वारा जामदग्न्य को राम की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा करना भी कवि की अपनी प्रतिभा का चमत्कार है। इतना ही नहीं इसी प्रसंग में विश्वामित्र, वसिष्ठ, शतानन्द, जनक एवं दशरथ से पृथक् पृथक् एवं एक साथ जामदग्न्य के सम्वाद एवं ऋषियों

की शापोक्तियां एवं जनक, विश्वामित्र एवं दशरथ द्वारा जामदग्नि को युद्ध के लिए ललकारना भी ऐसी ही मौलिक उद्भावना के परिणाम हैं। विश्वामित्र के आश्रम से सीधे राम लक्ष्मण का जनकपुरी को जाना उधर बिना वर के सारी बारात का जनकपुरी जाना और वहीं से राम का वनवास और भरत को राज्य का उत्तरदायित्व दिया जाना भी नवीनता लिए हुए है। यहीं दशरथ के, मिथिला में ही, स्वर्गवास के भी संकेत मिलते हैं। जैसाकि कहा जा चुका है इन परिवर्तनों, परिवर्धनों से कहीं नाटकीयता की सृष्टि हुई है तो कहीं कथानक की गति अवरुद्ध हुई है। फिर भी परशुराम के व्यापक कथावृत्त एवं माल्यवान् की कार्य-चिन्ता एवं साधना द्वारा कथानक में रोचकता उत्पन्न हुई है।

नायक राम

जहां तक इस सारी नवीनता के पीछे निहित मुख्य तत्त्व का प्रश्न है वह राम के चरित्र को, उनके युद्धवीर रूप को प्रस्तुत करना ही है। परशुराम के चरित्र को इतने व्यापक स्तर पर चित्रित करना कि द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ अंकों के नायक परशुराम प्रतीत होने लगे और फिर उनका त्वरित-पतन राम की महानता एवं शक्ति को उद्भासित करता है। इसी प्रकार माल्यवान् की सारी चिन्ता राम की शक्ति को क्षीण करने की योजना का अंग है जिससे उसका कर्त्तव्यनिष्ठ साचिव्य[1] तो उभरता ही है किन्तु उसकी योजनाओं की सफलता (राम को सैन्यहीन करके घोर वनों में खींच लाना) और असफलताओं (परशुराम की पराजय एवं बालि वध) द्वारा भी अन्त में राम के वीर चरित्र को उभारा गया है।

महावीरचरितम् के नायक राम को भवभूति किस रूप में चित्रित करना चाहते हैं यह रूपक के अभिधान से ही स्पष्ट है। 'महावीर राम' राम के साथ यह विशेषण वैसे ही उचित नहीं लगता जैसे राम की करुणा, रुदन व्याकुलता की अधिकता अधिक उचित नहीं लगती। फिर भी उन्होंने राम की दोनों ही भावनाओं को अपने रूपकों का विषय बनाया है। सम्भवत: यह एक साहित्यिक परीक्षण था

---

१ म० वी० - छठा अंक, पृ० २४५, ६।३

जो भवभूति ने किया । उन्होंने महावीरचरितम् में राम के वीररूप को और 'उत्तर-रामचरितम्' में राम की करुणा को रूपायित करने का प्रयास किया है । पर्याप्त सफलता का यश भी मिला उन्हें, किन्तु परीक्षण की यह प्रक्रिया उनके बाद लगभग अवरुद्ध हो गयी ।

रामायण के राम का रूप धीरोदात्त ही है-उदात्त भी और वीर भी । यही आदर्श रूप है, जो न तो सुख में सीमातीत सुखी होते हैं न ही दुःख में अत्यन्त विचलित[१]। राम की वीरता पर उनकी धीरता, गम्भीरता का प्रभाव सदा ही सुलकर लगता है । किन्तु भवभूति ने राम की वीरता को प्रमुखता देने के निमित्त ही महावीरचरितम् की रचना की,ऐसा लगता है । उत्तररामचरितम् में भी उनके करुणा-लाप को, एक मानव की-सी करुणा के रूप में प्रस्तुत किया गया है । यही उनकी मौलिकता है । राम की यह वीरता उनके औदात्त्य की अपेक्षा कितनी प्रकृष्टरूप में उभर सकी है यही विवेच्य है प्रकृत स्थल पर । किन्तु इससे औदात्त्य को वीरता का विरोधी नहीं माना जाना चाहिए। औदात्त्य वीरता को द्विगुणित करता है,किन्तु यह तभी जबकि वीरता निर्जीव न हो । उसमें प्राण हो ।

इस रूपक का अङ्गीरस वीर है[२]। वीर रस की विवेचना में पर्याप्त शास्त्रार्थ है,क्योंकि विभिन्न आचार्यों ने इसके नाना भेद किए हैं । किन्तु उनमें युद्धवीर, दानवीर, दयावीर, और धर्मवीर के रूप में इसके चार प्रमुख भेद हैं । जैसाकि अभिधान से ही स्पष्ट है इसका आधार वीररस के स्थायीभाव उत्साह की प्रक्रिया पर अवलम्बित है । युद्ध, दया, धर्म अथवा दान के प्रति उत्साह की भावना के आधार पर ही यह विभाजन है । इसके अतिरिक्त भी अन्य गुणों के आधार पर इसके अन्य रूपों की भी

---

१ म० वी० ६।७

२ म० वी० १।२, ३

कल्पना की जा सकती है । यही कारण है कि इसकी संख्या में अन्तर है[1]। किन्तु वीरता, वीर भावना, उत्साह का सही अर्थ युद्ध के सन्दर्भ में ही करना उचित है । विरोधियों के हनन और उच्छेद के ही सन्दर्भ में वीर का प्रयोग न्यायसंगत है 'विरुद्धान्राति ऋाति हन्ति क्षिपति' ही वीर की उचित व्याख्या है ।

भवभूति ने 'महावीर' इस विशेषण द्वारा राम के प्रत्येक महान् गुण को वीरता का पर्याय माना है, किन्तु नायक राम के चरित में अपने शत्रु के उच्छेद के प्रति कितना उत्साह है और इस उत्साह का वे किस प्रकार प्रदर्शन कर पाते हैं यही विवेचना यहां अपेक्षित है । प्रताप से विभावित युद्ध आदि से अनुभावित गर्व आदि से युक्त स्थायीभाव उत्साह के माध्यम से वीररस की निष्पत्ति होती है[2]। भवभूति ने राम के ऐसे वीर रूप को उभारने में कुछ शीघ्रता की है और आरम्भ में ही वे उन्हें वन में धर्मद्रोहियों के संहारक रूप में प्रस्तुत कर देते हैं । विश्वामित्र यद्यपि उन्हें ले ही गए हैं,

---

१ (क) वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्वमोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः ।
उत्साहभूः स च दया-रण-दानयोगात् त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः ।।
-- द० रू० ४।७२

(ख) भयादिविभावः स्थैर्याद्यनुभावो धृत्यादिव्यभिचारि उत्साहो धर्मदान युद्धभेदो वीरः।
--काव्यानुशासन

(ग) निरायुधस्याप्येकस्य हीनस्यापि परिच्छदैः । अभीतिर्बहुभिर्युद्धं व्यवसायो रणे महः।
हर्षः शस्त्रास्त्रपातेषु अराधकायनम् । भीताभयप्रदानं च प्रपन्नस्यार्तिभाजनम् एवं युद्धात्मको वीरस्तज्ज्ञैकविभिरीरितः ।। अर्थिनामीप्सितादर्थात् प्रदायेभ्योऽधिकं बहु अर्थिनः पुनरायातानुस्वजनाभितरानपि । यन्मानयति दानेन वाक्येन मधुरेण च । एतद्दानात्मको वीरः कथ्यते दानशीलिभिः। व्याधिदारिद्र्य शस्त्रास्त्रक्षुत्तपिपासाविपीडितान् । अनुगृह्णाति यः प्रीत्या स वीरः स्याद् दयात्मकः ।।
--भावप्रकाशन, तृतीय अधिकार

(घ) स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितः चतुर्धा स्यात् ।--सा०द० ३।२३४

२ प्रतापविनयादिभिर्विभावितः, करुणायुद्धदानैरनुभावितः, गर्वधृतिस्मृतिहर्षामर्षमतिवितर्क प्रभृतिभिर्भावितः उत्साहः स्थायी स्वदते भावकमनोविस्तारानन्दाय भवतीत्येष वीरः -- द० रू० ४।७२ वृत्ति भाग

इसी उद्देश्य से, किन्तु इसे ही उन्होंने अत्यन्त अनाटकीयता के साथ प्रस्तुत कर दिया है। राम का जो वीर-रूप कुशध्वज को दिखाई पड़ता है,[1] उसका सर्वप्रथम दर्शन अहल्या के उद्धार में होता है, जो राम के पौराणिक रूप- धर्मोद्धारक, धर्मवीर रूप को ही प्रकट करता है ।

उनके धर्मवीर रूप को नाटककार ने स्थान-स्थान पर प्रस्तुत किया है । अपने समक्ष जामदग्नि को देखकर राम की प्रतिक्रिया अत्यन्त धीर-वीर एवं एक शिष्य के समान प्रकट होती है । वे कहते हैं उनका हाथ नव-शिक्षित धनुर्विद्या को कार्य रूप में परिणत करने के साथ ही परशुराम की चरण-वन्दना को व्याकुल हो रहा है[2]। परशुराम की यशोगाथा के व्याज से भी राम के चरित्र का यही रूप उभरता है । वे बार-बार उनकी वन्दना करते हैं[3]। किन्तु परशुराम की गर्वोक्तियाँ, क्षात्र-वध की प्रतिज्ञा और परशुराम के आगमन से संत्रस्त नृप-नृपपुरोहित-अन्त:पुर-पौर एवं परिजन यहाँ तक कि विश्वामित्र एवं वशिष्ठ द्वारा भी व्यक्त की गयी अनिष्ट आशंकाएं परशुराम के चरित्र को महात्र्याकाश तक पहुंचा देती है । उनकी तुलना में राम का व्यक्तित्व एकबार कभी तो बौना लगने लगता है[4]। नाटककार द्वारा राम की तुलना में परशुराम के चरित्र को इतना उठाना और फिर उनके गर्व को राम द्वारा ही खण्डित कराना, राम के चरित्र को, उनकी धीरता को, उनकी वीरता को, उनके पराक्रम को, नि:सीम बनाता है । यह 'नायक चरित्र' को उठाने-उभारने की सर्वश्रेष्ठ तकनीक है ।

राम की दृष्टि में वध्य होते हुए भी रावण गुणी है । लक्ष्मण को वे आरम्भ में ही समझाते हुए कहते हैं - वह ब्रह्मा का प्रपौत्र है । रावण की अधार्मिक प्रवृत्ति का उल्लेख करने पर राम लक्ष्मण से कहते हैं -- 'कामं शत्रुरिति वध्य: स्यात् । न पुनरतिवीर्यमप्रमेयतपसमप्राकृतं प्राकृतवदर्हसि व्यपदेष्टुम् ।' वह वध के योग्य तो है शत्रु होने के कारण, किन्तु अप्रमेय पराक्रम एवं तप से युक्त है, अत: असाधारण चरित्र तो वह है ही । राम रावण के पराक्रम से कितने अभिभूत हैं इसका अनुमान

---

1 म० वी० १। १८ 2 म० वी० २।३०

3 म० वी० २। ४५ 4 म० वी० ३६ ३।३

इसी से हो जाता है कि वे कहते हैं स्कन्द को पराजित करने वाले परशुराम के अतिरिक्त उससे बड़ा पराक्रमी दूसरा कोई नहीं है[1]। रावण के प्रति राम के हृदय में यह सम्मान- यह शत्रु सम्मान, नायक के चरित्र को- चरित्र के औदात्य को द्विगुणित करता है और दूसरी ओर इसके माध्यम से राम के वीरोचित गुणों के प्रकर्ष का दिग्दर्शन भी कराता है।

राम एवं वालि का प्रसंग 'महावीरचरितम्' में व्यापकरूप से उठाया गया है। वालि को राम के मार्ग में बाधक एवं रामवध की योजना के नायक रूप में उसे नियुक्त किया गया है। राम द्वारा वालि जैसे महावीर के दर्शन का उत्साह प्रतिस्पर्धी के प्रति उनके वीरोचित व्यवहार का परिचायक है। स्थान-स्थान पर नाटकीय-अनाटकीय ढंग से राम के चरित्र की उनके प्रतिस्पर्धी चरित्रों से तुलना की प्रक्रिया चलती रहती है[2]। राम प्रकट रूप में मात्र-प्रदर्शन के लिए ही वालि के प्रशंसक नहीं हैं। वे स्वगत रूप में भी इसे स्वीकार करते हैं[3]। इसके विपरीत वालि भी राम की वीरता-पराक्रम से अभिभूत है। ऐसा ही परशुराम भी कहते हैं। वीर तो वही है कि शत्रु भी, प्रतिस्पर्धी भी उसकी प्रशंसा करे इसी मर्यादा का पालन सर्वत्र किया गया है। रामपुरुष श्रेष्ठ हैं जो अपने से श्रेष्ठ वीरों के चरित्रों को अपने चारित्रिक गुणों से जीतते रहते हैं। राम के इस गुण की सत्यापना तुरत ही होती है जब वालि राम से कहता है, 'राम तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो, किन्तु अब तुम युद्ध के लिए उन हाथों में शस्त्र ग्रहण करो जिनसे तुमने परशुराम को जीता है[4]' जिस पर राम की त्वरित प्रतिक्रिया वालि की वीरता को ध्वस्त करती हुई प्रतीत होती है। राम कहते हैं- 'आपको देखने की इच्छा आज पूरी हुई किन्तु जब तक आपके हाथ में शस्त्र न हो मैं शस्त्र कैसे ग्रहण कर सकता हूं[5]। राम की इस वीरता मिश्रित विनम्रता की तुलना में वालि की गर्वोक्ति देखने योग्य है :-- 'भो महाक्षत्रिय, किमित्यननुकम्पनीयाप्येव- मस्माननुकम्पसे' अर्थात् 'मैं दया का पात्र नहीं हूं फिर भी मुझ पर दया क्यों कर रहे हो। मेरी चारित्रिक वीरता को सकल लोक जानता है, शस्त्र द्वारा युद्ध करना

---

१ म० वी० १।३३   २ म० वी० ५।

३ राम (स्वगतम्) महावीर: स: । म० वी० पांचवा अंक

४ म० वी० ५। ४६   ५ वही ५।५०

मेरे लिए आवश्यक नहीं है और यदि आवश्यक ही है तो यह गिरि ही इन वानरों के लिए शस्त्र है।[1] यह गर्वोक्ति राम के ही चरित्र को उभारती है वस्तुत: यहीं से बालि के चरित्र का हास आरम्भ हो जाता है।

राम वीर होते हुए भी विनम्र हैं, यह भी उनकी धर्मवीरता है। प्रतिस्पर्धी चाहे रावण हो अथवा बालि अथवा परशुराम सभी उद्धत हैं, वीर हैं, महावीर हैं और विकत्थन है। राम में शिष्टता, सदाचार, विनम्रता के साथ वीरता, पराक्रम है और उस पर उन्हें कहीं भी गर्व नहीं है। युद्ध में- वाक्-युद्ध एवं शस्त्र-युद्ध दोनों में ही वे अपनी शिष्टता का परित्याग नहीं करते। अपने प्रतिस्पर्धियों की तुलना में उनकी यह महानता ही उनकी धर्मवीरता और युद्धवीरता को उन्नति के शिखर पर पहुंचाती है जहां से परशुराम, बालि एवं रावण के चरित्र लघु से लघुतम होते हुए प्रतीत होते हैं। भवभूति ने राम की दया, करुणा और मर्यादा का भलीभांति निर्वाह किया है। तारका के वध की बात उनके मन को उचित प्रतीत नहीं होती वे कहते हैं-- `भगवन् स्त्री खल्वियम्` उनकी यह दया वीरोचित है। नाटक का अङ्गीरस वीर होते हुए भी स्थान-स्थान पर करुणा और दया के अनेक स्थल हैं। वे उपयुक्त हैं राम के दयावीर रूप को उभारने के लिए। वे जटायु की मृत्यु से खिन्न होते हैं और सीता के शोक से भी अभिभूत होते हैं।

राम के धर्मवीर रूप के लिए वैसे तो सम्पूर्ण नाटक ही है किन्तु उनकी धर्मवीरता मन्थरा से मां कैकेयी का संवाद पाने के बाद भी देखने योग्य है। वे मां की इच्छा के लिए दशरथ को भी मर्यादा-वचन के पालन की बात का ध्यान दिलाते हैं। वे न तो विचलित होते हैं न ही विवाद करते हैं। वे मां की `शीघ्रवनगमन` की इच्छा को शीघ्र ही पूर्ण करना चाहते हैं। युधाजित से उनके सम्वादों में भी कर्तव्य-पालन की भावना प्रबल है। वस्तुत: पौराणिक दृष्टि से रामवनगमन का जो कारण है कवि ने उसे अस्वीकार करते हुए नवीनता लाने का प्रयास किया है। अत: यदि कवि की कल्पना के ताने बाने में रखकर ही देखा जाए तभी राम के उस रूप को

---

१ म० वी० ५। ५१

समझा जा सकता है । सब कुछ केवल ईश्वराधीन है या भाग्यवादी दृष्टिकोण से यह सब समझना सरल नहीं है । कवि भी सामाजिक को यह बताना चाहता है कि राम के चरित्र में भी वे दोष हैं जो एक मनुष्य में होते हैं । वे भी अपने प्रतिद्वन्द्वी के षड्यन्त्र से अपरिचित हैं, और रावण के मन्त्री माल्यवान् के षड्यन्त्र में फंस जाते हैं । इस व्याज से रावण की- उसके पक्ष की विजय का यह प्रसंग है ।

कान्तिहीन रावण की प्रतिद्वन्द्विता

नायक प्रतिनायक पक्ष के मध्य अन्तररेखा खींचते हुए माल्यवान् स्वयं कहता है, `राम तो स्वभावत: धर्म के रक्षक हैं और हम सब धर्म द्रोही हैं, अत: सहज प्रतिपक्षी के साथ हमारा विरोध है[१]।`इस विरोध के मूल में एक दूसरे कारण की ओर संकेत करते हुए वह कहता है - रावण द्वारा सीता की याचना करने पर भी उसकी कामना पूर्ण नहीं हुई, इसके विपरीत राम जैसे शत्रु को वह कन्या दे दी गयी, अत: शत्रु के सम्मान और यश का उत्कर्ष और रावण का अपमान और उस पर से सीता जैसे रत्न का हाथ से निकल जाना स्वभाव से क्रोधी रावण कैसे सह सकता है[२]।

प्रतिद्वन्द्वी रावण साक्षात् मंच पर छठे अङ्क में ही आता है और उस समय भी वह सीता के रूप पर मोहित एक कामुक से अधिक कुछ भी नहीं है । अपने दर्प-अहंकार के मद में चूर उसकी विकत्थना मृच्छकटिकम् के शकार की गर्वोक्तियों से पर्याप्त मिलती-जुलती है[३]।`महावीरचरितम्` में रावण का चरित्र किसी हारे हुए सेनापति का सा है ।

---

१ नि:सर्गेण स धर्मस्य गोप्ता धर्मद्रुहो वयम् ।। म० वी० २।७ ~~२ म०वी० २।६~~
२ म० वी० २।८
३ मृ० ८।१८,१६,३१, ३४, ३५ तथा देखें :

It is notable that in by far the greatest of the Rama plays, Bhavabhuti's masterpiece, Ravana does not appear. In the works where he does appear he more nearly resembles a hostile force in nature than a hostile force in society or an enemy of the people. Significantly, during the long centuries of decline in Hindu stage Ravana became in popular presentations a god to be placated or even a half-humorous figure. '

- CDI Page 83

जिसके पास अपने प्रतिद्वन्द्वी से निपटने के लिए कुछ भी नहीं है सिवा गर्वोक्तियों के आत्मश्लाघा के । मन्दोदरी द्वारा रिपुपक्षाभियोग की बात उठाना, स्त्री द्वारा पति को युद्ध के प्रति प्रेरित करना, किसी वीर और स्वाभिमानी के अनुरूप नहीं है परन्तु रावण को यह अपमानजनक नहीं प्रतीत होता । वह तो कहता है - कथं रिपु: ? (कथं) तत्पक्ष: (कथं) अभियोग: ? अर्थात् माल्यवान् की चिन्ता व्यर्थ है,शूर्पणखा का प्रयास निरर्थक है ऐसा है रावण, जो शक्ति के मद में अपने प्रतिद्वन्द्वी की शक्ति का अनुमान नहीं कर पा रहा है । मन्दोदरी द्वारा बार-बार उत्तेजित करने पर भी उसमें उत्साह उदित नहीं होता अतएव उसकी विकत्थना मात्र गर्वोक्तियां हैं उनमें वीर रस का परिपाक नहीं हो पाता है ।

इतना ही नहीं राम की वानर सेना जब समुद्र को लांघ कर लंका में प्रविष्ट हो चुकी है तब भी कामुक रावण अशोक वन के समक्ष मन्दोदरी को पार्श्व में बिठाकर अपनी शक्ति का व्याख्यान करता नहीं थकता तभी तो सेनापति प्रहस्त भी दुखी है `कथं अद्यापि अनभिज्ञ एव देव:`। यह रावण की निश्चिन्तता किंवा आलस्य की दिशा में भी संकेत है । इसी प्रकार अंगद द्वारा राम का सन्देश पाकर भी वह अपने स्थान से नहीं उठता । सेनापति प्रहस्त को वहीं से आदेश देता है कि राक्षसगण जाकर राम के वानरों को खण्ड-खण्ड करदें । युद्ध में राक्षसों के पुन: विनाश की नेपथ्य-सूचना के बाद ही वह मन्दोदरी को अन्त:पुर में भेजकर वहां से उठता है । इसके बाद रावण पुन: मंच पर नहीं आता और उसकी युद्ध-वीरता को वर्णन द्वारा ही,मातलि-इन्द्र एवं चित्ररथ के वार्तालाप के माध्यम से बताया गया है । तात्पर्य यह कि रावण के चरित्र में न तो उत्साह है न ही औद्धत्य का विकास । वह पीला-पीला मृतप्राय है। भवभूति ने ऐसा क्यों किया कह पाना कठिन है । किन्तु ऐसा लगता है माल्यवान् के रूप में उन्होंने जिस नवीन चरित्र की कल्पना की है सारी राज्य चिन्ता उन्होंने उसी पर छोड़ दी है । रावण के इस रूप को देखकर एक शंका उठती है कि कहीं भवभूति ने रावण को `धीरोद्धत` प्रतिनायक के स्थान पर एक सचिवायत्त राजा के रूप में चित्रित करने का प्रयास तो नहीं किया है ? जिससे इसे धीरललित प्रतिनायक के रूप में प्रस्तुत किया जा सके । सत्य जो भी हो रावण का जो रूप होना चाहिए था वह बन नहीं सका है ।

राम के चरित्र के लिए रावण-चरित्र की उपादेयता को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि भवभूति ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुरूप राम को धर्म का गोप्ता और रावण को धर्म का उच्छेदक मानकर, राम के समक्ष उसे महाप्रमादी दिखा कर दोनों की तुलना की भावना का तिरस्कार किया है। वे रावण में ऐसा कुछ नहीं पाते कि उसे राम के समक्ष प्रस्तुत करें। इसीलिए वे उसे मंच पर, सामाजिक के समक्ष भी, प्रस्तुत करने में संकोच का अनुभव सा करते हैं। तात्पर्य यह कि रावण राम के चरित्र के विकास में प्रत्यक्षत: कोई योगदान नहीं करता और जो कुछ भी उसकी प्रतिद्वन्द्विता उभरती भी है वह उसके अन्य सहायकों- माल्यवान्, शूर्पणखा, बालि एवं परशुराम के माध्यम से ही उभरती है।

प्रतिनायक माल्यवान् और नायकोत्कर्ष

रावण के इस सन्निधायत स्वरूप के परिप्रेक्ष्य में माल्यवान् की भूमिका स्वत: महत्वपूर्ण हो उठती है। सीता की याचना से लेकर राम को लंका में प्रवेश के लिए बाध्य करने तक की योजना को माल्यवान् ने भलीभांति निभाया है। उसने एक सफल कूटनीतिज्ञ की भांति अपने स्वामी के लिए सब कुछ किया, फिर भी यदि रावण पराजित होता है तो माल्यवान् का क्या दोष -`यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्रदोष:`। इस रूप में देखा जाए तो `मुद्राराक्षस` के राक्षस की भांति यहां माल्यवान् ही मुख्य प्रतिनायक है जो रावण के लिए हर प्रकार के कार्य करता है। मारीच, सुबाहु एवं ताड़का के पराभव एवं संहार की सूचना से भी माल्यवान् विचलित नहीं होता, किन्तु राम की यह विजय उसके हृदय को शालती अवश्य है। शिवधनु का भंग, मुनि विश्वामित्र द्वारा प्रदत्त ब्रह्मास्त्रों की शक्ति, महर्षि अगस्त द्वारा माहेन्द्र धनुष का दान यह सब मिलकर राम की शक्ति को बढ़ाते हैं, इसे जानकर उसके मन में शंका अवश्य उत्पन्न होती है।[1] किन्तु एक विश्वास के साथ वह विशाखदत्त के राक्षस की तरह अपने कार्य में लग जाता है। उसे विश्वास है कि उसकी विजय होगी[2]। यही उसका साचिव्य है, उसकी निष्ठा है।

---

१ `एवं प्रायोभवति विकृतिं भिद्यमाने प्रतापे` म० वी० २। ४

२ तुलना करें :-- `प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलितविभवं स्वामिनं सेव्यमाना

--मुद्रा० ४।२१

माल्यवान् ही वह चरित्र है जो रावण की विजय के लिए सतत प्रयास करता है। इस निमित्त न तो रावण का स्वयं कोई प्रयास है न ही बालि का कोई महत्त्व है। राम को वश में करने की उसकी योजना के कारण राम के चरित्र को बल मिला है। क्योंकि राम की शक्ति से लोहा लेने के लिए ही तो माल्यवान् सारी व्यूहरचना करता है। माल्यवान् की इस व्यूह-रचना में परशुराम तथा बालि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी योजना के अङ्ग होते हुए भी दोनों इससे अपरिचित हैं। परशुराम को राम के विरुद्ध उत्तेजित करके वह कई लाभ उठाना चाहता है।

(क) राम का संहार,[1] (ख) अथवा दोनों का ही विनाश,[2] (ग) अन्यथा राम से पराजित हो, अस्त्रों का त्याग कर, परशुराम का वनगमन और भविष्य में राक्षसों की स्वतंत्रता के विरुद्ध परशुराम द्वारा शस्त्र उठाने की सम्भावना की समाप्ति जैसी कल्पना वे अपने पत्र में देते हैं।[3] यह उसकी रक्षात्मक नीति है। किन्तु परशुराम की पराजय के बाद माल्यवान् की कूटनीति आक्रामक हो जाती है। क्योंकि उसकी धारणा के अनुरूप ही इन्द्रादि देवता राम का यश गाने में चारणों का सा आचरण करने लग जाते हैं।[4]

उसकी इस आक्रामक नीति के अनेक भाग हैं :--

(क) शूर्पणखा को मन्थरा के रूप में अवधपुरी भेजकर सीता एवं लक्ष्मण सहित राम को वन में लाने की योजना, (ख) वन में लाकर सीता का हरण करवा कर (i) रावण को प्रसन्न करना (जोकि उसके सान्निध्य की विवशता है क्योंकि रावण उससे विरत नहीं हो सकता) तथा (ii) राम को निस्तेज करना, (ग) दण्डकारण्य में विराध की माया द्वारा राम की शक्ति को क्षीण करना, उन्हें हतोत्साहित करना (घ) राम

----

1 अन्यतर विजयेऽपि .... ततश्च नोऽभीष्टं स्यात्। म० वी० अंक 2

2 म० वी० 2।12

3 वही अंक 2 उपर्युक्त अंश

4 माल्यवान् ....तदैव रावण पराक्रान्तिनिभृततूर्या देवाः प्रशस्यैनमभि-ष्टुयुः। वही द्वितीय अंक

5 माल्यवान् - दृष्टस्त्वया त्रिलोकसामैकायनीभावः, यदिन्द्रादयः स्वतो वन्दित्वमुपागताः। वही चतुर्थ अंक

के साथ ही लक्ष्मण को भी नष्ट करने की योजना, जिससे निकट भविष्य में रघुवंशियों की शक्ति फिर न पनप सके । (च) इस प्रकार सुबाहु तथा ताड़का के वध एवं मारीच की पराजय का भी प्रतिशोध ले लेना[1]।

माल्यवान् साम, दाम, दण्ड, भेद सभी नीतियों पर गम्भीरता पूर्वक सोचकर अपनी योजनाएं बनाता है[2]। उसे यह भी आशा है कि सम्भव है सीता-हरण के बाद राम मृत्यु का वरण करें अथवा अपमानित होकर, निस्तेज होकर सन्धि करने की सोचें[3]। इस पर भी राम के हतोत्साहित न होने पर अथवा हतोत्साह न होने पर भी सन्धि न करने पर और युद्ध के लिए तत्पर हो जाने की स्थिति में अपने अन्तिम अस्त्र के रूप में वह बालि को रख छोड़ता है ।

उसकी योजना का एक सूत्र विभीषण भी है जो रावण का सहज-शत्रु है[4]। उसमें आभिगामिकता[5] का महान् गुण है । वह जनप्रिय भी है अतः रावण के लिए विभीषणरूपी कांटे को निकालना माल्यवान् की योजना का ही एक अंग है । खरदूषण को राम की क्रोधाग्नि में भस्म होने के लिए झोंक देने की योजना के पीछे माल्यवान् का मुख्य उद्देश्य विभीषण को शक्तिहीन करना है । क्योंकि खरदूषण दोनों ही विभीषण के कृपापात्र हैं । अतः विभीषण जब रावण द्वारा अपने प्रियजनों को नष्ट किया जाता हुआ देखेगा तो स्वयं ही वह रावण का साथ छोड़ देगा जिससे (i) जनता रावण के विरुद्ध भी नहीं होगी और (ii) विभीषण अपने मित्र सुग्रीव के समीप पहुंचकर बालि का कोप-भाजन बनकर मारा जाएगा ।

---

१ देखें : वही अंक ४

२ म० वी० ४।३,४ ३ वही ४।५ ४ म० वी० ४।७

५ कुलीनत्वं वयस्यत्वं दाक्षिण्यं प्रियकारिता ।
अविसंवादिता सत्यं वृद्धसेवा कृतज्ञता ॥
दैवसम्पन्नता बुद्धिरक्षुद्रपरिवारता ।
शक्यसामन्तता चैव तथैव दृढभक्तिता ॥
दीर्घदर्शित्वमुत्साहः शुचितास्थूललक्षता ।
विनीतता धार्मिकता गुणाः साध्वाभिगामिकाः ॥

--कामन्दकीय नीति शास्त्र

राम और बालि के मध्य युद्ध की उसकी योजना अन्तिम योजना है जिसमें राम को नष्ट हो जाना है। बालि के हाथों विभीषण और राम दोनों का नाश अनिवार्य है। विभीषण को रावण का राज्य छोड़ने के सम्बन्ध में उसकी मंत्रणा उसकी विचार शक्ति की सूक्ष्मता की परिचायक है। प्रकाश-प्रकटदण्ड, गुप्त-दण्ड, संरोधन एवं अपसारण प्रभृति कूटनीतिक मन्त्रों पर विचार करके ही, वह विभीषण को बाली के मुख में जाने को बाध्य करने की योजना बनाता है। क्योंकि वह जानता है, बालि से इन दोनों का ही बच पाना असम्भव है और यदि बालि भी राम को नष्ट नहीं कर पाया तो भी उसमें लंका महानगरी का ही भला है।

माल्यवान् की इस योजना के अनेक पक्ष हैं :--

(क) बालि द्वारा राम और विभीषण का विनाश, (ख) शत्रु के पक्ष से मिले हुए जनप्रिय विभीषण के नष्ट होने पर भी जनता के विद्रोह का न होना, (ग) सुग्रीव से मैत्री होने से राम सुग्रीव के साथ विभीषण की भी रक्षा करेंगे ही (घ) और यदि राम-बालि युद्ध में बालि मारा गया तो रावण की पराजय पर महानगरी लंका के उत्तराधिकारी के रूप में विभीषण की ही नियुक्ति निश्चित हो जाती है। अर्थात् लंका पर पुन: स्वजातीय राजा की नियुक्ति हो यह भी उसका अभीष्ट है। माल्यवान् की दूरदर्शिता ही है यह कि वह बालि और राम के युद्ध को ही निर्णायक मानता है। क्योंकि बालि जिसने रावण को अपनी बाहुपार्श्व में दबाकर सन्ध्या-पूजन किया वह रावण से अधिक शक्तिशाली तो है ही, यदि वह भी राम से पराजित हो जाता है तो रावण का पतन होना ही है। अत: वह रावण के बाद भी अपने किसी वंशज को ही अपनी नगरी पर अधिष्ठित देखना चाहता है। उसका मोह रावण से इतना ही है कि वह उस समय लंकाधीश है। अन्यथा वह एक देशभक्त अमात्य की भांति अपनी कूटनीतिक मंत्रणा पर विश्वास करने वाला चरित्र है।

माल्यवान् की इस सम्पूर्ण मंत्रणा का तत्त्व है राज्यसत्ता को अपने ही आधीन रखना। जिसके लिए वह खरदूषण और विराध, दनु, कबन्ध आदि के प्राणों की बलि चढ़ाने में नहीं हिचकिचाता यहां तक कि प्रकारान्तर से वह रावण और विभीषण में से भी एक की बलि चढ़ाने में संकोच नहीं करता और अन्त में वह अपनी इस योजना में सफल भी होता है।

वह राम का सफल प्रतिरोद्धा है। उसकी इन सारी योजनाओं का प्रमुख उद्देश्य राम का प्रतिरोध करना है और किसी भी रूप में अपने राज्य को राम के हाथों से बचाना है। उसकी नीति के सुरक्षा और आक्रमण दोनों ही पक्ष राम के चारों ओर केन्द्रित हैं। इससे राम का चरित्र स्वतः विकास पाता है। माल्यवान् द्वारा राम के मार्ग में अवरोध डालने से राम की गति स्वतः बढ़ती जाती है। उनका चरित्र उभरता जाता है। माल्यवान् की विशेषता यही है कि वह जिधर चाहता है राम को ले जाता है, और राम की विशेषता यह है कि वह उसके अभीष्ट मार्ग पर चलते हुए ही उसके नीतिपाशों को छिन्न-भिन्न करते हैं।

महावीरचरित में माल्यवान् के होने से राम के वीर रूप को उभारने में भरपूर सहायता मिली है। इतना ही नहीं राम के प्रत्येक आचरण को माल्यवान् के माध्यम से ही तर्क संगत बनाया गया है। राम व्यर्थ ही वीर नहीं हैं वे माल्यवान् और उसके द्वारा प्रयुक्त महावीर परशुराम[2] और महावीर बालि[3] जैसे प्रतिद्वन्द्वियों को को पराजित करने वाले महावीर हैं। रामवनवास, सीताहरण, बालिवध, विभीषण की मैत्री, यहां तक कि शिवधनु के भंग होने पर परशुराम के क्रोध को भी माल्यवान् की योजनाओं के माध्यम से तर्कसम्मत बनाकर भवभूति ने राम-परशुराम और बालि तीनों को ही महावीर रूप में प्रस्तुत किया है।

नायकोत्कर्ष के लिए जामदग्नि का प्रतिनायकत्व

दुर्वासा और परशुराम पौराणिक दृष्टि से क्रोध की साक्षात् मूर्ति हैं। महावीरचरितम् में भी परशुराम उग्रता, क्रोध और औद्धत्य के पर्याय हैं। वे क्षत्रियहन्ता तो हैं ही रावण भी उनसे पराजित हुआ है - वही रावण जो आगे चलकर राम का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी बनता है। राम की प्रतिद्वन्द्विता में आने वाले परशुराम में किसी वीर के उपयुक्त सभी गुण विद्यमान हैं - उनके पराक्रम से रावण और कार्तवीर्य दोनों ही पराजित हो चुके हैं। उन्होंने २१ बार क्षत्रियों का विनाश

---

१ म० वी० २। १६   २ म० वी० ५। १६

३ रामः (स्वगतम्) महावीर सः -- वही अंक पांच

किया है, वे क्रौंच पर्वत के उद्भेदक होने के कारण एवं स्कन्द की सेना को पराजित करने के कारण लोक विश्रुत हैं। अर्थात् परशुराम की कीर्ति गाथाएं लोक कथाओं की भांति सभी के मुख पर हैं। सीता के अन्त:पुर की सखियां भी इसे जानती हैं। अपने इन गुणों के कारण उनका चरित्र ऋग्वेद के महान् नायक इन्द्र के पर्याप्त निकट है[१]। परशुराम का यह रूप तो उनकी पौराणिक ख्याति पर आधारित है। प्रस्तुत रूपक में उनका चरित्र किस प्रकार का है यह देखना अधिक न्याय संगत होगा। वे विकत्थन हैं, वे उद्धत हैं, दर्प से संपृक्त हैं, वे वीर हैं, अर्थात् राम की वीरता के प्रशंसक होते हुए भी उसके संहार में समर्पित हैं। गुरुभक्ति चाहे शिवधनु के सन्दर्भ में हो अथवा वशिष्ठ के प्रति,उससे वे ओत-प्रोत हैं। इस सन्दर्भ में सबसे बड़ी विशेषता है उत्साहपूर्वक उनका रंगमंच पर प्रवेश और उत्साहपूर्वक ही निर्गमन। वे राम को जिस उत्साह के साथ निगृहीत करने आते हैं- राम से स्वयं निगृहीत होकर वे राम को अपना धनुष भी देने में संकोच नहीं करते, यह उनकी वीरता और उनके प्रायश्चित्त के अनुकूल है।

राम की वीरता को, धीरता को, नम्रता को, दर्शाने के लिए उनके प्रतिद्वन्द्वी परशुराम के चरित्र में भी ऐसे ही गुणों को दिखाना आवश्यक है। किन्तु दोनों की वीरता में अन्तर है, एक में गर्व का मिश्रण है तो दूसरे में शिष्टता और विनम्रता का। एक का उत्साह धर्ममूलक है तो दूसरे का क्रोधमूलक। राम में धैर्य और उदारता, औदात्य और गुरुभक्ति कूट-कूट कर भरी है तो परशुराम में शिव और वशिष्ठ के प्रति व्यक्त श्रद्धा उनके गर्व के साथ प्रतिष्ठित है। फिर भी दोनों के चरित्रों की तुलना करते हुए परशुराम अधिक वीर, दृढ़, परिपक्व और सशक्त लगते हैं। नायक के समक्ष प्रतिद्वन्द्वी के ऐसे चरित्र का विकास ही नाटककार की सफलता है। क्योंकि नायक से शक्तिशाली लगने वाले प्रतिनायक का दमन नायक को उस शक्ति रेखा से ऊपर प्रतिष्ठित करता है। यह दो महावीरों के बीच प्रतिद्वन्द्विता का प्रसंग है और इस रूप में महावीरचरितम् का नामकरण उचित है।

वशिष्ठ, विश्वामित्र, शतानन्द, जनक एवं दशरथ सभी से उनका विवाद होता है जिसमें स्पष्टरूप से वे वशिष्ठ की विद्वता के प्रति किसी सीमा तक

---

१ तुलना करें : प्रथम अध्याय में दिए गए इन्द्र के चरित्र से।

नतमस्तक है, अवशिष्ट सभी चरित्र उनके लिए अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, कम से कम शतानन्द, जनक एवं दशरथ तो उनकी दृष्टि में तुच्छ प्राणी ही हैं।

परशुराम का सही मूल्यांकन वसिष्ठ ही करते हैं। वे सोचते हैं - 'गुणों से महान् होते हुए भी स्वभाव से यह असुर है और सभी प्रकार के उत्कर्ष के कारण इसका दर्प भी बढ़ गया है[1]। जामदग्न्य के क्रोध के मूल में जो जाति-गत घृणा है[2] वह उनका कलंक है। पर अपने को क्षत्रियहन्ता कहलाने में उन्हें गर्व का अनुभव होता है[3]। उनके गर्व से विश्वामित्र भी रोमांचित हो उठते हैं[4]। राम को उनकी गर्व घोषणाओं में अत्युक्ति लगती है[5]। (ध्यान देने की बात यह है कि राम हों अथवा वसिष्ठ अथवा विश्वामित्र सभी के कान उनकी गर्वोक्तियों से पक गए हैं फिर भी सभी उनसे भयभीत हैं, अत: इस पर उनकी प्रतिक्रियाएं स्वगत कथनों के रूप में ही अभिव्यक्ति पाती हैं।)

सरोष में उनकी विकत्थनाएं[6] हों अथवा गर्व[7] अथवा क्रोध[8] अथवा वीरता[9] सभी का पर्यवसान राम की विजय में और परशुराम के दर्प के विखण्डन में होता है[10]। अन्त में वे अपने उद्दण्ड और उद्धत स्वभाव के कारण, वसिष्ठ विश्वामित्र प्रभृति महर्षियों को अपमानित करने के कारण तथा जनक जैसे राजर्षि तथा दशरथ जैसे लोक-विश्रुत राजा को तिरस्कृत करने के कारण, आत्मग्लानि का अनुभव करते हुए इस पाप की भावना का प्रायश्चित करते हैं[11]।

----

१ वसिष्ठ (स्वगतम्) कामं गुणैर्महानेष प्रकृत्या पुनरासुर: ।
उत्कर्षात्सर्वतोवृत्ते: स्वाकार हि दृप्यति ।।३।१२

२ जनक के प्रति --'अक्षत्र एष: । तथापि क्षात्रिय इति शिर:शूलमुत्कोपयति ।
--म०वी० द्वितीय अंक,पृ० ६७

३ वही २।२६,४८, ३।१४,२४,२८, ३७, ४१, ४४, ४८

४ विश्वामित्र:(स्वगतम्) संयुक्तं हि माहात्म्यमुड्डगिरन्त्य: पदे पदे ।
अपि मर्माविधो वाच: सत्य रोमाञ्चयन्ति माम् ।।म०वी०३।१०

५ राम: (स्वगतम्) अहो गर्वगौरवस्यामोघ: ।

६ म० वी० २।२८, २।३३, ३४, ३७, ४८ ७ वही ३।१४,२४,३७,२।४७

८ वही पृ० १०१,११८,२।४६,४६ ३।२८, २६, ३२, ४०, ४१

९ वही २।३२, ३७, ४६, ३।३, ६

१० जामदग्न्य : - अपराद्ध किं त्वया । ननूपाकृतम् ।
पुण्या ब्राह्मण-जाति;............. वयमिय:।। ४।२२
तथा अनतिक्रमणीयो रामनिदेश: ।
सरश्च राम: सौम्यत्वादखण्डखण्ड शासन: ।
यस्य प्रतिष्ठित चैत्र जामदग्न्येऽपि शासनम् ।। ४।२४

११ वही ४।२५

अपने उपर्युक्त गुणों के आधार पर परशुराम एक सशक्त प्रतिद्वन्द्वी हैं। उनमें माल्यवान् द्वारा अपने कार्य के लिए अपेक्षित व्यक्तित्व के अनुरूप सभी कुछ है। फिर भी वे माल्यवान के षड्यन्त्र से अपरिचित हैं और इस प्रकार माल्यवान् के अस्त्र के रूप में, उन्हें राम की प्रतिद्वन्द्विता में प्रस्तुत करते हुए भवभूति भी उन्हें जामदग्नि की ही इस उक्ति के माध्यम से प्रतिनायक ही मानते हैं :-

राम: कर्मभिरद्भुतै: शिशुरपि स्यातस्ततोभार्गव:
कस्मात्प्राप्य तिरस्क्रियामसह नोऽप्यस्थादिति प्रस्तुते।
को विषाद् गुरुगौरवादिति भवेज्ज्ञातापि वक्तापुन:
नत्वेवास्ति तथास्थितस्य सुलभद्वैधं हि वीरव्रतम् ॥ --म०वी० ३।३

अर्थात् "महान् महत्स्वेव करोति विक्रमम्" राम शिशु होते हुए भी वीर हैं इसीलिए परशुराम उनसे युद्ध करना चाहते हैं, यही वीरों का व्रत है। किन्तु उनका यह व्रत पूर्ण नहीं हो पाता।

अन्त में, वे राम से पराजित होकर प्रायश्चित करते हैं और वह भी उत्साहपूर्वक। यही तो संस्कृत साहित्य के प्रतिनायकों का महनीय गुण है। अन्त में अपने धनुष का दान[1] करते समय वे उत्साहपूर्वक कहते हैं कि इसका उपयोग ऋषियों को सताने वाले राक्षसों के विनाश के लिए हो[2]। यह कथन माल्यवान् की कूटनीति की असफलता के कारण राम के पक्ष में है। यह राम की द्विगुणित विजय है। माल्यवान् अपने अनुचरों और बंधुओं की रक्षा के लिए जिस अस्त्र का प्रयोग करता है वह खण्डित हो जाता है। माल्यवान् निर्बल पड़ जाता है, रावण का पक्ष दुर्बल पड़ जाता है और राम सशक्त हो जाते हैं। परन्तु माल्यवान् ने उसका भी उपाय सोच लिया है[3]। यह उपाय है राम का वनवास, उन्हें दण्डकारण्य में खींच लाना, सीताहरण द्वारा उन्हें निस्तेज बनाकर विराध, दनु, कबन्ध की माया के माध्यम से राम को भयभीत करना और अन्त में बालि-क्रोध-बालि के मुख में उन्हें झोंक देना[4]। अत: राम के एक अन्य प्रतिद्वन्द्वी की अवतारणा होती है। वह प्रतिद्वन्द्वी है एक अन्य वीर महावीर बालि।

---

१ वही ३। ३७ २ वही ३। ३८

३ माल्यवान् :- तत्रापि शक्तित: प्रतिविधास्यते। म०वी० द्वितीय अंक, पृ० ५६

४ देखें : वही अंक - ४ का मिश्र विष्कम्भ।

महावीर बालि के प्रतिनायकत्व का नायकोत्कर्ष हेतु उपयोग

बालि के प्रताप को समझने के लिए आवश्यक है कि चतुर्थ अंक के विष्कम्भक को देखा जाए जहाँ माल्यवान् अपनी कूटनीति की तार्किक व्याख्या करता है और शूर्पणखा को समझाता है कि बालि के हाथों उसके दो कार्य सिद्ध हो सकते हैं-(क) रावण का परित्याग करके अपने बालसखा सुग्रीव के पास जाकर विभीषण बालि के हाथों मारा जाएगा[1]। (ख) परशुराम की क्रोधाग्नि में भस्म होने से बचे हुए राम को दण्डकारण्य में लाकर सीताहरण द्वारा निस्तेज करके बालि के हाथों उन्हें मृत्यु का ग्रास बना दिया जाएगा[2]। अर्थात् माल्यवान् के पास बालि ही वह अमोघ-अस्त्र है जिससे राम और उनके पक्ष को समाप्त हो जाना है।

शूर्पणखा के यह पूछने पर कि यदि राम ने परशुराम की तरह ही बालि को भी पराजित कर दिया तो क्या होगा ? इस पर माल्यवान् कहता है, "जिसने बालि को मार दिया उसके हाथों हम सबका विनाश अवश्यम्भावी है। ऐसी स्थिति में हमारे कुल का दीपक विभीषण ही जीवित रहे और महात्माराम उसे ही राज्य दें यही अभीष्ट होगा।" इस कथन में जहाँ रावण और बालि की तुलना है वहीं बालि का रावण से अधिक शक्तिशाली होना सिद्ध होता है। इसके साथ ही प्रतिनायक माल्यवान् का आत्मसमर्पण भी इस कथन से ध्वनित होता है।

श्रमणा की जिज्ञासा की शान्ति के लिए श्रमणा बालि की जिस वीरता का व्याख्यान करती है[3], वह उसका पौराणिक रूप है। उसकी वास्तविकता को परखने को राम स्वयं व्याकुल हैं[4]। यह राम की चारित्रिक विशेषता है। फिर भी राम की वीरता का चित्र फलक बनाते हुए भवभूति ने बालि की तुलना बड़ी नाटकीयता के साथ की है। श्रमणा कहती है "बाली ने जिस दुन्दुभिराक्षस की

---

1 वही, अंक चार, पृ० १५४
2 वही, पृ० १४६, ४।६
3 म० वी० ५। ३७
4 वही ५। ३६

की अस्थियों के अम्बार को जो हाथ लगाकर हटाया उसे राम ने मात्र अंगूठे से हटा दिया[1]। बालि के मंच पर प्रवेश में नाटकीयता है, वह नेपथ्य में माल्यवान् को सम्बोधित करके कहता है, 'मातामह तुम जाओ मैं तुम्हारे आग्रह पर राम जैसे साधु का भी वध करूंगा।'

बालि के चरित्र की यह विशेषता है कि वह अपने मित्र रावण के मातामह को अपना मातामह मानकर उसकी आज्ञा पर राम को साधु मानते हुए भी उन्हें मारने की प्रतिज्ञा करता है। वह माल्यवान् की कूटनीतिक चालों से अपरिचित है अतएव मित्र के गुरु होने के कारण उसे अपना भी गुरु कहकर उसकी अभ्यर्थना करता है।

अदूरदर्शी होते हुए भी वह वीर है, उद्धत है, विकत्थन है और राम का प्रतिद्वन्द्वी है। वह ब्रह्माण्ड को एक झाड़ी, पर्वतों को कभी ढोकों का आडम्बर तथा सूर्य, चन्द्र को पुष्प गुच्छ एवं तारामण्डल को बिखरे हुए फूलों के रूप में मानता है,[2] उसकी यह विकत्थना सार्थक है। वह माल्यवान् के आग्रह को अनुचित मानकर भी अपनी विवशता की घोषणा करता है। जिसमें माल्यवान् की सार्थक योजना एवं उसके कठिन श्रम का परिचय प्राप्त होता है[3]।

उसकी वीरता का परिचय पग-पग पर मिलता है। राम स्वयं उसे मन ही मन महावीर स्वीकार करते हैं[4]। परन्तु नाटकीय परिवेश में अभिनय के परिप्रेक्ष्य में बालि को अल्प अवकाश ही मिला है। राम-बालि के संक्षिप्त से विवाद-किंवा वीरोचित प्रशस्तियों के उपरान्त दोनों नेपथ्य में चले जाते हैं और तुरन्त ही उनके बीच युद्ध और राम द्वारा बालि को परास्त कर देने की सूचना मिल जाती है। दो महावीरों के मध्य निर्णायक युद्ध का इतनी शीघ्र समाप्त हो जाना न तो नाटकीय ही है न ही युक्तिसंगत। इतना ही नहीं माल्यवान् की सुनियोजित कूटनीति इतनी शीघ्र ध्वस्त हो जाएगी यह अनुमान भी नहीं हो सकता।

---

१ वही ५। ३६ २ वही ५। ४५

३ देखें : अंक पांच के श्लोक ४५ के उपरान्त बालि का कथन।

४ राम: — (स्वगतम्) महावीर: स:। अंक ५

बालि के चरित्र में औद्धत्य पर्याप्त सीमित है, वह व्यसनी भी नहीं है और महावीर चरित की सीमाओं में वह धीर गम्भीर और औदात्य से युक्त है। वह राम को साधु कहता है किन्तु अपने पौराणिक स्वरूप में वह राम से अधिक साधु है। उसकी किंचित् विकत्थना को छोड़ दें तो वह नितान्त सभ्य, सच्चा मित्र, सुशील एवं सच्चरित्र है। रावण का साथ छोड़ने पर भी विभीषण से वह अप्रसन्न नहीं है। अपने पुत्र अंगद को युवराज और सुग्रीव को राज्य देकर ही वह सन्तुष्ट नहीं है। वह सुग्रीव, विभीषण और अंगद को मैत्री की परिभाषा समझाता है तथा राम की मैत्री का भेद समझाकर वह उनसे (सुग्रीव,अंगद तथा विभीषण से) समर्पण की भावना से राम की सहायता का वचन लेता है। तात्पर्य यह कि यद्यपि उसकी वीरता का, उसकी सही प्रतिद्वन्द्विता का वास्तविक स्वरूप नहीं उभर सका, जो भवभूति की लेखनी के लेखन में शैथिल्य का प्रमाण है फिर भी उसके माध्यम से राम के चरित्र का विकास हुआ है।

प्रतिनायिका शूर्पणखा

रावण के अन्य सहायकों में शूर्पणखा ही एक ऐसा चरित्र है जो उपर्युक्त प्रतिनायकों के अतिरिक्त दृष्टि-सापेक्ष है। वह माल्यवान् की शिष्या है और उसकी सारी योजनाओं से परिचित है। उसका पौराणिक रूप यहाँ नहीं मिलता वरन् वह रावण की सहायक होते हुए भी माल्यवान् के प्रति अधिक समर्पित है। खरदूषण को बलि का बकरा बनाने की योजना से किंचित् व्याकुल होकर भी वह माल्यवान् से कुछ नहीं कहती क्योंकि वह जानती है कि माल्यवान् से अधिक सशक्त कूटनीतिज्ञ रावण के पक्ष में कोई नहीं है और माल्यवान् के शस्त्र डाल देने पर तो रावण को कोई बचा ही नहीं सकता।

भवभूति की प्रतिनायक योजना

भवभूति ने `महावीरचरितम्` की प्रस्तावना में ही इस रूपक में `महापुरुषसंरम्भ:` की योजना की प्रतिज्ञा की है। तदनुरूप उन्होंने जामदग्न्य, बालि एवं रावण के साथ ही माल्यवान् की कूटनीति को इस ढंग से नियोजित किया है नायक राम का पौराणिक धीरोदात्त- धर्मवीर रूप तो उभरता ही है उनका युद्धवीर

रूप भी उत्कर्ष को प्राप्त करता है । महावीरचरितम् में राम, रावण, जामदग्नि एवं बालि सभी महावीर हैं यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है । रावण का स्वरूप उसके पौराणिक एवं वर्णनात्मक आवरणों के कारण सीमित हो गया है किन्तु जामदग्नि एवं बालि के माध्यम से नाटककार ने नायकोत्कर्ष का अभीष्ट फल प्राप्त किया है । परशुराम, जिन्होंने रावण को जीता है उन्हें पराजित कर राम प्रथम विजय-स्तम्भ की प्रतिष्ठित करते हैं इसीलिए विश्वामित्र राजा दशरथ से कहते हैं कि जिस राम ने रावणविजयी जामदग्नि को पराजित कर दिया है उस राम ने सब कुछ जीत लिया ।

किन्तु भवभूति राम की इस जय को उनके उत्कर्ष के लिए पर्याप्त नहीं मानते और तब उनकी प्रतिद्वन्द्विता बालि से होती है । बालि भी महावीर है और उसने भी रावण को वाम पार्श्व भाग में दबाकर संध्यावन्दनादि सम्पादित किया था । ऐसे महावीर को भी पराजित कर राम दूसरे कीर्तिस्तम्भ की प्रतिष्ठा करते हैं । इन दोनों के पराजित हो जाने से मुख्य प्रतिनायक, जोकि इन सभी से राम की प्रतिद्वन्द्विताओं की योजना का कर्णधार है वह माल्यवान् स्वत: पराभूत हो जाता है । उसकी सारी कूटनीति ध्वस्त हो जाती है ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसका मुख्य उद्देश्य रावण की रक्षा अवश्य है किन्तु दूसरी ओर वह लंका पर किसी स्वजातीय को ही राजा बनाये रखना चाहता है । वह तदर्थ विभीषण को वह रामपक्ष में ही भेजकर एक ही बाण से दो लक्ष्य भेदना चाहता है जिसमें एक लक्ष्य रावण की रक्षा में वह असफल होकर भी विभीषण को राजा बनवाकर दूसरा लक्ष्य प्राप्त कर लेता है ।

जैसाकि कहा जा चुका है राम का लक्ष्य धर्म की रक्षा है तदर्थ रावण-वध और प्रकारान्तर से सीता की प्राप्ति पर उनका लक्ष्य पूर्ण हो जाता है । इस लक्ष्य की प्राप्ति को, राम के चरित्र की महत्ता को, उनके चारित्रिक उत्कर्ष को प्रदर्शित करने के लिए जो साधन भवभूति ने चुने हैं, उन्होंने उनके भी उत्कर्ष के माध्यम से ही नायक का उत्कर्ष दिखाया है यही उनकी सफलता है । शृङ्गार-प्रकाश की दृष्टि से देखा जाए तो महावीरचरितम् के प्रतिनायक जामदग्नि को धीरोद्धत प्रतिनायक कहा जाएगा । उधर रावण का स्वरूप सविकायत होने से लगभग धीरललित है, सचिव माल्यवान् धीरशान्त प्रतिनायक हैं और महावीर बालि का चरित्र धीरोदात्त-प्रतिनायक के रूप में माना जा सकता है ।

जयदेव कृत प्रसन्नराघवम्

जयदेव कवि के इस उत्तरकालीन नाटक की कथावस्तु राम की पौराणिक कथा पर ही आधारित है। किन्तु नाटक में काव्यत्व की प्रधानता के कारण उसका अभिनय पक्ष क्षीण हुआ है। कवि ने रावण-बाणासुर राम लक्ष्मण और परशुराम के संवादों के माध्यम से अभिनय पक्ष को उठाने का असफल प्रयास किया है। जैसाकि 'प्रसन्नराघवम्' इस नाम से ही स्पष्ट है कवि रामकथा के कोमलपक्ष से अभिभूत है किन्तु उसने सम्पूर्ण कथानक को लेकर अपनी सफलता पर स्वयं ही प्रश्न चिह्न लगा दिया है। सूत्रधार के माध्यम से कवि नाटककार स्वयं कहता है :--

चन्द्रे च राम चन्द्रे च नारीणां च मृगच्छले।
नीलोत्पलसुहृत्कान्ती कस्य नामोद्वले मनः। -- प्र० रा० १।१०

तात्पर्य यह कि नाटककार का मन काव्यरस के प्रति अधिक आकृष्ट है। नाटकीयता, नाट्यरस अथवा नाटक के अभिनय पक्ष की ओर उसका ध्यान अपेक्षाकृत कम है।

कथावस्तु

नाटक का आरम्भ अवश्य नाटकीय ढंग से होता है किन्तु उसकी अनाटकीयता एवं काव्यतत्व की प्रधानता स्थान स्थान पर मुखर हो उठती है। सीता के प्रति लालायित रावण धनुष उठाकर अथवा बलात् सीता को ले जाने के लिए आता है। अपने बन्दीजन का भरोसा करके वह सीता का अपहरण करना चाहता है तभी बाणासुर का प्रवेश होता है और दोनों में शक्ति परीक्षण के लिए धनुष ही मापदण्ड बनता है। दोनों के बीच वादविवाद होता है। बाणासुर तो बड़े अनाटकीय ढंग से चला जाता है किन्तु रावण, मारीच का आक्रन्दन सुनकर जाता है। मारीच के आक्रन्दन द्वारा नाटककार ने कथानक को विश्वामित्र के आश्रम की ओर मोड़ा है। जहां राम ने सुबाहु और ताड़का का वध कर दिया है और मारीच को प्रताड़ित कर सागर की ओर प्रक्षिप्त कर दिया है। राम यह सब करने के बाद विश्वामित्र के साथ जनकपुरी पहुंचते हैं।

राम एक तरुण नायक हैं जो प्रकृति की मधुरिमा से आप्यायित हैं और उसी समय राजकुमारी सीता को देखकर वे कौतुकाधीन उसके अंगों की कोमलता, अधरों और दन्तावली की कमनीयता, कपोलों की मधुरता में रम जाते हैं । यहां वे एक धीरललित नायक की भांति सीता के अंगों प्रत्यंगों की सूक्ष्म विवेचना करते हुए देखे जाते हैं । सीता की वय:सन्धि के ज्ञाता राम का यह रूप दुष्यन्त और उदयन का स्मरण करा देता है । सीता भी राम को देखकर, उनके रूप पर मोहित हो उठती हैं । अन्तर इतना ही है कि उनके बीच मिलन नहीं होता है यद्यपि सीता को माताओं द्वारा बुलाए जाने पर सीता[1] एवं सीता के चले जाने पर राम[2] इन दोनों के ही हृदयों की पीड़ा उनकी चित्तवृत्ति का परिचय देती है । नाटककार राम के ऐसे ही रूप को उभारना चाहता है जो उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप है ।

तृतीय अंक में विश्वामित्र, जनक एवं शतानन्द के परस्पर प्रशंसात्मक संवादों के मध्य और राम के संवादों में भी एकबार पुन: राम का कोमल, निर्मल, शालीन और शिष्ट रूप ही उभरता है । इतना ही नहीं धनुर्भङ्ग द्वारा सीता-विवाह की वार्ता और राम द्वारा धनुर्भङ्ग करने का विस्मयकारी कार्य बड़े अनाटकीय ढंग से इसी अंक में सम्पादित हो जाता है । विश्वामित्र यहीं राम के साथ उर्मिला, माण्डवी और श्रुतकीर्ति के परिणय पर भी जनक की सामान्य-सम्मति प्राप्त कर लेते हैं । यह सब जितना अनाटकीय है उतना ही काव्यात्मक अथवा प्रशस्तिमूलक । यही कारण है नाटक में राम के तीन तीन विरोधी हैं किन्तु राम का साक्षात्कार केवल जामदग्न्य परशुराम से ही होता है।

चतुर्थ अंक में पुन: राम की कोमलता ही मुखर है उनको क्रोध तो तब आता है जब परशुराम विश्वामित्र के प्रति कठोर भाषण करते हैं। राम की विनम्रता को उभारने के लिए नाटककार ने लक्ष्मण के चरित्र का पर्याप्त उपयोग किया है । वे परशुराम की क्रोधाग्नि में अपने व्यंग्यों के माध्यम से घृताहुति डालते हैं और राम उन

----

१ सीता -- कथं मुमुग्धा ममाम्बा: । प्रसन्न॰ अङ्क १

२ राम -- कथं नयनपथमतिक्रान्तेव कान्ता । वही

दोनों के कलह को रोकते हैं अपनी शालीनता के माध्यम से ।

परशुराम को पराजित करने के बाद रामकथा के शेष अंश (राम वनगमन के कारण दशरथ, भरत तथा माताओं आदि की दशा के वर्णन) से लेकर बालि वध तक) गंगा, यमुना, सरयू, हंस, गोदावरी, तुङ्गभद्रा एवं सागर के मध्य, वार्तालाप के रूप में वर्णनात्मक होकर रह गए हैं । जिससे सम्पूर्ण पांचवा अंक ऊब जाता है ।

तदुपरान्त छठे अंक में सीता-वियोगी राम, चन्द्रमा, चकोर, नदी, चक्रवाक, कलहंस प्रभृति प्राकृतिक उद्दीपन विभावों में सीता के अंगों और गुणों के दर्शन कर विक्षिप्त से हो उठते हैं । यहां यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि छठे अंक का यह अंश भी अनाटकीय है । क्योंकि लक्ष्मण द्वारा राम का मन बहलाने का ढंग उचित नहीं प्रतीत होता । इसके उपरान्त चम्पकापीड़ के माध्यम से इसी अंक में एक अन्य नाटक आरम्भ हो जाता है जिसके द्वारा त्रिजटा की सीताभक्ति, रावण की सीता-भुरक्ति, सीता की रामभक्ति और राम की विक्षिप्तता का चित्र खींचते हुए रामकथा के शेष अंश हनुमान द्वारा लंका में सीता से मिलना, सीता समाश्वासन, अक्षकुमार का वध तथा लंकादहन करके सीता का सन्देश लेकर हनुमान के रामदल में लौटने तक की कथा को निबद्ध किया गया है ।

इसके उपरान्त सातवें और अन्तिम अंक में एक अन्य नाटकीय चित्र के माध्यम से कथा को आगे बढ़ाया गया है । यह उपसंहृति रावण द्वारा देखे जा रहे चित्र में निहित है । जिसकी व्याख्या प्रहस्त कर रहा है और इसके द्वारा वह रावण को उत्तेजित करता है । फिर भी उसकी उत्तेजना के विशेष स्वरूप ग्रहण करने के पूर्व ही सारी कथा नेपथ्य में कही जाती है । तदनन्तर सारा युद्ध वृत्तान्त रावण वध एवं सीता की अग्नि परीक्षा की सूचना, विद्याधर एवं विद्याधरी द्वारा दी जाती है और अन्त में राम लक्ष्मण, विभीषण एवं सुग्रीव मंच पर आते हैं जहां पुनः काव्यात्मक ढंग से नाटक समाप्त होता है ।

<u>आलोचना</u>

गंगा प्रभृति नदियों का मानवीकरण, चम्पकापीड़ का इन्द्रजाल, विद्याधर एवं विद्याधरी द्वारा युद्ध का वर्णन यह सभी स्थल नाटक के स्वरूप को

ह्रासोन्मुख बनाते हैं । राम के चरित्र में न तो औदात्य ही उभरा है न ही वीरता । इसके विपरीत कवि प्रतिज्ञा -- 'चन्द्रे च रामचन्द्रे च ' अवश्य पूर्ण होती परिलक्षित होती है जिसके कारण प्रसन्नराघवम् में जयदेव की काव्यप्रतिभा के दर्शन अवश्य होते हैं । प्रतिज्ञा के अनुसार रसों की अवतारणा और वक्रोक्तियों के प्रति आग्रह को भी उन्होंने निभाया है[1] यही कारण है प्रसन्नराघव एक नाटक कृति होते हुए भी अभिनेय दृष्टि से एक अधूरी कृति है । उन्होंने तो नाटक को भी कविता का ही पर्याय बना डाला है और चमत्कार के लिए जहां कोमलकान्त पदावली का प्रयोग किया है वहीं नाटक में ही उपरूपक की कल्पना, इन्द्रजाल, लम्बे-लम्बे सम्वादों तथा वर्णन की बहुलता के माध्यम से वाग्वैदग्ध्य के माध्यम से कविता कामिनी का शृङ्गार किया किया है । वे स्वयं कहते हैं, 'केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय' अतः वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि वे कोई काव्य लिख रहे हैं नाटक नहीं । यह काव्य का विलास भले ही रहा हो किन्तु अभिनय की दृष्टि से यह नाटक के ह्रास का लक्षण है । कीथ महोदय ने इसी कारण उसमें नाट्य की अवनति के लक्षण के दर्शन किए हैं[2]

राम का नायकत्व

राम का रावण से साक्षात्कार भले ही न हुआ हो किन्तु सीता से विवाह को उत्सुक दो प्रत्याशियों के मध्य प्रतिद्वन्द्विता की योजना द्वारा कवि ने आरम्भ से ही कौतुक का, चमत्कार का आयोजन कर दिखाया है । इन दोनों की प्रतिद्वन्द्विता के अतिरिक्त राम और परशुराम के मध्य भी प्रतिद्वन्द्विता का आयोजन किया गया है । जिसमें विश्वामित्र के अपमान से क्षुब्ध राम[3] जामदग्न्य से संघर्ष अवश्य करते हैं, वहां उनमें वीरता के दर्शन होते हैं, उनके क्रोध का आभास मिलता है

---

१ प्रत्यङ्गकमङ्कुरितसर्वरसावतारः
नव्योल्लसत्कुसुमराजिविराजितश्रीः ।
धर्मांविरांगुलि वक्रतयातिरम्यं
नाट्यप्रबन्धमतिमञ्जुलसंविधानम् ।। -- प्रसन्न १।७

२ सं० ना० पृ० २५७

३ राम :- कथं भगवन्तं विश्वामित्रमधिक्षिपति । ततः परं न क्षमिष्ये ।
--प्रसन्न० अंक ४, पृ० ९१

किन्तु परशुराम के साथ विवाद में नायक राम की अपेक्षा उपनायक लक्ष्मण अधिक मुखर हैं । उसकी वाणी में अमर्ष प्रकार की क्षमता है, जामदग्नि स्वयं कहते हैं `अहो अस्य क्षात्रियवटोर्वाक्यपरिपाटी पाटवम्` । लक्ष्मण बात बात में वक्रोक्तियों के माध्यम से उनके अहं को चोट पहुंचाते हैं किन्तु राम उसे बार-बार शीलता और शिष्टता का पाठ पढ़ाते हुए अपनी विनय, शिष्टाचार और शालीनता का परिचय देते हैं।[1]

जहां तक राम के चरित का प्रश्न है वह भी कवि की उक्ति के अनुरूप है, क्योंकि वे मानते हैं कि उसके बिना कवित्वरूपी पौधा पुष्पित, पल्लवित हो ही नहीं सकता । उनका मन कैसे राम के प्रति समर्पित है वे कहते हैं --हेइ `रामचन्द्रपदाम्भोजे भ्रमद् भृङ्गायते मनः` अर्थात् राम के चरित के विकास के लिए किसी अन्य प्रतिद्वन्द्वी के चरित की कोई आवश्यकता ही नहीं है । अतएव राम के चरित में उनकी वीरता की अपेक्षा कमनीयता, कोमलता और कौमार्य के दर्शन होते हैं । उनकी वीरता के उद्घाटन के लिए ही जामदग्नि की योजना की गयी है अथवा लक्ष्मण की वाकपटुता के प्रदर्शन के लिए कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता । किन्तु राम की अपेक्षा नाट्यदृष्टि से लक्ष्मण की योजना निश्चय ही सफल रही है । लक्ष्मण के चरित्र से राम की कोमलता को उनके प्रणय प्रसंग में भी सहायता मिली है[2] और उनकी करुणा को सान्त्वना मिली है[3]। अतः राम के चरित में वीरता की अपेक्षा कोमलता की प्रधानता है । द्वितीय अंक में उनका ललित रूप और छठे अंक में उनका करुण रूप इसी तथ्य का समर्थन करते हैं ।

अतएव रावण और बाणासुर की योजना करके भी नाटककार न तो राम के चरित्र को उभार सका है नही उससे नाटक को ही अधिक सार्थक बना सका है । बाणासुर एवं रावण के वाग्युद्ध के मध्य मारीच के क्रन्दन पर रावण की प्रतिक्रिया ने भी राम की वीरता को किंचिद् ही उद्भासित किया है । राम ने जिस धनुष को क्रीड़ापूर्वक तोड़ा है[4] अथवा जिसके तोड़ने का वर्णन[5] किया गया उसे ही रावण

---

१ राम :- वत्स । अलमिह माननीये मुनौ दुर्विनयवैदग्ध्येन ।

२ द्रष्टव्य प्रसन्न० अंक २ ३ द्रष्टव्य प्रसन्न० अंक ६

४ प्र०रा० ३।४७ ५ प्र रा० ३।४८

और बाणासुर का उठा पाने में असमर्थ होना भी प्रकारान्तर से राम की शक्ति का परिचय देता है । इसी प्रकार बालि आदि के वध, रावण के संहार आदि के वर्णन भी उद्धृत किए जा सकते हैं । रावण और बाणासुर के मंच पर आने की नाटकीय रूपान्विति का अन्य कोई औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता । परशुराम से उनके विवाद के अन्तिम क्षणों को छोड़कर संघर्ष की स्थिति स्वत: में अत्यन्त सीमित है। परशुराम के साथ उनके विवाद में उनकी धीरता से ही परिचय होता है । तात्पर्य यह कि कवि ने राम के चरित्र को स्वयं नहीं गढ़ा है अपितु वाल्मीकि की परम्परा में ढले हुए चरित को ही उन्होंने यहां प्रस्तुत कर दिया है ।

प्रतिनायक की योजना

प्रतिनायकों की दृष्टि से बाणासुर एवं रावण का योगदान भी नहीं के समान है । रावण तो राम का प्रतिद्वन्द्वी होने से अप्रत्यक्ष ही सही राम की करुणा उनके विप्रलम्भ का कारण है किन्तु बाणासुर की कल्पना मात्र नाटकीय है । जो एक अद्भुत मनोरंजन प्रस्तुत करके चला जाता है ।

सातवें अंक में रावण और प्रहस्त के माध्यम से रावण की कुबुद्धि गर्व-विकत्थना के प्रसंगों की योजना की गयी है । जहां वीररस की भी असफल चेष्टा है । किन्तु नाटकीयता का अभाव और काव्यात्मक दृष्टि ही इस प्रसंग की अन्तिम परिणति है । विद्याधर एवं विद्याधरी के माध्यम से जिस युद्ध का चित्र बनाया गया है उसमें भी राम की शक्ति के समक्ष रावण की लघुता नाटककार के पूर्वाग्रह की परिचायक है । रावण के साथ युद्ध करते हुए भी राम प्रसन्न ही हैं । वे क्रुद्ध होते ही नहीं । होते भी हैं तो क्षणमात्र के लिए ही और उनके क्रुद्ध होते ही रावण कुकुरित हो जाता है[१]। ऐसा है प्रतिनायक रावण जो राम के किंचित् क्रोध से ही नष्ट हो जाता है । उसमें न तो प्रतिस्पर्धा की भावना है और न ही राम को पराजित कर पाने का सामर्थ्य । राम के चरित्र के सम्बन्ध में कवि के पूर्वाग्रह के कारण

---

१ अमनयमसौ रोषारूढे क्षणं रघुनन्दने
भुवि कमुक: शेते भृकुटिच्छटापरिधूसर: ।। -- प्रसन्न० ७।५२

२ [illegible]

ही यह स्थिति उत्पन्न हुई है । वस्तुत: राम रावण प्रतिद्वन्द्विता कवि को रुचिकर नहीं है । कवि की दृष्टि में रावण से राम का युद्ध तो मात्र क्रीड़ा है, लीला है[1]।

परशुराम का जो रूप हमें महावीरचरितम् में मिल जाता है वह सम्भवत: संस्कृत के किसी भी नाटक में दुर्लभ है । अत: प्रसन्नराघव में इस प्रसंग को उसकी तुलना में प्रस्तुत करना अनुपयुक्त ही नहीं है । लक्ष्मण की वक्रोक्तियों के माध्यम से इस प्रसंग को रोचक बनाया गया है जो कालान्तर में परशुराम प्रसंग में लक्ष्मण की भूमिका को उपबृंहित करने की परम्परा का बीज माना जा सकता है ।

तात्पर्य यह कि कवि राम के प्रसन्न रूप को प्रस्तुत करना चाहता है । अतएव उसने राम के उस पक्ष को अधिक उभारा है जिसकी अन्यत्र उपेक्षा हुई है। राम का वह रूप है विवाह के पूर्व ही राम का सीता के प्रति अनुराग जिसके चित्रण में कवि ने निश्चय ही प्रयास किया है और सफलता भी प्राप्त की है भले ही वह राम के धीरोदात्त स्वरूप के अनुरूप न प्रतीत हो । अतएव प्रकृत प्रसंग में प्रबन्ध की दृष्टि से वह अधिक उपयोगी नहीं है । प्रतिनायक के रूप में रावण, बालि, मारीच, बाणासुर और जामदग्न्य सभी की योजना है किन्तु उनमें से अधिक नेपथ्य से बाहर नहीं लाए गए हैं । जो प्रतिद्वन्द्वी बाहर आए भी हैं उन्हें राम से साक्षात्कार का अवसर नहीं मिला और जिन्हें अवसर भी मिला उन्हें इस रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया कि वे राम से संघर्ष करें । जहां संघर्ष की स्थिति आयी भी तो नाटककार ने उसे शीघ्र ही हटा लिया । अत: राम का चरित्र तो विकसित हुआ ही नहीं और रावण तो विकसित होते ही म्लान हो गया ।

इस प्रकार रामकथामूलक उपर्युक्त रूपकों को देखने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि नायक राम का विरोध तो प्रत्येक रूपक में होता है किन्तु इस विरोध का प्राणवान् अथवा निष्प्राण होना दूसरी बात है । कभी कभी ऐसा भी संदेह होता है कि नाटककारों ने रावण की भूमिका को जैसे राम की प्रतिद्वन्द्विता के योग्य ही नहीं माना है । करुणरस के सन्दर्भ में चाहे रामकथा का पूर्व चरित हो अथवा उत्तर

---

१ विधाधर :-- क्रीडति कुरु राम: सहरावणेन । नपुनरद्यापि कुप्यार्/ ।

—प्रसन्न॰ सप्तम अंक

दोनों में ही राम का विरोध भावनात्मक स्तर पर ही अधिक उभारा गया है । प्रतिमा नाटक में भास ने इसी कारण राम की अपेक्षा भरत को नायक चुना है । यहाँ रावण की भूमिका अति संक्षिप्त है तथापि उसमें रावण के माध्यम से भरत की करुणा को बल मिला है । अभिषेक में रावण की अपेक्षा बालि का प्रतिनायकत्व अधिक सजीव है और इसी प्रकार महावीरचरित में रावण उतना प्राणवान नहीं है जितने कि राम के अन्य प्रतिद्वन्द्वी, बाली, माल्यवान् और परशुराम । यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि इतने इतने प्रतिद्वन्द्वियों की योजना इसीलिए करनी पड़ी है कि परम्परा से धीर और उदात्त राम को महावीर बनाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है । इसी कारण राम के लिए जामदग्नि का इतना विकराल रूप नियोजित किया गया और बालि तथा माल्यवान् के साथ ही उपप्रतिनायिका के रूप में शूर्पणखा की भी योजना की गयी है । प्रसन्नराघवम् में यद्यपि राम के आह्लादक रूप को ही उभारना नाटककार का उद्देश्य है तथापि जामदग्नि और उपनायक लक्ष्मण के माध्यम से राम के विरोध की ऐसी योजना है जो अन्त में प्रसन्न राम को अप्रसन्न किंवा क्रुद्ध करके छोड़ती है । सीताहरण के कारण यहाँ भी राम की करुणा ही अधिक उभरती है क्योंकि वह भी राम के वीर रूप की अपेक्षा उनकी कोमलता और कमनीयता के अनुकूल है । अतः राम के विरोध की योजना अधिक स्पष्ट न होते हुए भी कहीं भी उपेक्षित नहीं है।इसी कारण जहाँ रावण सशक्त नहीं है वहाँ इस विरोध की अग्नि में किन्हीं अन्य भूमिकाओं की समिधाएं और आहुतियाँ दी गयी हैं ।

-o-

षष्ठ अध्याय

-0-

महाभारतकथामूलक रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका

यत्कृष्टा करनिग्रहाञ्चितकचा द्यूते तदा द्रौपदी
यद् बालोऽपि हतस्तथा रणमुखे पुत्रोऽभिमन्युः पुनः ।
अक्षव्याजजिता वनं वनमृगैर्यत्पाण्डवाः संश्रिताः
मन्वल्पं मयि तैः कृतं विमृश भो ! यथाकृतं दीक्षितैः ॥

-- ऊरुभङ्गम्

अध्याय - ६

-0-

महाभारतकथामूलक रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका

विषय-वस्तु	पृष्ठ संख्या

अध्याय-६

महाभारतकथामूलक रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका

बालचरितम्

बालचरितम् में वर्णित कृष्ण की बाल्यकाल की घटनाओं का सम्बन्ध यद्यपि महाभारत से नहीं है तथापि इस अध्याय के अधिकांश रूपकों से,बाल-चरितम् के नायक दामोदर श्री कृष्ण, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हैं । उनमें से भी दूतवाक्य के उत्तरार्ध में कृष्ण का जो रूप है उसका मूल बालचरितम् में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । इन्ही कारणों से इस पौराणिक रूपक को भी इसी अध्याय में सम्मिलित कर लिया गया है । भास के रामकथामूलक तथा कृष्ण से सम्बन्धित अन्य रूपकों की अपेक्षा बालचरितम् अधिक रूढ़ तथा कृत्रिम उपादानों से युक्त रूपकप्रबन्ध है । इस रूपक में उन्होंने जन्म से लेकर कंसवध तक के कृष्ण के बाल्य-काल की घटनाओं का चित्रण किया है । जिसके कारण कृष्ण का यश ग्राम-सीमा को पार कर दूर-दूर नगरों तक जा पहुंचता है । `बालचरितम्` में मधुक ऋषि के शाप (मानवीकृत) से कंस की राजलक्ष्मी का अभाव, पंचायुधों की उपस्थिति, यमुना का सूख जाना, कालिय का मर्दन, फिर कालिय को गरुड के भय से मुक्ति, प्रभृति के आधार पर उनके मनस्वरूप का दर्शन कराया गया है ।

प्रस्तुत स्थल पर बालचरित में गृहीत कथावस्तु के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उसमें कृष्णचरित-बाललीला की तीन झांकियां दिखायी गयी हैं । (क) वसुदेव की सातवीं सन्तान (पौराणिक आधार पर कृष्ण वसुदेव की आठवीं सन्तान थे) के रूप में कृष्ण का जन्म और वसुदेव द्वारा मथुरा आकर नन्द के घर उत्पन्न मृत पुत्री से उसका विनिमय, जो वसुदेव के पास आते ही जीवित हो जाती है (ख) चाण्डाल युवतियों और शाप के रूप में अलक्ष्मी (राज्यश्री का अभाव) दुष्टता,कालरात्रि

---

१ डा० उपाध्याय, संस्कृत ड० पृ० ६७, ५२० तथा कीथ, सं०ना० पृ० ६४

२ बालचरितम् - प्रथम अंक

महानिद्रा एवं पिङ्गलाक्षि तथा कंस को कभी दिए गए मधुक ऋषि के शाप के माध्यम से कंस को अपने पतन का आभास कराना और वसुदेव-देवकी के घर में लालित कन्या का वध करते हुए उसके एक भाग का पृथ्वी पर रह जाना और दूसरे भाग का स्वर्गारोहण, जिससे कंस को अपनी कालरात्रि का आभास होना[1]। (ग) सङ्कर्षण, दामक प्रभृति गोपों एवं गोपिकाओं के साथ[2] दामोदर की बाललीला एवं अरिष्टर्षभ प्रभृति दैत्यों[3] के अतिरिक्त कालिय नामक सर्पराज का दर्पशमन[4] तथा चाणूर-मुष्टिक के साथ कंस का वध[5]। प्रकारान्तर से भास ने बालचरितम् में कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित पांच घटनाओं को पांच अंकों में विभक्त कर दिया है । प्रथम अंक में कृष्ण जन्म एवं नन्द पुत्री से उनका विनिमय, द्वितीय अंक में वसुदेव की सातवीं सन्तान के रूप में नन्द पुत्री कात्यायिनी की हत्या का असफल प्रयास, तृतीय अंक में अरिष्टर्षभ नामक दैत्य के गर्व का खण्डन, चतुर्थ अंक में कालिय सर्प का दर्पशमन एवं पंचम अंक में कंसवध की कथा को नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

नायक दामोदर

नाट्यशास्त्रीय परिवेश में चारों प्रकार के नायकों के लिए निर्धारित गुण किसी वयस्क व्यक्ति में ही हो सकते हैं अत: कोई बालक कभी धीरोदात्त,धीरोद्धत, धीरललित या धीरप्रशान्त नायक हो सकता है यह सोचना न केवल व्यामोह है प्रत्युत कल्पना मात्र है । रूपक की दृष्टि से ऐसे कर्मों का रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण भी अधिक दृश्याकर्षक नहीं हो सकता । अत: महाकवि भास का यह आयास अपने पौराणिक आयाम में सत्य होता हुआ भी सत्य, यथार्थ अथवा औचित्य की कोटि में नहीं आता, किन्तु 'यथास्मै रोचते विश्वं तथेदंपरिवर्तते' की मान्यता को स्वीकारते हुए ही हमें बाल-कृष्ण के नायकत्व का मूल्यांकन करना होगा । फिर भी कवि मुख्य प्रतिनायक से उनके युद्ध के लिए उनके वय: विकास के सम्बन्ध में पूर्ण जागृत है ।

आरम्भिक दोनों अंक कृष्ण के जन्म, उनके विनिमय एवं कात्यायनी से सम्बद्ध हैं अत: उनमें कृष्ण के चरित की नाटकीयता, वसुदेव एवं नन्द तथा

---

१ बाल० द्वितीय अंक   २ बाल० ३।२,३   ३ बाल० तृतीय अंक
४ बाल० चतुर्थ अंक   ५ बाल० पंचम अंक

राजा कंस की क्रूरता तक ही सीमित है। तृतीय अंक के आरम्भ में प्रवेशक के माध्यम से कृष्ण की बाललीलाओं में उनके जिन कर्मों का वर्णन है उससे उनके बाल सुलभ व्यापारों में उनकी चंचलता और पूतना तथा यमलार्जुन के वध का उल्लेख उनके भावी स्वरूप की प्रस्तावना है। इसे उनका वीर कर्म भी कहा जा सकता है किन्तु तभी जब उन्हें अवतारी पुरुष मान लिया जाए। पूतना का स्तनपान करते हुए उनकी जिस वय: सन्धि का आभास होता है यमलार्जुन के वध के समय वे उसे पार कर चुके हैं, यह भी स्पष्ट समझना चाहिए। तदनन्तर उनका अरिष्टर्षभ से युद्ध उनकी किशोरावस्था में आयोजित किया गया है।

अरिष्टर्षभ जैसे अपने प्रतिद्वन्द्वी से उनके युद्ध में नाटकीयता का अभाव होते हुए भी उनका वीरोद्धत स्वरूप अभिव्यक्ति पाता है। उनके साथी, कृष्ण को सिंह तथा अरिष्टर्षभ को वृषभ (जोकि वस्तुत: वृषभ रूप है ही) कहकर उनके ऐसे ही चरित्र की ओर संकेत करते हैं। कृष्ण अपने प्रतिद्वन्द्वी के लिए मूर्ख, `दुरात्मा, अरिष्टर्षभ`, गोवृषाधम , जैसे सम्बोधनों एवं विशेषणों के माध्यम से अपने क्रोध, मात्सर्य किंवा असूया को ही व्यक्त करते हैं। अरिष्टर्षभ के साथ सम्वादों में भी उनका क्रोध अभिव्यक्ति पाता है जिसमें उनका अहंकार और दर्प भी मुखर है[1]। अरिष्टर्षभ के यह कहने पर कि `अब तुम अपनी जाति के अनुकूल शस्त्र उठाओ` दामोदर जो उत्तर देते हैं उसमें दर्प, और अहंकार के साथ ही उनका प्रचण्ड रूप भी स्पष्ट होता है और उनकी विकत्थना के भी दर्शन होते हैं। वे कहते हैं `पर्वत के तटों के समान मेरी कठोर बाहुएं ही मेरे आयुध हैं और यदि इन भुजदण्डों से ही तुम्हें मैं भूमि न पटा दूं तो मेरा नाम दामोदर नहीं[2]।` शक्ति परीक्षण के लिए दामोदर का प्रस्ताव कि `मैं एक पैर पर ही खड़ा हूं मुझे हिला दो तो मैं जानूं[3]` भी उनके ऐसे ही स्वरूप का द्योतक है। इतना ही नहीं अरिष्टर्षभ के द्वारा फिर बढ़-चढ़ कर बात करने पर वे क्रुद्ध हो उठते हैं और कहते हैं, `वर्षा ऋतु के मेघ के समान व्यर्थ क्यों गरज रहा है, ठहर, अभी तुझे पृथ्वी पर पटकता हूं[4]।` यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि दामोदर-कृष्ण का यह रूप वीरोद्धत स्वरूप,

---

१ बाल० ३।६, १० २ बाल० ३।११

३ `भो गोवृषाधम, यदि ते शक्तिरस्ति, मां पादेनैकेन स्थितं स्थानात् कम्पय।`

४ बाल० ३।१४

रूपक के चतुर्थ और पञ्चम अंक में कवि को अभीष्ट नहीं है ।

परवर्ती इन दोनों अंकों में युद्ध के स्थल तो अनेक हैं । चतुर्थ अंक में कालियनाग से तथा पञ्चम अंक में चाणूर, मुष्टिक, तथा कंस से उनका साक्षात् युद्ध होता है किन्तु उन सभी स्थलों पर उनका धैर्य, उनका गाम्भीर्य और किंचित् औदात्य ही प्रकट होता है । अत: इस रूपक में कवि को उनका धीरोदात्तनायकत्व ही अभीष्ट है ऐसा माना जा सकता है । इस वैविध्य का कारण जो भी रहा हो नाटकीयता की दृष्टि से उनके दोनों रूपों में दृश्यात्मकता का अभाव है और उसका कारण है कथानक में विविधता किन्तु संक्षिप्तता ।

बालचरितम् के प्रतिनायक

कृष्ण की प्रतिद्वन्द्विता में साक्षात् उपस्थित होने वाले प्रतिनायकों में तीन मुख्य प्रतिनायक हैं । मुख्य से तात्पर्य है उनका परस्पर सहयोगी अथवा सहकारी न होना, ये प्रतिनायक हैं- अरिष्टर्षभ, कालिय एवं कंस । कंस के चाणूर एवं मुष्टिक नाम के दो क्रीत सेवक अथवा मल्ल भी उनकी प्रतिद्वन्द्विता में आते हैं । किन्तु जैसाकि स्पष्ट है कवि नायक कृष्ण के 'बालचरित' को समर्पित है अत: वह नायक को उस सीमा तक नहीं उठा सका है कि उन्हें एक समर्थ-नायक माना जाए । अतएव उसके प्रतिद्वन्द्वी भी बौने ही रह गए हैं । अरिष्टर्षभ एवं कालिय के औद्धत्य में प्राण नहीं है विशेषकर यह जानकर कि वे मानवेतर प्राणी हैं उनके प्रति अधिक उत्साह का अवकाश भी नहीं है । प्रतिनायक कंस भी अधिक सशक्त नहीं है फिर भी उसकी भूमिका, अन्य प्रतिनायकों, अपितु किसी सीमा तक नायक कृष्ण से भी अधिक प्रभाव छोड़ती है । इसका प्रत्यक्ष कारण प्रतिनायक का औद्धत्य नहीं अपितु कथावस्तु में अद्भुतरस की योजना के निमित्त कुछ नवीन उद्भावनाएं हैं । द्वितीय अंक में कात्यायनी का असफल वध उतना चमत्कारी नहीं है जितनी कि उसकी पूर्व पीठिका के रूप में कंस के प्रासाद में चाण्डाल युवतियों एवं मधूक ऋषि के शाप के प्रवेश तथा राज्यश्री द्वारा कंस के परित्याग के रूपक के माध्यम से चमत्कार की सृष्टि की गयी है । इन स्थानों पर कंस का स्वरूप पापी है, मात्सर्य एवं किंचित् अहंकार से संपृक्त है किन्तु उसका औद्धत्य आरम्भ से अन्त तक कहीं भी उभर नहीं पाया है ।

<u>बालचरितम् का मूल्यांकन</u>

वस्तु नेता एवं रस तीनों ही दृष्टि से महाकवि भास की यह कृति कहीं भी प्रभावोत्पादक नहीं है फिर भी उसकी प्रस्तुत विवेचना का कारण यही प्रदर्शित करना है कि जहां नाटककार किसी व्यामोह में फंसता है और अपने नायक को मात्र पौराणिक आयाम में प्रस्तुत करता है वहां सफलता के अवसर नष्टप्राय हो जाते हैं। ऐसे ही व्यामोह के कारण परवर्ती नाटककारों की कृतियां मात्र काव्य होकर रह गयी है और उनमें भी वर्णनबाहुल्य है, रस का अभाव ही है। प्रसन्नराघवम् जैसे अनेक रूपक संस्कृत साहित्य के आगार में अब भी जीवित हैं। बालचरितम् इसी कोटि के अन्य रूपकों की अपेक्षा यत्किंचित् महत्वपूर्ण इसीलिए है कि उसमें कृष्ण की बाललीला के प्रति अपने व्यामोह का संवरण न कर पाने पर भी नाटककार ने कुछ मौलिक प्रयोग किए हैं। गति-क्षिप्रता, कालान्विति का निर्वाह एवं पशुओं का मानवीकरण तथा मञ्च पर मृत्यु के प्रदर्शन। इनमें से अधिकांश विशेषताएं भास की मौलिक विशेषताएं हैं। मञ्च पर मृत्यु एवं वध एवं हत्या का प्रदर्शन करने वाले वे प्रथम एवं अन्तिम नाटककार हैं। गति-क्षिप्रता का गुण उनके रूपकों में कहीं-कहीं अत्यन्त अनाटकीयता का कारण भी बनता है[1] फिर भी यह उनके सभी रूपकों में प्राय: विद्यमान् है बालचरितम् भी उसका अपवाद नहीं है।

कृष्ण की बाल्यावस्था में ही इन कार्यों को सम्पादित कराता हुआ नाटककार उसकी अनाटकीयता से भी परिचित है और ऐसे कार्यों की असम्भाव्यता से भी परिचित है। इसी कारण वह कृष्ण के मुख से उसका स्पष्टीकरण देते हुए कुछ प्रमाण भी देता है;[2] किन्तु इन तर्कों में जीवन नहीं है। तथापि मंच पर मृत्यु, हत्या, वध एवं युद्ध के प्रदर्शनों में मौलिकता है। यहां चाणूर, मुष्टिक तथा कंस का वध मंच पर ही होता है जो शास्त्रीय दृष्टि से निषिद्ध है। भास ऐसी अद्भुत योजनाएं प्राय: करते हैं, दशरथ एवं बालि की मृत्यु के प्रसंग हम देख चुके हैं और आगे हम 'ऊरुभङ्गम्' में भी ऐसी ही योजना के दर्शन करेंगे। कृष्ण के आयुधों की योजना तथा पशुओं का

---

१ सं० ना० पृ० १०६ 　 २ बाल० ३।८, १०

प्रतिनायकत्व अथवा प्रतिनायक की प्रमुखता में योजना तथा उनके हन्ता के रूप में इन्द्र, रुद्र एवं विष्णु से कृष्ण की तुलना जहां अद्भुत प्रतीत होती है वहीं यह उस तत्व की ओर भी संकेत करती है जो अत्यन्त प्राचीन है ।

इसी प्रकार कंस के पतन की पूर्वपीठिका के रूप में चाण्डालयुवतियों का प्रवेश, कंस से विवाह हेतु उनका प्रस्ताव, उनका त्वरित प्रस्थान, तदनन्तर चाण्डाल वेश में मधुक ऋषि के शाप का प्रवेश, उसका कंस से सम्वाद, उसके द्वारा अलक्ष्मी, खलति, कालरात्रि; पिङ्गलाक्षि एवं महानिद्रा का आह्वान, चाण्डाल का अन्तर्धान होना और कंस की क्षणिक निद्रा में स्वप्न दर्शन और स्वप्न में ही चाण्डाल (शाप) से राजलक्ष्मी का विवाद, विष्णु का आदेश सुनकर राजलक्ष्मी द्वारा कंस का परित्याग, कंस द्वारा सांवत्सरिक एवं पुरोहित से इस स्वप्न का फल पूछने पर अनिष्ट की सूचना यह सभी योजनाएं कवि के अद्भुत रस के प्रति आग्रह की परिचायक हैं । ऐसी ही योजना का दर्शन हमें शेक्सपियर के मैकबेथ में भी होता है जहां पिशाचिनियां नायक मैकबेथ के उत्थान पतन की सूचक हैं । उनकी योजना का मुख्य लक्ष्य मैकबेथ को पथभ्रष्ट करना है । वे मैकबेथ को स्वयं प्रेरित करती हैं । उधर मैकबेथ इनसे प्रेरणा लेकर अपने मार्ग पर बढ़ता है, उसका भी पतन होता है। यहां कंस स्वप्न के बाद ही वसुदेव की सातवीं सन्तान (जिसे अन्य पौराणिक आख्यानों में आठवीं सन्तान माना गया है) के वध की योजना बनाकर कात्यायनी की असफल हत्या का प्रयास कर अपने पतन का मार्ग प्रशस्त कर लेता है । मैकबेथ बैंको के भूत से भय खाता है । कंस को मधुक ऋषि के शापसे भय तो नहीं लगता किन्तु उसके कारण ही वह ऐसे कार्य करने को बाध्य होता है जो उसके कार्य को सरल बनाने के स्थान पर उसे पथ-भ्रष्ट कर उसके पतन का मार्ग-प्रशस्त कर देते हैं ।

कृष्ण की इन बाललीलाओं में गोपियों की रुचि भी महत्वपूर्ण है । कृष्ण के हल्लीश नृत्य के अवसर पर गोपियां उनके साथ हैं[1]। घोषसुन्दरी वनमाला, चन्द्ररेखा, मृगाक्षी प्रभृति कन्याएं अरिष्टर्षभ से उनके संघर्ष की साक्षी हैं[2]। दामोदर कृष्ण एवं सङ्कर्षण (बलराम) की उनमें रुचि भी है क्योंकि वे उनके मल्लशिक्षा वर्णन में भी किंचित् रुचि दिखाते हैं[3]। कालिय से उनके संघर्ष के अवसर पर भी

---

१ बाल० अंक ३, पृ० ६६   २ वही पृ० ५३८   ३ वही ३।२,३ एवं पृ० ५४०

गोपकन्याएं उपस्थित हैं । वे कृष्ण को इस कर्म से रोकने का भरसक प्रयास भी करती हैं ।[1] इन सभी उल्लेखों में शृङ्गार के अवसर नहीं हैं । इनमें कृष्ण एवं गोपियों का वह स्वरूप भी नहीं है जो भागवत में है । इससे भास की प्राचीनता पर जो प्रकाश पड़ता है वह विवेच्य नहीं है अपितु गोपकन्याओं के माध्यम से नाटककार ने जिस आश्चर्य की अभिव्यक्ति करनी चाही है उसकी अनाटकीय योजना पर ही प्रकाश डालना अभीष्ट है । इस रूप में नाटकीय दृष्टि से बालचरितम् की संदिग्ध सफलता में भी उसमें रोचकता है यह स्वीकार किया जा सकता है ।

पञ्चरात्रम्

महाकवि भास के महाभारत-कथा पर आश्रित रूपकों में प्रतिनायक का मूल्यांकन करते समय कथाक्रम की दृष्टि से उनके `पञ्चरात्रम्` पर ध्यान जाना स्वाभाविक है । घटनाक्रम की दृष्टि से भास के अन्य पांचों एकाङ्की रूपकों का कथासूत्र पञ्चरात्रम् के उपरान्त की घटनाओं से सम्बद्ध है । पञ्चरात्रम् में महाभारत के दोनों पक्षों के अनेक मुख्य पात्र उपस्थित हैं । डा० बलदेव उपाध्याय इस रूपक के बीज महाभारत में नहीं पाते,[2] अतः इसे भास की मौलिक कल्पना की उपज माना जा सकता है ।

`पञ्चरात्रम्` की कथावस्तु का परिचय देने के पूर्व कवि के एक पूर्वाग्रह की ओर संकेत करना अनुचित न होगा कि उन्होंने अपने रूपकों में दुर्योधन को एक चरित्रप्रधान पात्र के रूप में भी प्रस्तुत किया है । उसके पौराणिक रूप को भी उन्होंने अपने अन्य रूपकों में यत्र तत्र ग्रथित किया है फिर भी वे उसके प्रति पर्याप्त उदार हैं । विवेच्य रूपक में उन्होंने दुर्योधन को न्यायप्रिय, उदार, आज्ञाकारी एवं शकुनि तथा दुःशासन के प्रभाव से मुक्त नायक के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसके स्वतंत्रचेता रूप को उभारा है ।

ऐसे उदात्त और वीर दुर्योधन ने एक विशिष्ट यज्ञ का आयोजन किया । उसकी पूर्णाहुति के उपरान्त उसने पुरोहित द्रोणाचार्य से इच्छित दक्षिणा

---

१ बाल० अंक ४, पृ० ५४४, ५४५   २ सं० सा० इ० पृ० ५२१

मांगने का आग्रह किया । द्रोणाचार्य ने इस आग्रह पर पाण्डवों के लिए आधे राज्य की याचना की । अपने वचनों पर दृढ़ दुर्योधन, शकुनि के मना करने पर भी एक शर्त के साथ द्रोणाचार्य को वचन देता है कि अज्ञातवासी पाण्डवों का पता यदि अज्ञातवास के उन अवशिष्ट पांच दिनों के मध्य ही लग जाता है तो दुर्योधन उन्हें अपने वचन के अनुसार आधा राज्य दे देगा । द्रोणाचार्य इस शर्त को सुनकर किंचित् किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं । इस यज्ञ में विराट नगर के राजा उपस्थित नहीं हो पाते हैं जिसका कारण यह है कि उनके सम्बन्धी सौ कीचकों की हत्या हो गयी है । बधिक ने यह कर्म बिना किसी शस्त्र के ही किया है । भीष्म को इस हत्या के मूल में, भीम के होने का सन्देह होता है और इसी कारण वे द्रोणाचार्य से दुर्योधन की शर्त स्वीकार करने को कहते हैं ।

भीष्म, आशा की इस किरण के आधार पर एक नयी योजना बनाते हैं और दुर्योधन से कहते हैं कि वस्तुत: विराट नरेश मेरे कारण नहीं आया है और यह कौरवों का अपमान है । अत: दुर्योधन विराट नगरी पर आक्रमण करता है । इस आक्रामक युद्ध में दुर्योधन के पक्ष से अभिमन्यु भी भाग लेता है । क्योंकि अज्ञातवास पर जाते समय पाण्डव उसे कौरवों के समीप ही छोड़ गए हैं । किन्तु युद्ध में दुर्योधन की पराजय होती है और अभिमन्यु बन्दी बना लिया जाता है । जिससे भीष्म तथा द्रोणाचार्य के सन्देह की पुष्टि हो जाती है कि भीम सहित सभी पाण्डव विराट नगर में ही विद्यमान हैं । उधर विराट नरेश को अपनी अप्रत्याशित विजय पर आश्चर्य होता है । बन्दी अभिमन्यु एवं पुत्र उत्तर के माध्यम से उन्हें अपने पक्ष की विजय के मूल में पाण्डवों की उपस्थिति की सूचना मिलती है । वहीं अभिमन्यु के साथ उत्तरा का विवाह निश्चित होता है जिसकी सूचना कौरवों को भी भेजी जाती है । द्रोण एवं भीष्म को इस रूप में अपनी शर्त पूरी करने का अवसर मिलता है और दुर्योधन भी अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करता है ।

नायक प्रतिनायक निर्धारण

कीथ महोदय ने 'पञ्चरात्रम्' को समवकार रूपकभेद माना है।[1] अभिनवगुप्त कृत समवकार की व्याख्या के अनुसार इसके प्रत्येक अंक में दो नायक दो प्रतिनायक के रूप में कुल बारह नायकों की योजना महत्त्वपूर्ण है[2]। इस दृष्टि से नायक प्रतिनायक का निर्धारण करते समय हमें भास की क्रान्त दृष्टि की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

१ सं० ना० पृ० ८०

२- द्वादशनायकबहुल इति प्रत्यङ्कमिति केचित् । अन्ये तु नायकप्रतिनायकौ तत्सहायौ चेति चतुरादु:। समुदायापेक्षया हि द्वादशेति ।
— अभि० १८।११४-११५ (टंकित प्रबन्ध अ०)

जैसाकि कहा जा चुका है नाटककार ने यहां दुर्योधन के चरित्र में ऐसे किसी भी दुर्गुण का समावेश नहीं किया है जो उसे प्रतिनायक सिद्ध करने के लिए उद्धृत किया जा सके । प्रत्युत उसकी गुरुभक्ति, शकुनि द्वारा उसे बहकाने पर भी उसकी दृढ़ता तथा कर्ण से भी उसकी सलाह, अभिमन्यु के प्रति उसका अनुराग आदि अनेक ऐसे कारण हैं जो उसके नायकत्व को सिद्ध करते हैं ।

कथा का मुख्य फल-अर्धराज्य की प्राप्ति न होकर दुर्योधन द्वारा इस दान के माध्यम से गुरुदक्षिणा[1] के ऋण से मुक्ति है । इस सत्य की स्थापना ही रूपक का मुख्य फल और उद्देश्य है । अतः दुर्योधन को नायक मानने में आपत्ति नहीं हो सकती । हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि दुर्योधन की नायक के रूप में योजना कवि को प्रिय है इसी कारण वह `ऊरुभङ्गम्` में भी उसे ही नायक बनाता है । अतः प्रथम अंक में दुर्योधन नायक है ऐसा माना जा सकता है, उपनायक के रूप में शकुनि को स्वीकार किया जा सकता है । द्रोणाचार्य उसके साम्राज्य को बंटवा देते हैं उसे अपनी नीति में फंसाते हैं । भीष्म उनके सहायक हैं अतः उन्हें प्रतिनायक मानने में कोई अनौचित्य नहीं है । द्वितीय अंक में एक ओर अभिमन्यु अकेला नायक है किन्तु उसके तीन प्रतिद्वन्द्वी हैं भीम, अर्जुन तथा कुमार उत्तर, तृतीय अंक में हम पुनः दुर्योधन शकुनि का नायकत्व उपनायकत्व देखते हैं तथा द्रोण एवं भीष्म प्रतिनायक यहां भी उपस्थित हैं ।

इस विचार से असहमत होते हुए इसके विपरीत नायकत्व प्रतिनायकत्व स्वीकार करने पर भी यह तो निर्विवाद रूप से स्वीकार करना ही होगा कि दोनों ही स्थितियों में नाटककार अपने कर्म में, प्रत्येक पात्र के चरित्र निर्माण में पूर्ण सफल है । सभी भूमिकाएं एक दूसरे से गुंथी हुई हैं ।

द्रोण के चातुर्य ने जितनी सरलता से दुर्योधन को घेरा है शकुनि की सहायता से दुर्योधन ने उन्हें उतनी ही सरलता से किंकर्तव्यविमूढ़ किया है । भीष्म ऐसे ही समय पर द्रोणाचार्य को उस स्थिति से उबारते हैं और दुर्योधन को युद्ध के लिए

---

१ `द्वावप्यनायकावङ्ग इति प्रत्यङ्कमिति केचित् । अन्येतु नायकप्रतिनायकौ तत्सहायौ चेति चतुराहुः, समुदायापेक्षाया हि द्वावेति`
--अभिनव.१८।११४-११५

[1] प०रा० १।२५

तत्पर करते हैं। शकुनि की कपट बुद्धि, कर्ण में उसकी (दुर्योधन की) विश्वसनीयता एवं सच्चे मित्र की भांति सर्वत्र तत्परता, नीतिनिपुणता एवं कर्तव्यपरायणता सभी के एक साथ दर्शन होते हैं।

दुर्योधन का नायकत्व प्रतिनायकत्व

मास का दुर्योधन यथार्थ की धरती पर जीने वाला प्राणी है और `मृतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गम्` में उसका विश्वास नहीं है वह तो मानता है कि मनुष्य के शुभ कर्मों का फल इसी जीवन में मिल जाता है[1]। द्रोण के सम्बन्ध में वह अधीर है कि गुरुद्रोण अपनी दक्षिणा शीघ्र क्यों नहीं मांगते। अपनी क्रूरता, जिह्मता को वह अतीत की कथा मानता है मानता ही नहीं उसकी निन्दा भी करता है[2] और इसके विपरीत आचरण करते हुए वह अभिमन्यु का शुभेच्छु संरक्षक है[3]।

द्रोण द्वारा दक्षिणा मांगने पर एवं शकुनि के उकसाने तथा द्रोण एवं भीष्म द्वारा शकुनि की भर्त्सना के प्रसंग में दुर्योधन के तर्कों में प्राण है। वह भीष्म से न पूछ कर सीधे अपने प्रतिद्वन्द्वी द्रोणाचार्य पर तर्क के बाणों का प्रहार करता है। वह पूछता है यदि पाण्डवों के साथ उसने अन्याय किया है तो उसी दिन सभा में द्रोणाचार्य ने उसका प्रतिवाद क्यों नहीं किया[4]। द्रोणाचार्य को इसका कोई उत्तर नहीं सूझता वे कहते हैं इसका उत्तर तो युधिष्ठिर से पूछो। दुर्योधन तो शान्त है किन्तु द्रोण के वचनों में क्रोध भी भलकता है इसी कारण भीष्म मध्यस्थता करते हुए `अन्यत् प्रस्तुतमन्यदापतितम्` कहकर कथावस्तु को बिगड़ने से रोकते हैं। किन्तु यही वह महत्त्वपूर्ण स्थल है जो दुर्योधन के चरित्र को बदल देता है।

शकुनि और कर्ण से मंत्रणा करते समय भी वह शकुनि को मनाने का ही प्रयास करता है `न दातव्यमिति मे निश्चय:` शकुनि के इस कथन पर दुर्योधन की मनुहार में बल है, वह कहता है -`दातव्यमिति वक्तुमर्हति मातुल:` यही उसका विचार है। चूंकि द्रोणाचार्य दक्षिणा लें ही क्यों न ऐसे स्थानों का राज्य पाण्डवों को दे दिया जाए जिन्हें वह कुदेश मानता है। शकुनि के अवरोधों से भी दुर्योधन के चरित्र

---

१ पञ्च १।२१ २ पञ्च १।३१ ३ वही पृ० ३८०

४ देखें : पञ्च० पृ० ३८२

५ वही १।३५

को शक्ति मिलती है । शकुनि तो जानता है यदि ऊसर में भी युधिष्ठिर राज्य करेंगे तो वह भी भूमि शस्य-श्यामला हो उठेगी[1]। अत: शकुनि के शर्त दक्षिणा में राज्य के बटवारे के प्रस्ताव से वह सहमत हो जाता है । किन्तु शकुनि की चतुराई से विचलित द्रोण एवं भीष्म के गिड़गिड़ाने पर दुर्योधन की अपनी दृढ़ता दर्शनीय है । अन्ततोगत्वा प्रतिद्वन्द्वी द्रोणाचार्य के सहायक भीष्म अपनी कूटनीति में सफल होते हैं और वे दुर्योधन को विराट नगर पर आक्रमण के लिए बाध्य करके पांच रात्रियों में ही पाण्डवों के अस्तित्व का बोध कराने की भूमिका तैयार कर देते हैं ।

दुर्योधन के चरित्र की महानता का बोध स्थान स्थान पर होता है । पाण्डवों के अज्ञातवास के समय अभिमन्यु दुर्योधन के साथ ही रहता है । अभिमन्यु के प्रति उसका अपार प्रेम है । वह उसे अपना पुत्र पहले मानता है पाण्डवों का बाद में[2]। उसके बन्दी बनाने का समाचार सभी को पीड़ा पहुंचाता है किन्तु दुर्योधन की पीड़ा और उसकी अभिव्यक्ति दोनों मार्मिक है । द्रोणाचार्य शकुनि और भीष्म के मध्य तृतीय अङ्क में होने वाले सम्वादों के समय दुर्योधन तटस्थ बना रहता है । उसे अभिमन्यु के बन्दी हो जाने पर भी उनके विवाद में उलझे रहने पर तथा सूत द्वारा घटना के वर्णन को लम्बा खींचने पर कुछ खीज हो जाती है । अभिमन्यु को बन्दी बनाने वाले व्यक्ति के बारे में जानने को इतना उत्सुक है वह कि सूत और भीष्म के संवादों पर ध्यान न देकर अपना अर्थ व्यक्त कर देता है[3]। वह शकुनि के प्रपंचों से भी उद्विग्न हो उठता है और जब विराट नगर पाण्डवों द्वारा प्रेषित अभिमन्यु-उत्तरा विवाह का समाचार आता है और द्रोणाचार्य प्रार्थना भी करते हैं, तो वह एक सत्यसन्ध की भांति कहता है --

बाढं दत्तं मया राज्यं पाण्डवेभ्यो यथापुरम् ।
मृतेऽपि हि नरा: सर्वे सत्ये तिष्ठन्ति तिष्ठति॥पञ्च०॥३।२५

तात्पर्य यह कि पञ्चरात्रम् का दुर्योधन एक सत्यसंध, दृढ़प्रतिज्ञ, नीति निपुण, सदाचारी एवं शिष्ट नायक है । यदि दुर्योधन को प्रतिनायक मान लिया जाता है तो वह एक धीरोदात्त प्रतिनायक है । एक ऐसे प्रतिनायक की महानता और

---

१ पञ्च १।४४ २ वही २।४ ३ वही ३।६

कथा हो सकती है, उसमें किसी नायक के गुण मिलने दुष्कर हों। अतः यदि उसे प्रति-नायक भी मान लिया जाए तो भी उसकी भूमिका और उसके चरित्र-चित्रण के लिए नाटककार की सफलता निःसन्दिग्ध है।

द्रोणाचार्य

इसके विपरीत द्रोणाचार्य में कुटिलता है किन्तु चातुर्य का, वाक्पटुता एवं स्थिरता का अभाव है। उन्हें प्रकारान्तर से कलहप्रिय भी कहा जा सकता है[1] जिसमें क्रोध का भी प्राचुर्य है[2]। जिसे उनके औद्धत्य के रूप में देखा जा सकता है। उनके इस क्रोध की शान्ति के लिए कर्ण, दुर्योधन एवं भीष्म को सामूहिक प्रयास करना पड़ता है[3]। शास्त्रीय विधानों के विपरीत उनका चरित्र पूर्णोद्धत नहीं है। वे शीघ्र ही प्रसन्न हो जाने वाले ब्राह्मण हैं गुरु हैं, न तो वे क्रोध में जामदग्नि के समान हैं न ही शकारवत् उच्छृंखल। वे एक आदर्श प्रतिनायक हैं, जो दुर्योधन की भक्ति से अभिभूत हैं[4]। उनका कपट भी इतना मुखर है कि शकुनि सरलता से समझ जाता है[5]। प्रतिनायक की भूमिका में भी वे अपने गौरव को नहीं भुला सके हैं। वे यहां भी अपने प्रिय शिष्यों के उतने ही पक्षपाती हैं जितने कि वे पौराणिक कथानकों में प्रसिद्ध हैं[6]। फिर भी नायक चरित्र के निर्माण में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

नायक दुर्योधन का चरित्र जितना निर्मल है उपनायक शकुनि का रूप उतना ही कुटिल। उसका पौराणिक रूप ही यहां भी उभरता है जो नायक एवं प्रति-नायक दोनों के ही चरित्र निर्माण में सहायक है। एक ओर जहां वह दुर्योधन की नीतियों का निर्धारण करता है वहीं वह द्रोणाचार्य एवं भीष्म को भी उत्तेजित करता है। इसी प्रकार प्रतिनायक द्रोणाचार्य की अपेक्षा भीष्म की भूमिका में उचित अनुचित

---

१ वही, पृ० ३८२ द्रोण :- मात्र कदर्थनम् कार्यं, कलहः एवमस्तु।

२ पञ्च १।२६ तथा देखें : द्रोण :- वत्स कर्ण। तेजस्वि ब्राह्मण्यम्। कालेसम्बोधितो-ऽस्मि।

३ वही, पृ० ३८३

४ पुत्र दुर्योधन। अहं तव प्रभावी ननु। पञ्च, पृ० ३८३ एवं १।३६

५ शकुनि :- (आत्मगतम्) अहो शठः खल्वाचार्यः स्वकार्यलोभान्मां सान्त्वयति। वही पृ० ३८४

६ वही ३।२, १२, १६, १६

का विवेक, त्वरित बुद्धि एवं वाक्पटुता के दर्शन होते हैं। उन्हें उप-प्रतिनायक के रूप में देखते समय पग-पग पर द्रोणाचार्य के प्रयासों में उनकी सहायता को देखना चाहिए, शकुनि की चालों का सही उत्तर पितामह भीष्म के ही पास है जो द्रोणाचार्य का हर दृष्टि से मार्गदर्शन करते हैं।

संक्षेप में द्रोणाचार्य के माध्यम से, दुर्योधन से पाण्डवों के लिए राज्य संभाग के प्रस्ताव की कथा के द्वारा नाटककार दुर्योधन के एक अपौराणिक स्वरूप को उभारने में सफल रहा है। किसी कवि, नाटककार या लेखक की यही सफलता होती है कि वह कथानक अथवा विषय के मार्मिक स्थल को पहचाने। महाभारत की कथा के इस अंश को नाटककार ने जिस प्रकार की कल्पना के द्वारा गढ़ा है वह प्रशंसनीय है। 'पाण्डवों को मैं सूचिकाग्र भाग भर भी भूभाग न दूंगा,' दुर्योधन के इस कलंक को मिटाने के लिए सामाजिक के मस्तिष्क को कितना तैयार किया है कवि ने, और उसमें कवि कितना सफल रहा है इसे कहने की आवश्यकता नहीं है। भीष्म, द्रोण, शकुनि एवं कर्ण तथा अभिमन्यु के चरित्र के सहारे नाटककार ने अपना अभीष्ट जिस प्रकार सिद्ध किया है उसके निमित्त 'पञ्चरात्रम्' स्वयं परीक्षणभूमि है। यहां द्रोणाचार्य के माध्यम से कलहप्रिय, दम्भी, दुर्व्यसनी एवं क्रूर दुर्योधन का कहीं नाम भी नहीं है और दर्शक को एक नवीन, सच्चरित्र दुर्योधन के दर्शन होते हैं जो सत्य संध है, दृढ़प्रतिज्ञ एवं पूर्णत: शिष्ट है।

<u>भास के पांच एकाङ्की</u>

पाश्चात्य नाट्यपरम्परा में एकांकी रूपकों का विकास एक पृथक विधा के रूप में हुआ है क्योंकि 'कर्टेनरेजर' जैसाकि इस अभिधान से ही स्पष्ट है इनका प्रयोग रूपकों के आरम्भ अथवा मध्य में दृश्य-परिवर्तन आदि समयसापेक्ष अवसरों पर दर्शकों का मनोरञ्जन करने के उद्देश्य से किया जाता था। इसके विपरीत संस्कृत की नाट्य-शास्त्रीय परम्परा में एकाङ्की विधा नितान्त स्वतंत्र विधा है। जिसकी मौलिकता, उसके नाना भेदों-उपभेदों (उप रूपकों) में कथावस्तु, नेता एवं रस के भेदक धर्म के रूप में ने से स्वत: स्पष्ट है। इसी सन्दर्भ में ईसा के जीवन-प्रसंगों को रूपायित करके उन्हें एकांकियों के रूप में प्रस्तुत करने की परम्परा को भी एकांकी विधा का उत्स मानना न तो उचित है न ही तर्कसम्मत है जैसा कि हिन्दी के कुछ विद्वानों ने माना है।

प्रकृत सन्दर्भ में महाकवि भास के एकांकी रूपकों का ~~महत्त्व~~ स्वरूप उनकी प्राचीनता और विविधता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो जाता है । महाकवि भास के मध्यमव्यायोग, दूतवाक्यम्, दूतघटोत्कचम्, कर्णभारम् तथा ऊरुभङ्गम् इन पांचों एकांकियों का सम्बन्ध महाभारत के प्रसिद्ध पात्रों से है । इन कथांशों का मूल भी महाभारत है, किन्तु उनके निरूपण एवं प्रस्तुत करने की विधा के कारण उनकी मौलिकता सर्वतोग्राही है । मध्यमव्यायोग की कथा पाण्डवों के वनवास के समय की है जिसमें भीम और घटोत्कच के मध्य संघर्ष और घटोत्कच की शक्ति के प्रदर्शन के साथ वन में भीम की प्रेयसी हिडम्बा और ब्राह्मणों के कार्य के लिए समर्पित भीम के चरित्र की कथाग्रथित है । `दूतवाक्यम्` महाभारत युद्ध के आरम्भ में कृष्ण के दौत्य से सम्बद्ध है । अभिमन्यु-वध के उपरान्त कृष्ण द्वारा पुनः इस महायुद्ध की विभीषिका को रोकने के प्रयास में `घटोत्कच` को दूत के रूप में भेजने की कथा का उपयुक्त `दूतघटोत्कचम्` का विषय है । कर्णभारम् में कर्ण की दानवीरता (ब्राह्मणरूपी इन्द्र को कवच कुण्डल का दान) की कथा है तो गदायुद्ध में पराजित दुर्योधन की भावनाओं के साथ उसके मनोरथ के भग्न हो जाने से उत्पन्न दुर्योधन की करुणा को `ऊरुभङ्गम्` में प्रस्तुत किया गया है ।

महाभारत की विस्तृत कथावस्तु से इन छोटे-छोटे प्रसंगों को रूपकों की परिधि में प्रस्तुत करने की प्रक्रिया में भास पुनः अग्रणी एवं सम्भवतः प्रथम नाटककार हैं ।

<u>भासकृत मध्यमव्यायोग</u>

मध्यमव्यायोग इस एकांकी में कवि ने मध्यम इस श्लिष्ट प्रयोग द्वारा भीम द्वारा घटोत्कच की वीरता की परीक्षा एवं कथावस्तु में गृहीत ब्राह्मणपुत्र मध्यम (मझला) के त्याग की कथा को प्रस्तुत किया है । किन्तु उनका उद्देश्य भीम द्वारा ब्राह्मण परिवार की रक्षा और घटोत्कच की मातृभक्ति को प्रदर्शित करना मुख्य रहा है।

कथानक में नवीनता होते हुए भी गति का अभाव है । ब्राह्मणों की दीनता, मध्यम ब्राह्मण की त्याग-भावना और उससे सम्बन्धित विवाद में कुछ रोचकता है । किन्तु भीम और घटोत्कच के विवाद में यद्यपि रोचकता उत्पन्न करने का प्रयास स्पष्ट परिलक्षित होता है किन्तु कवि उसमें अधिक सफल नहीं रहा है ।

नायक-प्रतिनायक योजना

जहां तक नायक-प्रतिनायक का प्रश्न है सम्पूर्ण कथावस्तु घटोत्कच को आवेष्टित किए हुए है और वह भी उसकी मातृ भक्ति के कारण । अत: उसे नायक माना जा सकता है । वह एक धीरोद्धत नायक है । ब्राह्मणों और भीम के साथ प्रारम्भिक विवाद में उसकी धीरता के स्पष्ट लक्षण भी मिल जाते हैं । किन्तु भीम के साथ शक्ति परीक्षण में उसका औद्धत्य परिलक्षित हुए बिना नहीं रहता । अपनी कर्तव्यनिष्ठा के परिप्रेक्ष्य में ब्राह्मण पुत्र के बलिदान की सम्भावित पीड़ा से वह भी प्रभावित है । यह भी उसकी धीरता का ही पर्याय है । उसका यह स्वरूप उसके नायकत्व का भी समर्थन करता है[1]। गुणतस्कर घटोत्कच की मातृ भक्ति तो भीम के भी मन में स्पृहा उत्पन्न कर देती है[2]।

दूसरी ओर भीम (प्रतिनायक) की योजना का उद्देश्य ही घटोत्कच की शक्ति परीक्षा में निहित है ऐसा प्रतीत होता है[3]। यद्यपि भीम की आरम्भिक मन:स्थिति मात्र ब्राह्मणों की रक्षा है । कीथ साहब का अनुमान भी सत्य हो सकता है कि हिडिम्बा ने भीम से भेंट करने का यही सरल उपाय सोचा है क्योंकि उस वन में पाण्डवों की उपस्थिति से वह परिचित है । इसे ही सम्भवत: उसने भीम के कान में कहा है । तदनन्तर भीम का कथन, `आत्या राक्षसी न समुदाचारेण` से भी इसी का समर्थन होता है ।

भीम के कार्य-कलापों में, सम्वादों में, सर्वत्र घटोत्कच को उपेक्षित करने और उसके वीर रूप को उभारने की प्रक्रिया के दर्शन होते हैं । दोनों के सम्वादों में गति एवं गम्भीरता के अभाव में भी संघर्ष को स्थान दिया गया है तथा यह युद्ध जो कि मात्र वाक्युद्ध तक सीमित नहीं रहता ।

घटोत्कच को नायक एवं भीम को प्रतिनायक मानने में किंचित् विवाद हो सकता है किन्तु भास की क्रान्ति-दृष्टि, घटोत्कच के औद्धत्य का स्वरूप, कथानक की

---

१ म० व्या० श्लोक ३२   २ वही ३७

३ भीम :- यदि ते शक्तिरस्ति बलात्कारेण मां नय ।

वही पृ० ४३३

पृष्ठभूमि एवं घटोत्कच सम्बन्धी अप्रस्तुत प्रशंसा यह सभी मिलाकर घटोत्कच को नायकत्व प्रदान करने के लिए पर्याप्त हैं। जहां तक इस सम्बन्ध में भास की क्रान्ति दृष्टि का प्रश्न है भास द्वारा नाट्यशास्त्रीय नियमों[1] के विरुद्ध यहां स्त्री हिडिम्बा के कारण उत्पन्न इस संग्राम की योजना स्वत: में प्रमाण है। अत: भास ने प्रकृत प्रसंग में पुत्र एवं पिता को यदि क्रमश: नायक-प्रतिनायक की भूमिका में प्रस्तुत किया है तो कोई अनौचित्य नहीं है। कीथ महोदय भी इस एकांकी में घटोत्कच की प्रमुखता को स्वीकार करते हैं[2]।

पौराणिक संस्कारों एवं परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में किसी भी आदर्श पुरुष को प्रतिनायक मानने में हमारा अभिमान डोल जाता है। यही कारण है महारथी से वैसे बिना घटोत्कच को नायक मान पाना कठिन है। वह भी मानुषमदी राक्षस को संस्कृत के एक रूपक का नायक मान बैठना उचित प्रतीत नहीं होता। किन्तु भास के अन्य नाटकों का अध्ययन करने पर उनकी क्रान्ति दृष्टि का ज्ञान होता है। और तब घटोत्कच को नायक रूप में स्वीकार करना कठिन प्रतीत नहीं होता है। यह मान लेने पर भीम का प्रतिनायकत्व स्वत: स्थिर हो जाता है। इस दृष्टि से भीम घटोत्कच को उत्तेजित कर उसके शौर्य, पराक्रम एवं शक्ति का बोध कराता है। प्रतिनायक भीम के अभाव में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न ही नहीं होती क्योंकि मध्यम ब्राह्मण तो पहले ही आत्मार्पण कर चुका था। घटोत्कच की माया का उत्तर देते हुए उसका प्रतिकार, युद्ध में उसके प्रहार और अन्त में उनका आत्मसमर्पण सभी मिलाकर जहां भीम, प्रतिनायक की भूमिका को क्षमतापूर्वक प्रस्तुत करता है वहीं वह नायक घटोत्कच के नायकत्व को उस सीमा तक पहुंचाता है जहां भीम को भी अनुभव होने लगता है कि अब उसके मुख्य प्रतिद्वन्द्वी दुर्योधन की पराजय अवश्यम्भावी है[3]। यही किसी प्रतिनायक की सफलता है।

<u>वृत्तान्तम्</u>

महाभारत युद्ध के आरम्भ में ही दुर्योधन को युद्ध से रोकने की

---

१ अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो। द० रू० ३।६१

२ सं० ना० पृ० ८६ और १००

३ भीम:- (आत्मगतम्) भो: सुयोधन! वर्धते ते शत्रुपक्ष: [illegible]

भावना से श्री कृष्ण को दूत के रूप में प्रस्तुत करते हुए भास ने महाभारत के इस कथांश को एक नवीन आयाम दिया है। नाटकीयता की दृष्टि से यह रूपक अत्यन्त सुन्दर है। दुर्योधन का एका-लाप, द्रौपदी-चीरहरण के चित्र पर उसकी भावाभिव्यक्ति एवं कृष्ण-दुर्योधन के सम्वाद हृदयावर्जक हैं। पात्रों की योजना की दृष्टि से भी यह रूपक सफल है जिसका अधिकांश दुर्योधन के एकालाप अथवा कृष्ण से उसके सम्वाद में समाप्त होता है। दिव्यास्त्रों की अवतारणा की पुनरावृत्ति में उनका मानवीकरण और अन्त में धृतराष्ट्र द्वारा क्रुद्ध कृष्ण को प्रसन्न करने के प्रयास में भास की नारायण भक्ति भी प्रकट होती है।

दूतवाक्यम् में कृष्ण के नायकत्व की स्थापना के लिए हमारे पास मुख्य तर्क उनके द्वारा दौत्य कर्म की स्वीकृति, उनका नारायण रूप, उनके अस्त्रों का मानवीकरण, धृतराष्ट्र द्वारा उनके लिए अर्घ्य पाद्य आदि का लाना माना जा सकता है। प्रकारान्तर से दुर्योधन को मृत्यु के सन्निकट पहुंचाने के लिए उसे युद्ध के लिए उत्तेजित करने को भी इसी दृष्टि से देखा जा सकता है[1]।

जैसा कि मध्यमव्यायोग में हमने देखा है- भीम घटोत्कच किसी को भी नायक-प्रतिनायक माना जा सकता है और दोनों ही अवस्थाओं में अपने पूर्वाग्रह को तर्कों से सिद्ध किया जा सकता है। यही बात दूतवाक्यम् पर भी लागू होती है और यही बात दूतघटोत्कचम् में भी हम देख सकते हैं। इसका एक मुख्य कारण यह भी है कि प्रतिनायक सम्बन्धी उपलब्ध लक्षण भास के बहुत परवर्ती हैं और उनके प्रतिनायकों को किसी भी प्रकार से लक्षणों की सीमा में बांध पाना कठिन है।

नायक प्रतिनायक निर्धारण

हम देख चुके हैं कि भरत प्रतिनायक के लक्षण पर मौन हैं। शकार सम्बन्धी उनका लक्षण 'चारुदत्तम्' में 'शकार' को छोड़कर किसी भी नायक विरोधी चरित्र पर लागू नहीं होता ऐसी परिस्थिति में भास के प्रतिनायकों को व्याख्यायित करने के लिए कहीं-कहीं नये लक्षण की आवश्यकता होती है। विशेषकर महाभारत

---

१ देखें : महाकवि भास का दूतवाक्यम् एकांकी - डा० मि० आलोक, २६।२।६७

सम्बन्धी कथानकों पर आधारित उनके रूपकों के प्रसंग में दुर्योधन की अहं भावना को लेकर चित्र फलक के प्रसंग में उसकी अभिरुचि और उसके द्वारा कृष्ण को बन्दी बनाने के उपक्रम के आधार पर उसे प्रतिनायक कोटि में रखा जा सकता है जिसके समर्थन में कृष्ण के कथन को भी उद्धृत किया जा सकता है[१]। किन्तु कृष्ण द्वारा दुर्योधन को उपेक्षित करने के निमित्त प्रयुक्त शब्दावली कृष्ण के नायकत्व की दृष्टि से अधिक उपयुक्त नहीं है, यद्यपि उसे यथार्थ के निकट एवं कृष्ण के उद्देश्य के निकट माना जा सकता है।

भास यहां कृष्ण के नारायण रूप को उभारना चाहते हैं। किन्तु क्या वे कृष्ण को ही इस रूपक का नायक भी मानते हैं? यह एक मौलिक प्रश्न हो सकता है। क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने नारायण को प्रतिनायकत्व प्रदान कर प्रतिनायक भूमिका (जिसे नायक ही माना गया है), गौरवान्वित करना चाहते हैं। ऐसा करने से उनके नायकत्व की क्षति हो सकती है किन्तु उनका नारायणत्व अखण्डित ही रहता है। अस्तु, भास का दृष्टिकोण जो भी रहा हो इतना तो स्पष्ट ही है कि नाटककार दुर्योधन को पापी व्यसनी और लोभी तो सिद्ध नहीं ही करना चाहता इसके लिए प्रमाणों का अभाव नहीं है। रूपक का आरम्भ होते ही दुर्योधन का एकालाप संयोजित किया गया है। वह सभी के प्रति जितना नम्र है उतना ही अपने आदेशों के परिपालन कराने में कठोर। जिसके पीछे उद्देश्य है कृष्ण को नीचा दिखाना किन्तु दुर्योधन का यह कुचक्र धूलधूसरित हो जाता है, क्योंकि कृष्ण के अद्भुत चरित्र, उनके मायावी रूप एवं चमत्कारी स्वरूप से अभिभूत सभी जन प्रभावित हो उठते हैं और कृष्ण के प्रवेश करते ही सभी उठकर खड़े हो जाते हैं। यहां तक कि दुर्योधन स्वयं अपने सिंहासन से गिर पड़ता है।

नाटककार ने दोनों ही भूमिकाओं को अभिनय के लिए पर्याप्त अवसर दिया है, दोनों ही पूर्वाग्रही हैं। यदि नायक कृष्ण यह मानकर चलते हैं कि उनका मिशन सफल नहीं होगा तो प्रतिनायक दुर्योधन यह ठानकर बैठा है कि आज कृष्ण का सारा दम्भ वह दूर कर देगा। नायक कृष्ण असफलता की सम्भावना को देखते हुए भी

---

१ दुष्टवादी गुणद्वेषी शठः स्वजननिर्दयः।
दुर्योधनो हि मां दृष्ट्वा नैव कार्यं करिष्यति ।। -- दूतवा० १६

२ दूतवा० १६

धैर्य धारण किए हैं किन्तु प्रतिनायक दुर्योधन आरम्भ से ही आक्रामक रूप से व्यूह रचना कर लेता है जिससे कि वह कृष्ण को अपमानित कर सके[1]। दृष्टिभेद से यह भी कहा जा सकता है कि दुर्योधन की भूमिका का आरम्भ उसके नायकत्व के अनुकूल है । वह अपनी राज्य सभा में मंत्रणा करता है सेनापति की नियुक्ति के लिए किन्तु कृष्ण के पाण्डव पक्षपात से वह क्रुद्ध है वह सोचता है यदि कृष्ण नारायण हैं तो उन्हें तटस्थ होना चाहिए और यदि शत्रु पक्ष में हैं तब तो उन्हें बन्दी बनाने का औचित्य स्वत: सिद्ध है ।

पाण्डवों के लिए उनका अंश मांगते हुए कृष्ण की उक्तियों में कुल समुदाचार का परिपालन है और वे युधिष्ठिरादि पाण्डवों की याचना को दुर्योधन के समक्ष स्पष्ट शब्दों में प्रकट करते हैं । किन्तु 'दायाद्य' के आधार पर अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नायक की भांति दुर्योधन इस पर एक लम्बे विवाद का आरम्भ कर देता है । दोनों के वाग्युद्ध में कवि ने तर्क के साथ औचित्य अनौचित्य की व्याख्या करने का प्रयास किया है जिसमें पाण्डवों और कौरवों के मध्य राज्य के वास्तविक अधिकारी होने के बारे में दुर्योधन के तर्कों में बल है[2]। किन्तु नि:सन्देह रूप से पाण्डवों के पक्ष में कृष्ण के तर्क अधिक उदाम नहीं हैं[3]। इसी कारण कृष्ण इस विवाद को टालना चाहते हैं और दुर्योधन को रोष रहित होकर युधिष्ठिर प्रभृति पाण्डवों की प्रणयपूर्ण याचना पर ध्यान देने का आग्रह करते हैं[4]। कृष्ण की इस कूटनीति पर दुर्योधन की उक्ति में पुन: धीरोद्धत नायक के अनुकूल गर्वोक्ति है कि 'राज्य न तो मांगा जाता है न ही दीन याचक को दिया जाता है । हां, यदि पाण्डवों में शासन की कामता है तो साहसपूर्वक युद्ध करके उसे छीन लें अन्यथा वन में जाकर तपस्या करें[5]।'

---

१ दुर्योधन:- मा तावद् भो बादरायण ! किं किं कंसभृत्यो दामोदरस्तव पुरुषोत्तम:।
.... आ अपध्वंस ।
तथा - यो ऽत्र केशवस्य प्रति उत्थास्यति, स मया द्वादशसुवर्णभारेण दण्ड्य: ।
--दूतवा० पृ० ४४३, ४४४

२ दूतवा० २१ ३ दूतवा० २२

४ वही २३ ५ वही २४

कथानक किंवा विवाद को बार-बार बढ़ाने का उपक्रम कृष्ण ही करते हैं, कौरव कुल की निन्दा[1] एवं उसके नाश[2] की बात कहना तथा दुर्योधन को व्यक्तिगत रूप से अन्योक्ति द्वारा 'कंक'[3] कहना इसका प्रमाण है। जिसके विपरीत दुर्योधन में युधिष्ठिरादि सभी पाण्डवों के प्रति शिष्टता के दर्शन होते हैं।[4] कृष्ण के व्यक्तिगत आरोपों को भी उसी भाषा और विधा में उत्तरित करते हुए दुर्योधन कृष्ण को अनुत्तरित कर देता है[5]। दुर्योधन के तर्कों (जिन्हें तार्किक आक्रमण कहना अधिक उचित होगा) द्वारा कृष्ण हततविहत हो जाते हैं। कंस-वध एवं जरासंध-वध के सन्दर्भ में दुर्योधन के तर्कों एवं प्रश्नों पर कृष्ण के उत्तर बुरुसात्मक हैं, निष्प्राण हैं।[6] पराजित कृष्ण द्वारा दुर्योधन से यह कहने पर कि 'दूसरों के गुण-अवगुणोंको भूलकर भाइयों से स्नेह करना चाहिए' दुर्योधन कृष्ण को निरस्त्र करते हुए कहता है 'पाण्डव तो देवपुत्र हैं (जैसाकि आप कहते हैं) और हम मनुष्य हैं, हम दोनों बन्धु कैसे हो सकते हैं :--

दैवात्मजैर्मनुष्याणां कथं वा बन्धुता भवेत् ।
सम्बन्धो बन्धुभि: श्रेयान् लोकयोरुभयोरपि ।।

--दूतवाक्यम् श्लोक -३०

अन्त में कृष्ण जब तर्क द्वारा दुर्योधन को नहीं समझा पाते हैं तब वे उसे उपेक्षित करते हैं। कृष्ण की पराजय एवं दुर्योधन को उपेक्षित करना यह दोनों कर्म भी कृष्ण की अपेक्षा दुर्योधन के नायकत्व की पुष्टि में प्रस्तुत किए जा सकते हैं, क्योंकि इस दृष्टि से जहां कृष्ण का उद्देश्य दूषित हो गया है वहीं उसकी विधा भी ठीक नहीं है। क्योंकि प्रथमत: अर्जुन की जब यशोगाथा[7] फिर दुर्योधन पर अर्जुन के अनुग्रह[8] और फिर उनकी[9] सभी का युक्तिपूर्ण एवं वीरोचित उत्तर देने में दुर्योधन पीछे नहीं रहता[10]। कृष्ण के कुरुकुलकलंक, अयशोलुब्ध, जैसे अपशब्दों को वह गोपालक जैसे

---

१ वही २२

२ शीघ्रं भवेत् कुरुकुलं नृप । नामशेषम् - वही २३ ३ दूतवा० २५

४ वही १६ ५ वासु०- अलं तन्महोषतोवाशुम् | वही पृ.०४४६

६ द्रष्टव्य दूतवा० २०,२१,२४,२५, २६, २७ एवं २८

७ वही ३२ ८ वही ३३ ९ वही ३४

१० वही ३५

छोटे से शब्द द्वारा धराशायी करता है और स्त्री (पूतना) घोड़े (तुरंगवेध केशीराक्षस) तथा पशुओं को (पशुवेध में राक्षसों को) मारने तक सीमित कृष्ण की वीरता के समक्ष प्रश्नचिह्न लगाता है । जिसके उपरान्त कृष्ण जाने का उपक्रम करते हैं । किन्तु दुर्योधन उन्हें बन्दी बनाने के प्रयास करता है और असफल होता है ।

फिर भी कृष्ण इस सीमा तक विचलित हो जाते हैं कि वे पाण्डवों का कार्य (दुर्योधन-वध) स्वयं करने का उपक्रम करते हैं, यह उनकी पराजय है और तभी उनकी सहायता के लिए उनके आयुध उपस्थित होते हैं । जो कृष्ण के नारायणत्व के परिचायक हैं एवं अद्भुतरस की दृष्टि से उपयोगी हैं ।

कृष्ण एवं दुर्योधन के इस तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों को ही नायकत्व से अलंकृत किया जा सकता है किन्तु औद्धत्य एवं गम्भीरता की दृष्टि से दुर्योधन का चरित्र अधिक उपयुक्त है । कृष्ण के नाना कथनों से दुर्योधन के औद्धत्य को बल मिलता है जिसे वह धीरता गम्भीरता के साथ निभाता है ।

'लुब्ध धीरोद्धत: स्तब्ध: पापकृद् व्यसनी रिपु:' की उत्तरकालिक परिभाषा के सांचे में न तो कृष्ण ही ढले हैं न ही दुर्योधन । फिर भी उनके बीच प्रतिद्वन्द्विता है, अत: किसी न किसी को प्रतिनायकत्व दिया जाना चाहिए । इस पूर्व-पक्ष के साथ कृष्ण को प्रति-नायकत्व देने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए । विशेषकर इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि कृष्ण के चरित्र के माध्यम से ही दुर्योधन को उत्साह और उस उत्साह की अभिव्यक्ति का अवकाश मिल पाता है । दुर्योधन की भूमिका का आरम्भिक स्वरूप तो उसे नायकत्व देने में स्वत: पर्याप्त है ।

दूसरी ओर यदि कृष्ण को नायक मान लिया जाए तो यही कहा जा सकता है कि प्रतिनायक दुर्योधन नायक पर भारी पड़ता है और यदि कृष्ण का नारायण रूप न ग्रथित किया गया होता तो उसका स्वरूप नितान्त पाण्डु होता । नारायणत्व के होने पर भी कृष्ण के कथनों में तर्क का अभाव एवं प्रतिनायक दुर्योधन के तर्कों के समक्ष बार-बार उनका आत्मसमर्पण एक अरुचि उत्पन्न कर देता है ।

इसके विपरीत कृष्ण का प्रतिनायकत्व दुर्योधन की भूमिका को

दृष्टि से अधिक सशक्त है । अत: तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में यही प्रतीत होता है, भास ने पुन: नर दुर्योधन के रूप में लोक-विश्रुत प्रतिनायक को नायकत्व देकर तथा नारायण कृष्ण को प्रतिनायकत्व प्रदान कर एक क्रान्ति दृष्टि का परिचय दिया है । यह क्रान्ति-दृष्टि उत्तरकालिक लक्षण ग्रन्थों के ही नहीं अपितु प्राचीन परम्पराओं, महाभारत एवं पौराणिक परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में भी महत्त्वपूर्ण है । नारायण के प्रतिद्वन्दी के चरित्र को इस कोटि तक उठाने में ही नाट्यकर्म की चरितार्थता है । दुर्योधन को यदि प्रतिनायक माना जाए तो भी कहा जा सकता है कि उसका चरित्र बहुत श्रम के साथ ग्रथित हुआ है । वह इतना तेजस्वी है कि कृष्ण को बार-बार आत्मसमर्पण करवा लेता है और अन्त में उन्हें अपने सभी शास्त्रों के आह्वाहन की आवश्यकता अनुभव होने लगती है ।

दूतघटोत्कचम्

भास के एकांकी रूपकों में दूतघटोत्कचम् का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । प्रसिद्ध कथावस्तु, उदात्त नायक (पात्र), वीर रस एवं अभिनय का अवकाश, चुभते हुए सम्वाद और करुणरस का समावेश यह ऐसे तत्त्व हैं जिनकी योजना में कवि अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर सका है ।

अभिमन्यु-वध की भयंकर परिणति के ज्ञाता कृष्ण एकबार पुन: कौरवों-पाण्डवों में सन्धि का प्रस्ताव लेकर घटोत्कच को धृतराष्ट्र के समीप भेजते हैं । जिसके श्रोता एवं वादी हैं दुर्योधन, दु:शासन एवं शकुनि । दु:शला एवं गान्धारी की भूमिकाएं करुणरस की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं ।

अभिमन्यु-वध की पीड़ा को सह पाना ही धृतराष्ट्र के लिए कठिन है उस पर अर्जुन प्रतिज्ञा `जिसने भी अभिमन्यु का वध किया है उसे कल सूर्यास्त तक मैं मार डालूंगा` को सुनकर दु:शला की पीड़ा ने, उत्तरा के वैधव्य ने और धीरे-धीरे संपूर्ण कौरवों के नाश के भय ने धृतराष्ट्र की करुणा को बढ़ा दिया है ।

करुणरस के इन स्थलों एवं स्त्री पात्रों की उपस्थिति के कारण इस रूपक को अङ्क या उत्सृष्टिकाङ्क मान लेना[१] उचित नहीं है । लीक से हटकर चलने

---

१ देखें : पूना से प्रकाशित `दूतघटोत्कचम्` की भूमिका में देवधर एम० ए० का मन्तव्य ।

वाले भास से ऐसी अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए ।

अस्तु, कृष्ण के सन्धि प्रस्ताव से प्रत्यक्षतः धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन एवं घटोत्कच सम्बद्ध हैं । धृतराष्ट्र को यह प्रस्ताव सम्बोधित है अतः वे तथा सन्देश वाहक घटोत्कच एवं उसी के समक्ष कृष्ण को भला बुरा कहकर घटोत्कच को उत्तेजित करने एवं उसके साथ विवाद में उलझने के कारण दुर्योधन यह तीन पात्र मुख्य हैं ।

करुण वातावरण में आरम्भ यह रूपक वीर रस प्रधान है ।जिसके लिए दुर्योधन घटोत्कच के सम्वाद एवं शकुनि तथा दुःशासन की कटूक्तियाँ इस रस में घृताहुति नहीं हैं ।

घटोत्कच का नायकत्व

भास ने एकबार पुनः राक्षसीपुत्र घटोत्कच को नायकत्व प्रदान करते हुए उसे वीरता की साक्षात् प्रतिमा के रूप में अवतरित किया है । उसमें किसी नायक के सभी आवश्यक गुण हैं । वह मध्यम व्यायोग से अधिक प्रभावशाली ढंग से अपनी भूमिका निभाता है । वह दुर्योधन, शकुनि एवं दुःशासन की कटूक्तियों का मुंहतोड़ उत्तर देता है । दुर्योधन के तर्कों के समक्ष `दूतवाक्यम्` के कृष्ण के समान उसके तर्क असंगत, निर्बल अथवा युक्तात्मक नहीं हैं । शकुनि के यह कहने पर कि जिह्वा संचालन से यह पृथ्वी नहीं जीती जा सकती[1] तो घटोत्कच शकुनि को ललकारते और धिक्कारते हुए कहता है --`ओ जुआड़ी, पांसों को छोड़कर युद्ध की तैयारी करो यह युद्धभूमि है, यहाँ न तो स्त्रियों को हरण करना है न ही कूटनीति की लड़ाई है, यहां तुम्हें बाणों के बल पर प्राणों को पण पर लगाना होगा[2]। घटोत्कच का यह कथन कितनी चोट करता है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण प्रकुपित (क्रुद्ध) दुर्योधन के उस कथन में होता है जब वह अपने शील को भूलकर दूत-घटोत्कच से कह उठता है - ` तुम राक्षसीपुत्र हो अतएव इस प्रकार (मेरे मामा को) बुरा भला कह रहे हो, यह जान लो कि हम भी बहुत रौद्र एवं राक्षसों के समान ही उग्र स्वभाव के लोग हैं[3]। दुर्योधन के इस प्रकार के आरोप (कि तुम तो राक्षसीपुत्र-स्वयं राक्षस हो) का कितना समीचीन उत्तर घटोत्कच देता है

---

१ यदि स्याद् वाक्यमात्रेण निर्जितेयं वसुन्धरा ।
वाक्ये वाक्ये यदि भवेद् सर्वक्षत्रक्षयः कृतः ।। --दूतघटोत्कचम् -४४

२ वही ४५

३ दूतघटो - - - - - - - -वयमपि खलु रौद्राः राक्षसोग्रस्वभावाः ।
--दूतघटोत्कचम् -४६ ।

सम्भवतः उसका दूसरा उदाहरण सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में मिलना असम्भव है । वह कहता है--`शान्तं पापं शान्तं पापम्। राक्षसेभ्योऽपि भवन्त एव क्रूरतराः । कुतः-

न तु जतुगृहे सुप्तान् भ्रातॄन् दहन्ति निशाचराः
शिरसि न तथा भ्रातुः पत्नीं स्पृशन्ति निशाचराः ।
न च सुतवधं संख्ये कर्तुं स्मरन्ति निशाचराः
विकृतवपुषोऽप्युग्राचाराः घृणा न तु वर्जिता ।।

--दूतघ० ४७

अर्थात् आप लोग तो राक्षसों से भी क्रूर है क्योंकि लाक्षागृह में भाइयों को जला डालना, भ्रातृ पत्नी के साथ अभद्रता, युद्ध में पुत्र की हत्या जैसे ब जघन्य-कर्म तो राक्षस भी नहीं करते । घटोत्कच के इस कथन का कोई भी उत्तर दुर्योधन, दुःशासन और शकुनि के पास नहीं है तभी तो दुर्योधन कहता है - आप दूत बनकर आए हैं और हम दूतवध को उचित नहीं मानते अतः आप सन्देश लेकर आएं, बस[१]। किन्तु घटोत्कच न तो कायर है और न तो दुर्योधन की कृपा का आकांक्षी । अतः वह कहता है `प्रहरध्वं समाहताः` आओ, तुम सभी मिलकर मुझपर प्रहार करो । मैं अभिमन्यु नहीं हूं जो धनुष की डोरी टूट जाने से निहत्था हो चुका होऊँ।' घटोत्कच के इस कथन में भी कौरवों की कायरता, युद्धोचित मर्यादाओं के उल्लंघन की निन्दा है एवं स्वयं की शक्ति का उद्घोष है ।

अपने सम्पूर्ण चरित्र में घटोत्कच एक वीर, युद्धप्रिय, तर्कपटु, उद्धत, किन्तु धीरनायक है । वह आज्ञापालक है और शिष्टाचार से पूर्णतः परिचित है। धृतराष्ट्र के समक्ष वह नतमस्तक है । उनके शान्त कराने पर वह शान्तचित्त होकर दुर्योधन के सन्देश का वाहक बनता है । वह राक्षस होते हुए भी दुर्योधन से श्रेष्ठ है ।

<u>प्रतिनायक दुर्योधन</u>

धृतराष्ट्र के साथ दुर्योधन के विवाद एवं बीच-बीच में शकुनि के आक्षेपों में कुशल है । दूतवाक्यम् में कृष्ण के साथ विवाद में दुर्योधन का जो दुर्बुद्धि रूप दिखायी देता है, यहां वह और भी प्रौढ़ता को प्राप्त होता है । यहां दुर्योधन

---

१ वही ४

कुल समुदाचार का भी पालन करता है[1] और एक वीर क्षत्रिय के समान कृष्ण के सन्देश का उत्तर देते हुए दो टूक शब्दों में कहता है --

'तिष्ठ त्वं सह पाण्डवैः प्रतिवचो दास्यामि ते सायकैः ।'

कृष्ण तुम पाण्डवों के साथ ही रहो (मेरे या मेरे वंश के प्रति सद्भावना अपने पास ही रखो) मैं तुम्हें तुम्हारी सद्भावना का उत्तर अपने बाणों द्वारा युद्धभूमि में ही दूंगा । दुर्योधन की इस सन्देश में निर्भीकता, औद्धत्य, दर्प, असहिष्णुता, प्रचण्डता और विकत्थना सभी की सामूहिक अभिव्यञ्जना है । अपनी संक्षिप्त भूमिका में भी घटोत्कच का चरित्र इतना प्रभावशाली है कि उसे नायक मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती । इस दृष्टि से दुर्योधन का प्रतिनायकत्व स्वतः सिद्ध होता है ।

यह गुत्थी जितनी सरलता से सुलझती है, दुर्योधन को नायक मानने के विवाद के साथ उतनी ही शीघ्रता से उलझ जाती है । घटोत्कच की अपेक्षा दुर्योधन के गुणों की मौलिकता, उसके वीरोचित स्वभाव, उसके गाम्भीर्य एवं गौरव[1] के सन्दर्भ में उसे नायक माना जा सकता है । सम्पूर्ण कथानक दुर्योधन के चारों ओर घूमता है इस कारण भी उसे नायक माना जा सकता है ।

दुर्योधन का नायकत्व

अतः इस विवाद के निराकरण के लिए हम यदि इसे इस रूप में देखें कि कौन सी भूमिका पूरक है तो यह विवाद समाप्त किया जा सकता है । सम्पूर्ण कथानक जो अभिमन्युवध की प्रतिक्रिया से सम्बद्ध है उसे नाटककार ने दुर्योधन किंवा कौरवों के शीघ्र विनाश की सम्भावनाओं के सन्दर्भ में नियोजित किया है । दुर्योधन के चारित्रिक गुणों का प्रदर्शन, उसके औद्धत्य, उसकी महात्वाकांक्षा,[2] उसका वीरोचित दर्प,[3] शत्रुपक्ष को हानि पहुंचाने पर उसकी प्रसन्नता,[4] शकुनि की मन्त्रणा के विरुद्ध उसकी पितृभक्ति[6] एवं शिष्टाचार[5] । शिष्टाचार के साथ ही पिता के प्रश्नों का तर्कपूर्ण उत्तर, अपने पक्ष

---

१ दूतघटो० ४८, ५१ २ दूतघटो० ११,१२ ३ वही- ५१ ४ वही-११,१

५ तातु ! मार्मैवम् । यथा तथा भवतु । तत्र भवन्तं तातमभिवादयिष्यामः ।

-- वही पृ० ४६४

६ वही १८

की रक्षा के लिए उसके द्वारा धीरोद्धतनायक के अनुकूल छलकपट का क आश्रय लेना[1] और अर्जुन की प्रतिज्ञा को पूर्ण होने से रोकने का उसका प्रयत्न,[2] उसके नायक होने की सम्भावनाओं को सशक्त करता है ।

प्रतिपक्ष के विनाश की व्यूहरचना तथा दूत को तर्क के साथ अनुत्तरित करते हुए उसके द्वारा बार-बार उत्तेजित किए जाने पर भी स्वयं पर सन्तुलन रखना और दूत के प्रति किसी राजा के अनुकूल आचरण करते हुए दुर्योधन एक धीरोद्धत नायक का आदर्श प्रस्तुत करता है । उसके नायकत्व को घटोत्कच की प्रतिद्वन्द्विता एवं धृतराष्ट्र के तर्कों एवं दु:शासन एवं शकुनि की भूमिकाओं द्वारा भी उभारा गया है । धृतराष्ट्र के उपदेश तथा कृष्ण का शोकपूर्ण सन्देश सभी उसके वीरोचित चरित्र को उभारते हैं । घटोत्कच के चुभते हुए कथनों से उसकी उपेक्षा वीरोचित है, नायकोचित है । इस रूप में दूतघटोत्कचम् का नायक दुर्योधन भी प्रतीत होता है ।

घटोत्कच का प्रतिनायकत्व

प्रतिनायक की दृष्टि से घटोत्कच की भूमिका जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही संक्षिप्त । संक्षिप्त होते हुए भी उसमें अपने प्रतिपक्ष को उत्तेजित करने की अपूर्व क्षमता है । व्यापक रूप से देखा जाए तो कृष्ण का दायित्व है ; अधर्म का नाश। कौरवों को धर्म-विमुख, धर्महन्ता मानने वाले कृष्ण द्वारा कौरवों पाण्डवों में कभी स्वयं दूत बनकर तो कभी घटोत्कच को दूत बनाकर सन्धि का प्रस्ताव करने का औचित्य क्या है ? वस्तुत: यह कूटनीतिक चाल है कौरवों को नत करने की और नतमस्तक न होने पर उन्हें उत्तेजित करके मृत्यु के निकट खींच लाने की । कभी स्वयं कृष्ण को तो कभी घटोत्कच को भास ने ऐसी ही भूमिका में उतारा है । यह उनकी क्रान्तिदृष्टि है ।

जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है घटोत्कच के उत्तर अत्यन्त तर्कपूर्ण हैं । उनमें इतनी क्षमता है कि नितान्त शिष्ट एवं गम्भीर दुर्योधन भी उसके वाक्बाणों से आहत होकर उसके राक्षसत्व के साथ स्वयं की प्रकृति से भी सामाजिक को परिचित करा देता है । इतना ही नहीं यह उसकी वाक्पटुता ही है कि वह दुर्योधन को यह कहने को

---

१ दुर्योधन :- ननु सर्वाक्षौहिणी सन्दोहेनाच्छादयिष्ये जयद्रथम् । दूतघटो० पृ० ४६८

२ वही पृ० ४६८

बाध्य कर देता है कि यदि घटोत्कच दूत न होता तो दुर्योधन उसका वध कर देता । इस कृपा पर वह पुन: दुर्योधन को उत्तेजित करता है किन्तु धृतराष्ट्र के कारण वह दुर्योधन को पूर्णरूपेण युद्ध के लिए प्रतिबद्ध करके कृष्ण के `मिशन` को पूरा करता है ।

तात्पर्य यह कि भास ने अपने इस एकांकी द्वारा कृष्ण के `मिशन` के रूप में दुर्योधन को युद्ध के लिए पुन: नियोजित किया है । उसके निमित्त दुर्योधन, धृतराष्ट्र, दु:शासन, शकुनि एवं घटोत्कच सभी को यथोचित भूमिकाएं एवं अभिनय के अवसर देते हुए नायक प्रतिनायक के मध्य प्रतिस्पर्धा को पर्याप्त प्रौढ़ता प्रदान की है ।

नायक चाहे घटोत्कच को माना जाए या दुर्योधन को दोनों की ही भूमिकाओं को अपने संक्षिप्त कलेवर में इतनी क्षिप्रता, सघनता एवं प्रौढ़ता के साथ उभारने में भास ही एकमात्र सफल शिल्पी है । दूतघटोत्कचम् में न तो दूतवाक्यम् की शिथिलता है न ही `ऊरुभङ्गम्` की एकाङ्गिता (प्रतिनायकहीनता) । वीररस की अभिव्यक्ति में भी दूतघटोत्कचम् की सफलता पर सन्देह नहीं किया जा सकता, शकुनि एवं दु:शासन तथा दुर्योधन के प्रहारों से घटोत्कच की वीरता जितनी अभिव्यक्ति पाती है । घटोत्कच के प्रहारों से विचलित-अविचलित दुर्योधन की भूमिका भी उतनी ही सशक्त है[1] फिर भी अपने सम्पूर्ण कलेवर में `दूतघटोत्कचम्` का नायक घटोत्कच है । कृष्ण का उद्देश्य(दुर्योधन को युद्ध के लिए उत्तेजित करना) चाहे सफल रहा हो अथवा (संधिप्रस्ताव) असफल किन्तु प्रस्ताव के वाहक घटोत्कच को नायक मानने में विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए । यह नाटककार की सफलता है, उसकी प्रतिभा का चमत्कार है कि वह नायक-प्रतिनायक दोनों को ही इस रूप में प्रस्तुत करता है कि यह निर्णय कर पाना कठिन हो जाता है कि नायक कौन है और प्रतिनायक कौन ?

कर्णभारम्

भास के इस एकांकी की कथावस्तु भी महाभारत की कथा पर आधारित है । कर्ण द्वारा इन्द्र को कवच कुण्डल का दान कर्ण की दानप्रियता का तो द्योतक है ही उसकी शक्ति उसके अहं और उसके वीररूप का भी परिचायक है ।

नायक प्रतिनायक की दृष्टि से कर्ण का नायकत्व एवं इन्द्र का

---

१ द० ना० पृ० १०० एवं १०२ ।

प्रतिनायकत्व स्वत: स्पष्ट है । जो भास की, प्रचलित परम्परा के विरुद्ध भी नायक चयन की उनकी मौलिक भावना का परिचायक है । यहां कर्ण और इन्द्र के मध्य किसी भी प्रतिस्पर्धा और संघर्ष के बिना भी प्रतिनायक की योजना में मौलिकता है । दुष्यन्त के प्रसंग में दुर्वासा को अथवा पुरुरवा के प्रसंग में उर्वशी को दिये गये इन्द्र के आश्वासन को अथवा इन्द्र को प्रतिनायक माना जा सकता है, यद्यपि इनका स्वरूप पारिभाषिक प्रतिनायक की सीमा में नहीं आता । कर्ण के सन्दर्भ में इन्द्र को किसी सीमा तक उनके छलपूर्ण कार्य के कारण प्रतिनायक लक्षण की परिधि में भी रखा जा सकता है । अपने इस कार्य पर इन्द्र को पश्चाताप भी होता है और वह देवदूत को भेज कर अपने इस कर्म पर खेद व्यक्त करते हुए कर्ण को पाण्डवों में किसी भी एक के वध में समर्थ विमला नामक 'शक्ति' देता है ।

इन्द्र के छलपूर्ण कृत्य को समझते हुए[1] शल्य द्वारा कवच-कुण्डल का दान न करने की सलाह के परिप्रेक्ष्य में कर्ण की दृढ़ता, दान देने के उपरान्त भी उसके लिए पश्चाताप का अभाव और उसके विपरीत इन्द्र को कृतार्थ (OBLIGE) करने के व्याज से स्वयं को विजयी मानने की उसकी भावना[2] उसके नायकत्व के अनुकूल है । प्रतिनायक इन्द्र अपने पौराणिक परिवेश में नायक के चरित को उभारता है । एक ओर तो कर्ण क्रमश: अपने विभवों का वर्णन करते हुए सहस्रों गाएं, सूर्याश्वों के समान सहस्रों घोड़े, अगणित हाथी देने का प्रस्ताव करता है । दूसरी ओर इन्द्र द्वारा क्रमश: उन सभी को लेने की अस्वीकृति से कथानक के प्रति अभिरुचि और नायक के चरित में क्रमश: उभार आता जाता है । कर्ण की दानप्रियता की आधारशिला है- इन्द्र की अस्वीकृतियां ।

इन्द्र के चरित्र के अभाव में कर्ण की दानप्रियता का परिचय ही नहीं मिलता, अथवा इन्द्र यदि हाथी, घोड़ों अथवा गौओं के दान से सन्तुष्ट हो जाता तो भी कर्ण के चरित्र को वह महत्त्व न मिलता जो उसके द्वारा कवच कुण्डल के दान पर मिलता है । नायक के चरित्र के लिए प्रतिनायक की यही वास्तविक उपयोगिता है ।

ऊरुभङ्गम्

भास का यह एकाङ्की प्रबन्ध की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

---

१ कर्णभारम् - २२   २ कर्णभारम् - २३

भग्न जंघाओं वाले दुर्योधन के मनोरथ भी भग्न हो चुके हैं। भास द्वारा इस रूपक के विष्कम्भक के रूप में जो पूर्व कथा दी गयी है उसे दृष्टि में रखते हुए यह निर्णय थोड़ा कठिन हो जाता है कि इस रूपक का नायक कौन है। कहना न होगा कि मंच पर भीम का आगमन होता ही नहीं है। दुर्योधन, बलराम एवं धृतराष्ट्र,गान्धारी एवं दुर्जय यही भूमिकाएं हैं जो रूपक में कौरव पक्ष के प्रति नाटककार के पक्षपात की परिचायक हैं।

दुर्योधनवध के लिए कृष्ण के संकेत को घृणास्पद एवं युद्ध नियमों के विरुद्ध सिद्ध करते हुए भास की प्रतिक्रिया में भी यही भावना है। अतः भास की दृष्टि से रूपक का नायक है दुर्योधन। यह भास की क्रान्ति-दृष्टि भी है रूपक का प्राण भी है। फिर भी रूपक की कथावस्तु की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए भीम को नायक तथा दुर्योधन को प्रतिनायक माना जा सकता है। इस रूपक को दुर्योधन, दुर्जय एवं अन्य पात्रों के करुणालापों के परिप्रेक्ष्य में अङ्क रूपकभेद की कोटि में भी रखा जा सकता है। किन्तु कृष्ण की घृणित नीति के परिप्रेक्ष्य में भी भीम के कर्म को हेय मानकर तथा उसे प्रतिनायक मानकर दुर्योधन को नायक मानने में अनेक शंकाएं उठाई जा सकती हैं।

नायक प्रतिनायक विपर्यय

प्रकृत स्थल पर यह एक मौलिक प्रश्न उठता है, क्या पौराणिक नायक ही नायक हो सकते हैं? क्या पौराणिक कथानकों के प्रतिनायक नायक की भूमिका में नहीं आ सकते? यह प्रश्न कुछ ऐसे ही हैं। इस सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति, विशेषकर संस्कृत साहित्य एवं दर्शन की दृष्टि से साहित्यिक एवं मानवीय मूल्यों के सम्बन्ध में व्यापक विवेचना की अपेक्षा होती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि काव्य संसार की संरचना में कवि ही प्रजापति है और उसे जैसा रुचिकर होता है वैसी ही रचना करता है[1]। महाकवि भास भी ऐसे ही कवि हैं जिन्होंने दुर्योधन एवं कर्ण जैसे ख्याति प्राप्त पौराणिक प्रतिनायकों को नायक के रूप में प्रस्तुत किया है।

भारतीय कर्मवाद के परिप्रेक्ष्य में नाटककार भास ने ऐसे विषय उठाए हैं जिन पर अन्य रचनाकारों का ध्यान कम ही गया है। विशेषकर ऐसी रचनाएं यदि लिखी भी गयी हों तो अब उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्ध रचनाओं में ऐसे प्रसंगों को उपेक्षित

---

१ ध्वन्यालोक, पृ० ३१२

ही रखा गया है । कम से कम ऐसे स्थलों पर पौराणिक प्रतिनायकों का छल बल, किसी भी प्रकार से संहार हुआ हो उसे उचित सिद्ध करने के नाना प्रयत्न किए जाते रहे हैं । इसी कारण प्रतिनायक चाहे कितना ही गुणवान् क्यों न हो उसे प्रतिष्ठा नहीं दी गयी । रावण अपने समग्र गुणों के परिवेश में भी कहीं भी राम की तुलना में नहीं आ पाया । किन्तु भास की रचना-पद्धति में दुर्योधन को पौराणिक दुर्योधन से ऊपर स्थान मिला है । इसी प्रकार पौराणिक आख्यानों में अपने कवच कुण्डल का दान करके भी कर्ण अपेक्षित प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सका, किन्तु भास ने उसे भी उसके इस सुकर्म के कारण एक पृथक् प्रसंग उठाकर उसे नायकत्व प्रदान किया । ऊरुभङ्ग का यह प्रसंग उत्तरकालीन नाटककार भट्टनारायण ने भी उठाया है किन्तु उस सम्पूर्ण प्रसंग में कृष्ण एवं भीम के इस जघन्य कर्म पर कूटनीति एवं अधर्म पर धर्म की विजय का आरोप कर लिया गया है ।

वस्तु, ऊरुभङ्गम् की कथावस्तु एवं उसके नाटकीय पक्ष की परीक्षा करते हुए हम पाते हैं कि नाटककार ने बड़ी चतुराई के साथ अपनी आलोच्य रचना के लिए एक मार्मिक प्रसंग चुना है ।

विष्कम्भक से ज्ञात होता है कि कृष्ण की चालाकी (गर्हित) से दुर्योधन की जंघाएं भग्न हो चुकी है । तभी बलराम क्रोधावेश में अपने प्रिय शिष्य को आश्वासन देते हैं कि वे भीम का वध करके ही रहेंगे । दुर्योधन उन्हें समझाता है और कहता है विग्रह का नाश हो चुका है । हम सभी नष्ट हो चुके हैं[1]। अब वैर को बढ़ाने से कोई लाभ नहीं है[2]। क्योंकि वह मानता है कि वह भीम के छल द्वारा नहीं अपितु जगत्प्रिय कृष्ण ने कृपाकर भीम की गदा में प्रवेश कर मुझे स्वयं मृत्यु के निकट पहुंचाया है[3]। तदुपरान्त गान्धारी, धृतराष्ट्र, पुत्र दुर्जय, एवं देवियां दुर्योधन को खोजती हैं ।

---

१ 'वैरं च विग्रहकथा च वयं च नष्टाः' -- ऊरुभङ्गम्, श्लोक ३१

२ 'प्रतिज्ञावसिते भीमे गते भ्रातृशते दिवम् ।
मयि चैवं गते राम ! विग्रहः किं करिष्यति ।।' - ऊरु० ३३

३ लीलां भीमगदां प्रविश्य सहसा निर्व्याजयुद्धप्रियः
तेनाहं जगतः प्रियेण हरिणा मृत्योःप्रतिग्राहितः ।।

-- ऊरु० ३५

अन्धे धृतराष्ट्र उसकी दुरवस्था से अपरिचित हैं। दुर्भाग्य को देखकर तथा धृतराष्ट्र एवं गान्धारी के दुःख के सम्बन्ध में सोच सोचकर दुर्योधन की व्यथा अपनी सीमा का अतिक्रमण कर जाती है। उसकी दुरवस्था एवं दुर्भाग्य से उसके सम्वाद निश्चय ही अत्यन्त-मर्म मार्मिक है। दुर्योधन की निराशा-हताशा से बलदेव भी विचलित हो उठते हैं[1]। मालवि एवं पौरवि देवियों को उसकी सान्त्वना और दुर्भाग्य के लिए उसके अन्तिम सन्देशों में भारतीय संस्कृति की आत्मा के दर्शन होते हैं[2]। सारा विग्रह शान्त हो चुका है तभी हलबल हलितो[3] दुर्योधन का बदला लेने के लिए अश्वत्थामा का आगमन होता है किन्तु उनमें जितना रोष है, दुर्योधन उतना ही शान्त हो चुका है। वह अश्वत्थामा को भी कहता है -'वयं वैमभूता गुरुसुत ! धनुर्भुक्तवान्' -- अर्थात् अब सारे भाई मर गए, भीष्म, कर्ण सभी दिवंगत हो चुके हैं तब धनुष उठाने से क्या ? बलराम और अश्वत्थामा ही वे कौरवपक्ष के अवशिष्ट प्रखर पदाधर थे जिन्हें समझाना शेष था। दुर्योधन-कुरुराज महाभारत युद्ध का सूत्रधार युद्ध के सम्बन्ध में अपना यही भरत वाक्य कहकर आकाश में उपस्थित शन्तनु प्रभृति पितृ-पितामहों, कर्ण प्रभृति बन्धु-बान्धवों को प्रतीक्षारत देखते हुए स्वर्गारोहण करता है।

महाभारत के इस कथानक के परिप्रेक्ष्य में नाटककार भास ने नायक-प्रतिनायक सम्बन्धों पर अप्रत्यक्षतः एक विवाद को उठाया और समाधान दिया है।

संस्कृत नाटकों का नायक, प्रकारान्तर से नायक के चारित्रिक गुण-अपनी महानता में अतुलनीय, अनुपम और अद्वितीय हैं। किन्तु भास के नायक यथार्थ का स्पर्श करते हैं। वे मृच्छकटिकम् के नायक के समान महामानव भी नहीं हैं। स्थापित प्रतिमानों के विरुद्ध पौराणिक प्रतिनायकों को नायक के चारित्रिक गुणों की परिधि में बांधना कलावाद की धारणा के अनुरूप होते हुए भी परम्परा के विरुद्ध है। किन्तु भास ने इसके विपरीत अपनी रचनाओं के माध्यम से उन गुणों का पुनर्मूल्यांकन किया है। स्थापित प्रतिमानों किंवा युद्धादि के नियमों के विरुद्ध आचरण करने वाला नायक भी

---

१ ऊरु० ४६

२ राजा (दुर्योधन) अहमिव पाण्डवाः शुश्रूषयितव्याः,
तत्र भवत्याश्चाम्बायाः कुन्त्या निदेशो वर्तयितव्यः।
अभिमन्योर्जननी द्रौपदी चोभे मातृवत्पूजयितव्ये।'
-- वही पृ० ५०४

३ वही ५७

प्रतिनायक की कोटि में गिना जा सकता है यही स्थापना है भास की । ऊरुभङ्गम् का नायक दुर्योधन है तो दूसरी ओर उसी दुर्योधन के समक्ष `दूतघटोत्कचम्` में घटोत्कच नायक है । `कर्णभारम्` में कर्ण अपने दानकर्म के कारण नायकत्व प्राप्त करता है वही कर्ण `पञ्चरात्रम्` में धीरगम्भीर उपनायक के रूप में दृष्टिगत होता है जबकि दुर्योधन के एक सहायक के रूप में वह सम्पूर्ण परम्परा में एक उप-प्रतिनायक ही है ।

सारांश यह कि द्रोणाचार्य और भीष्म जैसे चरित्रों को दुर्योधन के समक्ष प्रतिनायक के रूप में प्रस्तुत करना (यथा पञ्चरात्रम् में), मध्यमव्यायोग में भीम को प्रतिनायक की भूमिका में उतारना, कर्ण की प्रतिद्वन्द्विता में इन्द्र की प्रतिनायक के रूप में प्रस्तावना तथा ऊरुभङ्गम् में अप्रत्यक्षत: कृष्ण एवं भीम को प्रतिनायक के रूप में प्रस्तुत करना महाकवि भास की लेखिनी द्वारा ही सम्भव था । इस विवेचना से यह तथ्य स्वत: स्पष्ट हो जाता है नायक प्रतिनायक के मध्य प्रतिद्वन्द्विता का जो स्वरूप है उसके पीछे कवि अथवा रचनाकार, नाटककार की यह भावना अधिक महत्त्व रखती है कि उसके सोचने का ढंग क्या है ? वह कथानक के किस स्थल को उभारना चाहता है । वह अपने श्रोता, पाठक अथवा सामाजिक तक क्या संप्रेषित करना चाहता है ? वस्तुत: नायक प्रतिनायक एक दूसरे के पूरक हैं रूपक की दृष्टि से ।

भट्टनारायण कृत वेणी-संहार

महाभारत की कथा पर आधारित रूपकों की परम्परा में भट्टनारायण के वेणीसंहार का महत्त्व किसी भी दृष्टि से न्यून नहीं है । दु:शासन द्वारा द्रौपदी का भरी सभा में अपमान, वह भी उसकी वेणी पकड़ कर खींचने का दु:शासन का कर्म, जहां द्रौपदी की प्रतिशोध की भावना को जन्म देता है वहीं उसके द्वारा उत्तेजित भीम का प्रतिशोध ही इस साहित्यशास्त्रीय[1] एवं नाट्यशास्त्रीय[2] ग्रन्थों में बहुचर्चित रूपक का मुख्य विषय है जिसमें महाभारत की अति विस्तृत युद्ध कथा का संरोपण करने का प्रयास किया गया है । उसकी सफलता असफलता एक पृथक् आलोचना का विषय है यहां पर उसकी

---

१ वामन कृत काव्यालङ्कार सूत्र ४।३।२८ एवं ध्वन्यालोक पृ० ६८, १७१, २६८,३२४

२ दशरूपक, नाट्यदर्पण प्रभृति

कथा की अपेक्षा पात्रों की योजना पर प्रकाश डालना ही अभीष्ट है ।

कथावस्तु प्रसिद्ध है और वस्तु तथा रस को ध्यान में रखते हुए भीम का नायकत्व नि:सन्दिग्ध है ।

भीम का नायकत्व

नाटक का आरम्भ ही भीम की इस गर्जना से होता है कि भीम के जीवित रहते धृतराष्ट्र के पुत्र कौरवगण स्वस्थ एवं सकुशल नहीं रहने पाएंगे, क्योंकि उन्होंने द्रौपदी का अपमान किया है । भीम की दृष्टि में उसका यह क्रोध निरर्थक या आरोपित अथवा धमार्थ पर आधारित नहीं है, क्योंकि उसके पीछे अनेक कारण हैं :- (क) कौरवों ने पाण्डवों को मार डालने के लिए लाक्षागृह में जला डालने (ख) विष खिलाने, (ग) छलपूर्वक द्यूत में हराकर धन-धान्य एवं राज्य-सम्पत्ति छीनने तथा (घ) द्रौपदी को भरी सभा में केश पकड़कर अपमानित करने की धृष्टता की है और इसी कारण उन्होंने सकुशल जीवित रहने का अधिकार खो दिया है[1]।

भीम के चरित्र का परिचय पाने के लिए उसका यह कथन ही पर्याप्त है । यहां उसमें एक उद्धत नायक के सभी मुख्य गुण मिल जाते हैं । उसके प्रकृत कथन में उसका दर्प है, मात्सर्य= असहनशीलता है, अहंकार है, तथा चण्ड = अर्थात् स्वभाव से उसकी उग्रता भी व्यक्त हो रही है[2]। भीम के चरित्र के इस रूप से ही उसके अन्त:करण में जाज्वल्यमान अग्नि का अनुमान हो जाता है । वह इतना क्रोधान्ध है कि सम्पूर्ण शिष्टाचार को तिलांजलि दे डालता है[3]। प्रथम अंक में सहदेव के साथ उसके सम्वाद में इस तथ्य के स्पष्ट दर्शन हो जाते हैं[4]।

भीम ऐसा नायक है जिसकी चर्चा से दुर्योधन भी सशंकित हो उठता है[5]। फिर भी उसमें धीरता के दर्शन होते हैं भले ही वह क्षणिक हो । वह गम्भीर भी है । पांचवें अंक में जब अर्जुन के साथ वह धृतराष्ट्र के समीप पहुंचता है तो वह अर्जुन को ही शिष्टाचार की शिक्षा देता है कि जब हम आ ही गए हैं तो गुरुजनों (धृतराष्ट्र-

---

१ वेणी० १।८, १०

२ देखें : अध्याय २ तथा दशरूपक- २।५६ का वृत्ति भाग

३ वेणी० १।१०,१२, ४ वेणी० १।२१,२२ ५ देखें-प्रथम अंक, पृ० ८०-८१

गांधारी) को प्रणाम किए बिना जाना उचित नहीं है[1]। धृतराष्ट्र, अर्जुन, दुर्योधन एवं भीम के मध्य इस स्थल पर हुए सम्वाद में उसके धीरोदत्त नायक के सभी गुण दिखाई देते हैं।

भीम का लक्ष्य है जीवित दु:शासन के रक्त का पान तथा दुर्योधन की उस जंघा को भग्न करना जिस पर बलात् द्रौपदी को बिठाया गया था। अपनी प्रथम प्रतिज्ञा की पूर्ति पर उसके भयंकर रूप को देखकर चारों ओर भय का वातावरण बन जाता है परन्तु दु:शासन के रक्तपान से मदोन्मत्त भीम के अन्दर का अभिमान कहीं कम नहीं होने पाता। वह सब को सुनाकर कहता है कि उसने दु:शासन का रक्त पीकर अपने शरीर पर उसके रक्त का लेप किया है। उसे गर्व है कि उसने दु:शासन के शरीर में प्राणों के रहते हुए ही उसके वक्षस्थल को विदीर्ण करके यह कार्य सम्पादित किया है। इतना ही नहीं उसने यह सब दुर्योधन शल्य एवं कर्ण के समक्ष ही किया है[2] फिर भी वे सब कुछ नहीं कर पाये।

उसकी दूसरी प्रतिज्ञा से दुर्योधन भयभीत है और अन्त में किसी तडाग में जाकर शरण ले लेता है। किन्तु भीम अपने विश्वस्त लोगों की सहायता से इसे जान जाता है। वह अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए तथा भगोड़े दुर्योधन को बाहर निकालने के लिए यथाशक्ति प्रयास करता है, वह दुर्योधन को नाना प्रकार के अपशब्द कहकर उत्तेजित करता है[3]। भीम जानता है कि अन्त में युद्ध के लिए दुर्योधन भीम को ही चुनेगा फिर भी वह दुर्योधन को पांचो पाण्डवों में से किसी भी वीर को युद्ध के लिए चुनने का अवसर देता है जिससे उसकी नायकोचित वीरता के दर्शन होते हैं, (यद्यपि इस विषय पर युधिष्ठिर का स्पष्टीकरण अपूर्ण है।) अन्त में दुर्योधन का वध कर के जब वह अपने शिविर में आता है तो कोई भी उसे पहचान नहीं पाता क्योंकि कौरव पक्षपाती एक राक्षस द्वारा वहाँ एक अनिष्ट की रचना की जा चुकी थी। ऐसे समय में भी (भीम को पहचानने के बाद) वह द्रौपदी को अपनी प्रतिज्ञा[4] का स्मरण कराकर ही विश्राम करता है। अपनी प्रतिज्ञा को दृढ़तापूर्वक पूरा करना नायक भीम के चरित्र का सबसे बड़ा गुण है।

---

१ भीम :- मूढ, अनुल्लङ्घनीय: सदाचार:। न युक्तमनभिवाद्य गुरुन् गन्तुम्।
—वेणी० अंक ५, पृ० २२८

२ वेणी० ३।१ ३ वेणी० ६।७,८, १० ४ वेणी० १।२१

प्रतिनायक दुर्योधन एवं नायकोत्कर्ष

भीम की सीधी प्रतिद्वन्द्विता दुर्योधन से है । अतः दुर्योधन का प्रतिनायकत्व स्वाभाविक एवं निःसन्दिग्ध है । यह सिद्ध करने के लिए कि उसमें प्रतिनायक के लक्षण किस सीमा तक प्राप्त हैं, किसी तर्क अथवा विशेष विवेचना की अपेक्षा नहीं करते ।

राज्यलिप्सा, औद्धत्य, यदाकदा गम्भीरता (धीरोद्धतः) द्यूत-क्रीड़ा एवं द्रौपदी के साथ उसके व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में उसकी पापभावना के लिए अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है । औद्धत्य के परिप्रेक्ष्य में भीम से उसकी प्रतिद्वन्द्विता, अश्वत्थामा की अपेक्षा कर्ण के प्रति उसका पक्षपात और उस प्रसंग में उसका सम्वाद, दूसरे अंक में अपनी पत्नी एवं नकुल के प्रति उसका शंकालु मन तथा अर्जुन एवं भीम से उसका विवाद- इन सभी के परिप्रेक्ष्य में उसके चरित्र के वे सभी पक्ष उभर कर सामने आते हैं जिनके कारण शास्त्रीय दृष्टि से उसका प्रतिनायकत्व स्वयं साकार हो उठता है ।

इन प्रतिनायकीय गुणों की व्याख्या से अधिक उपयुक्त होगा यह कि प्रतिनायक दुर्योधन अथवा कर्ण तथा अन्य सहायक भूमिकाओं के माध्यम से नाटककार ने नायक के चरित्र के उत्कर्ष में क्या सहायता ली है तथा परमानन्द सहोदर रस को सामाजिक तक सम्प्रेषित करने की प्रक्रिया को कितना सार्थक कर सका है ।

जहां तक उपनायकों की सार्थकता का प्रश्न है भीम, दुर्योधन एवं द्रौपदी के चारों ओर घूमने वाला सम्पूर्ण घटनाचक्र अत्यन्त कुशलता के साथ ग्रथित किया गया है । रूपक का आरम्भ अत्यन्त सजीव ढंग से होता है और आरम्भ से ही भीम संपूर्ण नाटक पर छा जाता है । उसके सम्वादों में चुस्ती, गति में क्षिप्रता और वाणी में ओज है । नाटककार ने भीम के चरित्र को इतना स्फूर्त रखा है कि उसे इस चरित्र के निर्माण के लिए किसी अन्य सहायक अथवा प्रतिद्वन्द्वी के चरित्र की आवश्यकता नहीं है । फिर भी सहदेव, द्रौपदी तथा युधिष्ठिर एवं अर्जुन के चरित्रों ने उसकी गम्भीरता, गहराई को बढ़ाया है, जो मुख्य सरिता में मिलने वाली सरिताओं की भांति है । किन्तु भीम की प्रतिद्वन्द्विता में दुर्योधन, कर्ण,कृपाचार्यप्रभृति के चरित्र उसके मार्ग में आने वाली वे चट्टानें हैं जो उसे गति तो देती ही हैं साथ ही उसकी वीरता, उसकी शक्ति की गाथा

की ऊंची लहरों के समान सामान्य स्तर से ऊपर उछाल देती है।

द्रौपदी तो स्पष्टरूप से भीम के मुख से उनकी प्रतिज्ञा को बार-बार सुनना चाहती है[1]। उधर सहदेव भी युधिष्ठिर के संदेशों की व्याख्या द्वारा उसके क्रोध में घृताहुति डालता है[2]। भीम एवं अर्जुन जब एक साथ कौरव शिविर में पहुंचते हैं, उस समय अर्जुन की भूमिका के माध्यम से भीम के चरित्र को उभारा गया है। यहां वह एक शान्त और गम्भीर है, इस गम्भीरता की पृष्ठभूमि में भीम को अपने क्रोध की अभिव्यक्ति का अच्छा अवकाश मिल जाता है।

इन उपनायक या नायक सहायक भूमिकाओं के विपरीत सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका दुर्योधन की है जो स्वतः में सम्पूर्ण है। दुर्योधन ने भीम को भीम की ही भाषा में उत्तर देते हुए दोनों के चरित्रों के तुलनात्मक अध्ययन के अवसर सुलभ कराये हैं। भीम एवं दुर्योधन के मध्य केवल एकबार ही सम्वाद होते हैं किन्तु उसी स्थल पर दोनों के चरित्र की तुलना द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि दोनों ही एक दूसरे से बढ़ कर उद्धत हैं। कौरव शिविर में पहुंचने पर अर्जुन भीम संवाद में अर्जुन का पलायन एवं भीम द्वारा सदाचार की दुहाई आश्चर्यजनक है, किन्तु आगे के प्रसंग से स्पष्ट हो जाता है भीम का यह मर्यादित शिष्ट रूप, उसकी दुर्योधन से साक्षात्कार की यह अभिलाषा उसके वाग्द्वन्द्व की बलवती इच्छा से प्रभावित है। क्योंकि धृतराष्ट्र एवं गान्धारी के प्रति सिर झुकाते समय ही उसकी सारी नम्रता नष्ट हो चुकी है। वह सिर तो ~~झुककर~~ झुककर झुकाता है, किन्तु अपना परिचय वह यही कहकर देता है कि वह कौरवों का विनाशक और अपने शरीर पर दुःशासन के रक्त का लेप करने वाला भीम है[3]। धृतराष्ट्र के यह कहने पर कि जो युद्ध करते हैं उन्हें मरना ही पड़ता है, अतः तुम अपने मुंह से अपनी वीरता का बखान क्यों करते हो। इसके उत्तर में भीम की विकत्थना का परिचायक तो मिलता ही है, कौरवों के गर्हित कर्मों का भी स्मरण कराया जाता है। तभी दुर्योधन भीम के चरित्र पर सीधा आक्रमण करते हुए कहता

---

१ द्रौपदी - नाथ ! अश्रुतपूर्वं खलु ते ईदृशं वचनम् । तत्पुनः तावद् भण ।

-- वेणी० पृ० २५

२ देखें : वेणी० प्रथम अंक

३ वेणी० ५।२८

है कि भरी सभा में द्रौपदी का केश-कर्षण मेरी आज्ञा से हुआ था । अत: उसके साक्षी राजाओं के मर जाने पर भी अब तक मैं जिन्दा हूं तुम्हारा गर्व व्यर्थ है[1]। यह किसी प्रतिनायक की महानतम विशेषता है । भीम नायक है और वह भी धीरोद्धत दुर्योधन के इस कथन पर उसका क्रोध सारे बन्धन तोड़ देता है और उसी स्थल पर दुर्योधन-वध के लिए उद्यत हो जाता है । प्रतिनायक चरित्र की उपयोगिता भी तो यही है कि उसके माध्यम से नाटककार नायक के चरित्र का उत्कर्ष दिखा सके । भीम का उत्कर्ष है ; उसके औद्धत्य की अभिव्यक्ति जो दुर्योधन के ऐसे ही उत्तेजक कथोपकथनों से उद्दीप्त हो उठता है । यही प्रतिनायक की भूमिका और नाटककार की सफलता है[2]।

दुर्योधन वध से सम्पूर्ण समस्या का समाधान हो जाता, किन्तु दु:शासन की हत्या और वह भी इतने वीभत्स रूप में सम्पादित की जाती है कि सामाजिक भी जुगुप्सा से भर उठता है । इसका स्पष्टीकरण यही है कि भीम सीधे मूल पर आक्रमण करके खेल समाप्त करने का इच्छुक नहीं है, एक के बाद एक इस प्रकार दु:शासन प्रभृति दुर्योधन के भाइयों को मारकर वह दुर्योधन को भी स्त्रियों की भांति रुला रुलाकर मारना चाहता है । वह कहता है :--

> शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत्परित्याजितोऽसि
> भ्रातुर्वक्ष:स्थलविघटने यच्च साक्षीकृतोऽसि ।
> आसीदेतत्तव कुनृपते: कारणं जीवितस्य
> क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने ॥
>
> -- वेणी० ५।३३

अर्थात् भाइयों की मृत्यु से दुर्योधन पीड़ा का अनुभव करे तथा दु:शासन की वीभत्स हत्या का साक्षी बने, भीम द्वारा दुर्योधन को युद्ध के आरम्भ में ही समाप्त न कर देने के पीछे यही दो कारण हैं । भीम के इस कथन में उसका जो रूप उभरता है वह नितान्त मौलिक है । दु:शासन जैसे उप-प्रतिनायक तथा दुर्योधन जैसे प्रतिनायक की योजना की यही सार्थकता है ।

---

१ वेणी ५।२६, ३०

२ अथवा प्रतिपक्षस्य वर्णयित्वा गुणान् बहून् ।
तज्जयात् नायकोत्कर्षवर्णनं च मतं क्वचित् ॥--विद्यानाथ (प्रतापरुद्रीय)

भीम की उपर्युक्त विकत्थना पर दुर्योधन तिलमिला उठता है और रण में भीम को मार डालने का अपना निश्चय दुहराता है, किन्तु भीम उसका यह रूप देखकर किंचित् भी क्रुद्ध नहीं होता, हंस देता है, और हंसते हुए ही कहता है,यदि ऐसा है तो आपकी बात पर विश्वास करना ही होगा कि आप(?) शीघ्र ही मेरा वध करके मेरे भाइयों को आश्चर्यचकित कर देंगे और सम्पूर्ण रणभूमि को मेरी मज्जा तथा रक्त से अलंकृत कर देंगे[1]। भीम का यह उद्धत किन्तु विनोदी रूप दुर्योधन की भूमिका के अभाव में उतना प्रभावशाली न हो पाता जितना कि दिखाई देता है। यही वे साधन हैं जिनके माध्यम से नाटककार ने अङ्गीरस वीर एवं रौद्र को सामाजिक तक सफलतापूर्वक संप्रेषित किया है।

उपनायक एवं उप-प्रतिनायक योजना द्वारा नायकोत्कर्ष

उपनायक युधिष्ठिर एवं अर्जुन के चरित्रों के उत्कर्ष के निमित्त नाटककार ने भावकि नामक दुर्योधन के एक मित्र एवं कर्ण की भूमिकाओं की योजना की है। द्रौपदी के क्रोध एवं अमर्ष की अभिव्यक्ति के लिए दु:शासन एवं दुर्योधन के कर्म ही पर्याप्त थे किन्तु नाटककार ने भानुमती की कटूक्तियों की योजना द्वारा उन्हें ही और उद्दीप्त किया है[2]। यह सभी सम्मिलित रूप से भीम को भी उत्तेजित करते हैं[3]।

कर्ण एवं अश्वत्थामा के संघर्ष की योजना के माध्यम से कौरव पक्ष की दुर्बलता के रूप में सेनापति के प्रश्न पर आपसी फूट को उभारकर कौरवों की प्रत्यासन्न पराजय का पक्ष स्पष्ट किया गया है। कृपाचार्य ने तो स्पष्ट रूप से युद्ध में धृष्टद्युम्न द्वारा द्रोणाचार्य के वध एवं उनके केशकर्षण को द्रौपदी के केशकर्षण से जोड़ते हुए दुर्योधन एवं अन्य उपस्थित राजाओं यहां तक कि युधिष्ठिर तक को धिक्कारा है[4]। अश्वत्थामा भी निरस्त्र द्रोण के हत्यारे एवं प्रत्यक्षदर्शी युधिष्ठिर, कृष्ण, अर्जुन, भीम सहित सभी की निन्दा करता है और उनके वध की प्रतिज्ञा करता है[5]। इस उद्देश्य की

---

१ वेणी० ५।३४ | २ वेणी० प्रथम अंक, पृ० ३१-३२
३ वेणी० १।२९ | ४ वेणी० ३।१३
५ वेणी० अंक ३, पृ० १२३ एवं ३।२४,३४

पूर्ति के लिए कृपाचार्य अश्वत्थामा को सेनापति बनवाने की योजना बनाते हैं किन्तु उधर कर्ण, दुर्योधन को अपने पक्ष में करके अश्वत्थामा को निराश कर देता है। कर्ण की इस विजय से कौरवपक्ष के एक अदम्य सेनापति का पतन तो होता ही है दुर्योधन की शक्ति भी क्षीण होती है। तत्काल ही दु:शासन के रक्षकों को (नेपथ्य से) ललकारते हुए[1] भीम की योजना के माध्यम से एक ओर तो अश्वत्थामा को कर्ण और दुर्योधन के उपहास का अवसर मिला है[2] दूसरी ओर भीम के शौर्य एवं पराक्रम का उत्कर्ष दिखाया गया है क्योंकि उधर रणभूमि में दु:शासन पर भीम बहुत भारी पड़ रहा है और रणभूमि में पहुंचकर भी कर्ण तथा दुर्योधन संयुक्त रूप से भी दु:शासन की रक्षा नहीं कर पाते हैं।

रस की दृष्टि से दूसरे अंक को छोड़कर सर्वत्र युद्ध एवं युद्ध की विभीषिका का वातावरण होने से अङ्गीरस के रूप में वीररस की योजना सुन्दर बन पड़ी है। इसके साथ ही अङ्ग रूप में रौद्र की प्रमुखता है। कभी-कभी तो उसकी प्रधानता का भी सन्देह होने लगता है। वैसे इन दोनों का अङ्गाङ्गिभाव भी स्पष्ट ही है। इसी कारण आचार्यों ने ऐसे लक्ष्य स्थलों के रूप में वेणीसंहार को प्रमुखता देकर उद्धृत किया है। अपने इस उद्देश्य के निमित्त ही नाटककार ने भीम के साथ दुर्योधन एवं दु:शासन की तथा अर्जुन के साथ कर्ण की प्रतिद्वन्द्विता नियोजित की है। कर्ण के साथ अश्वत्थामा के मध्य कलह की योजना भी इस उद्देश्य में सहायक है। उधर दु:शासन एवं दुर्योधन के रक्त में स्नात भीम के माध्यम से भयानक एवं बीभत्सरस का स्पर्श किया गया है तथा युधिष्ठिर की सरलता एवं औदात्य के उत्कर्ष के निमित्त चार्वाक की छलना का वैषम्य अद्भुतरस की दृष्टि से उपादेय है।

इस प्रकार वेणीसंहार को यदि दीप्तरसयोनिकाव्य माना जाए तो अनुचित न होगा क्योंकि नाटककार भट्टनारायण ने पूर्ण आयास के साथ युद्ध-नियुद्ध,

---

१ वेणी ३।४७,

२ अश्वत्थामा :- अङ्गराज। सेनापते ।। रक्षैनं साम्प्रतं भीमाद्
दु:शासनम्। वेणी- अंक ३, पृ० १४६

क्रोध और संघर्ष, धीरता और वीरत्व के प्रसंगों की योजना के माध्यम से नायक प्रति-नायक और उनके सहायकों की भूमिकाओं को उस सीमा तक उभारा है कि काव्य-शास्त्रियों और नाट्यशास्त्रियों के लक्षणों के उदाहरणों के रूप में इस रूपक के अधिकांश महत्वपूर्ण स्थल उद्धृत किये जा सकते हैं ।

- o -

सप्तम अध्याय

-o-

ऐतिहासिक, लोकाश्रित एवं प्रतीक रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका

कांश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्नयत्युन्नतिं
कांश्चित्पातविधौ करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्याकुलान् ।
अन्योन्य प्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थितिं बोधयन्
एष क्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः ।।

-- मृच्छ० १० । ५६

अध्याय-सात

-o-

ऐतिहासिक, लोककथाश्रित एवं प्रतीक रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका

अध्याय- ७

ऐतिहासिक, लोककथाश्रित एवं प्रतीकरूपकों में प्रतिनायक की भूमिका

संस्कृत के रूपकों में अभी भी ऐसे अनेक रूपक उपलब्ध हैं जिन्हें ऐतिहासिक अथवा लोककथाओं पर आश्रित रूपकों की कोटि में रखा जा सकता है । ऐसे रूपकों में देवीचन्द्रगुप्तम् के अवशेष, चारुदत्तम्, प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्तम्, अविमारकम्, मृच्छकटिकम् एवं मुद्राराक्षस की गणना सरलता से हो सकती है । इसी कोटि में मालविकाग्निमित्रम्[1] विक्रमोर्वशीयम् को भी रखा जा सकता है । वासवदत्ता एवं उदयन की प्रेम कथा पर आश्रित रूपक तो अनेक हैं किन्तु प्रकृत स्थल पर प्रतिनायक की भूमिका को ध्यान में रखते हुए कुछ प्रतिनिधि रूपकों की ही विवेचना अभीष्ट है । अतः भास के चारुदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, मृच्छकटिकम् एवं मुद्राराक्षस की ही आलोचना यहाँ की जा रही अभीष्ट है, जिनमें प्रबन्ध की दृष्टि से नायकविरोधी भूमिकाओं की योजना महत्त्वपूर्ण है ।

इसी सन्दर्भ में यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि लोककथाओं पर आश्रित अधिकांश रूपकों में प्रेम कथाओं को ही नाटककारों ने चुना जिनमें संघर्ष का वह रूप तो नहीं मिलता जो प्रायः पाश्चात्य त्रासदियों में मिलता है फिर भी संघर्ष की स्थितियां तो आती ही हैं । उनके अधिकांश सूत्र राजमहिषी, महारानी आदि के हाथों में होते हैं और राजा अथवा नायक को प्रायः अपनी प्रेयसी की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार के उपाय करने पड़ते हैं ।

चारुदत्तम्

ऐसी ही एक प्रेमकथा पर आश्रित भास के रूपकों में चारुदत्तम् का

---

१ कीथ सं० ना० पृ० १४८ तथा सं० सा० इ०, उपाध्याय, पृ० १८५

मूल विद्वानों ने बृहत्कथा में वर्णित कुमुदिका नाम की एक गणिका की एक दरिद्र-ब्राह्मण से प्रेम की कथा में देखा है[1]। मूल जो भी हो इस रूपक के कथानक से यह तो सिद्ध ही है कि उसके पात्र समाज के अधिक निकट हैं और उसका सम्बन्ध रामायण, महाभारत अथवा ऐसे ही किसी अन्य पौराणिक आख्यान से नहीं है। चारुदत्तम् के अन्त को देखते हुए यह अनुमान किया गया है कि यह रूपक अपूर्ण अवस्था में उपलब्ध है। `भासनाटकचक्रम्` में `चारुदत्तम्` के चार अंक ही उपलब्ध हैं जिनमें मृच्छकटिकम् के आरम्भिक चार अंकों की कथा का मूल एवं संक्षिप्त रूप ही मिल पाता है। तथापि इस रूपक की संक्षिप्त विवेचना इसलिए आवश्यक है कि उसे ध्यान में रखे बिना मृच्छकटिकम् की आलोचना अपूर्ण ही रह जायगी।

`चारुदत्तम्` के प्रथम अंक में दरिद्रता के कारण साथ छोड़ देने वाले साथियों की वृत्ति पर चारुदत्त का खेद, नायिका वसन्त सेना का पीछा करते हुए शकार एवं विट का प्रवेश, शकार की याचना, वसन्त सेना द्वारा शीलरक्षार्थ चारुदत्त के घर में घुस जाना और चारुदत्त को धमकी देकर शकार के चले जाने पर वसन्त सेना द्वारा चारुदत्त के समीप अपने अलंकारों के निक्षेप की कथा ग्रथित है।

द्वितीय अंक में चारुदत्त के प्रति वसन्त सेना का उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होता हुआ आकर्षण, अतएव चारुदत्त के पूर्वसेवक संवाहक के प्रति वसन्त सेना का सद्भाव, वसन्त सेना के हाथी द्वारा संत्रस्त संवाहक की रक्षा करने वाले वसन्त सेना के सेवक के साहसिक कार्य तथा चारुदत्त द्वारा उसे पुरस्कृत किए जाने की कथा है।

तृतीय अंक में रात देर से लौटकर आए चारुदत्त एवं उसके विदूषक के मध्य वार्तालाप में चारुदत्त का संगीत प्रेम, सज्जलक (मृच्छकटिकम् के शर्विलक) द्वारा अपनी प्रेमिका मदनिका (वसन्त सेना की चेटी) को दास कर्म से मुक्त कराने के निमित्त धन के लिए चारुदत्त के पास से (वसन्त सेना के) अलंकारों की चोरी, विदूषक की मूर्खता, चारुदत्त की अर्धांगिनी ब्राह्मणी द्वारा उन अलंकारों के बदले में अपनी

---

[1] कीथ महोदय यद्यपि `चारुदत्तम्` के मूल के सम्बन्ध में उसे सीधे बृहत्कथा से नहीं जोड़ते किन्तु मृच्छकटिकम् का स्रोत बृहत्कथा में ढूंढते हैं, देखें : सं० ना०, पृ० ६६ एवं १३१।

बहुमूल्य रत्नावली का दान, चारुदत्त द्वारा खेद सहित उसे स्वीकार करके वसन्त-सेना के आभूषणों के बदले में विदूषक के हाथों उसे भेजने की कथा प्राप्त है ।

उपलब्ध चतुर्थ अंक में सज्जलक के चौर कर्म एवं प्रेम का भेद तथा चारुदत्त द्वारा उन अलंकारों के द्यूतक्रीडा में हार जाने के भेद का खुलना, सज्जलक के लिए मदनिका की मुक्ति एवं वसन्त-सेना द्वारा रत्नावली को लौटाने के व्याज से चारुदत्त के समीप अभिसार हेतु प्रस्थान तक की कथा उपनिबद्ध की गयी है ।

नायक

चारुदत्तम् के नायक के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है उसका निर्लिप्त भाव । उसकी सम्पत्ति का चला जाना, निर्धनता का साम्राज्य, वसन्तसेना से अनुराग, मित्रों का मुख मोड़ लेना, राजा के साले शकार की लम्पटता एवं सनकी,[1] आभूषणों की चोरी, उसके बदले में पत्नी द्वारा अपनी प्रिय रत्नावली का दिया जाना, स्वयं दूसरों के लिए जो कुछ है उसे देते हुए चारुदत्त की उदारता, ये ऐसी विशेषताएं हैं जो नायक चारुदत्त के चरित्र को बहुत ऊंचा उठा देती हैं । आने वाली सभी विपत्तियों को हंसते हुए झेलने में वह सिद्धहस्त है । कहीं-कहीं उसमें पाश्चात्य त्रासदी के नायक रोमियो की झलक मिलती है जो भिन्न होते हुए भी अपने त्याग एवं समर्पित व्यक्तित्व के कारण चारुदत्त की समानता करता है किन्तु एक का सम्पूर्ण त्याग प्रेयसी के लिए है दूसरे का अर्थात् चारुदत्त का त्याग धर्म से अनुप्राणित है ।

हम आगे मृच्छकटिकम् की आलोचना के प्रसंग में देखेंगे कि भास के चारुदत्त और शूद्रक के चारुदत्त में सबसे बड़ा अन्तर है शकार से उसके सीधे संघर्ष का अभाव । इस कारण भास के चारुदत्त का चरित्र एकांगी हो गया है । वसन्तसेना की प्राप्ति में, चारुदत्त एवं वसन्तसेना के प्रणय में (यद्यपि वह प्रणय पूर्ण विकसित नहीं हो पाया है) शकार की भूमिका अधिक प्रभावोत्पादक नहीं है फिर भी उसका जो रूप है वह वसन्तसेना के सन्दर्भ में ही है । अतः चारुदत्त की सरलता, सज्जनता भी

---

१ चारुदत्तम् के उत्तरार्ध के अभाव में उसमें वर्णित शकार का स्वरूप अस्पष्ट ही रह जाता है और पूर्वार्ध में उसकी लम्पटता और सनकी ही दिखलाई देती है ।

एकांगी रह गयी है । उसकी दरिद्रता[1] और उस पर एक रूपवती गणिका से घुटवा-घुटवा सा प्रणय[2], इन दोनों ही अवस्थाओं में उसका सहायक है विदूषक, जो आरम्भ से अन्त तक उसका साथ देता है, जो उसे वसन्तसेना के प्रसंग में भी सहायता देता है और शकार से भी साक्षात्कार करता है ।

चारुदत्त का प्रतिनायक शकार

साक्षात् संघर्ष के अभाव के कारण प्रतिनायक शकार का चरित्र भी यहां सपाट है जो चारुदत्त का प्रतिस्पर्धी होते हुए भी उससे पूर्व से ही वसन्तसेना की रति का आकांक्षी है । क्योंकि जिस समय से चारुदत्त एवं वसन्तसेना के मध्य अनुराग के बीज पड़े हैं वह उसे उसी समय से जानता है[3] । अतः यह घटना उसके लिए अधिक पीड़ादायक है । चारुदत्त के प्रति उसकी दुर्भावना का कारण भी यही है । अपने सम्पूर्ण आयाम में शकार का जो स्वरूप एवं चरित्र है उसे विट इन शब्दों में स्पष्ट करता है :- वह मूर्ख है जो गणिका द्वारा दिए गए शाप `शान्तोऽसि` अर्थात् चुप हो जा अथवा `जा मर जा` को श्रान्तोऽसि -`प्रिय । तुम थक गए हो ` के रूप में ग्रहण कर बैठता है और ऐसी ऊल जलूल बातें ऐसे ऊटपटांग ढंग से कहता है कि वे निरर्थक हो जाती हैं । वस्तुतः यह मनुष्य के रूप में पशु का नवीन अवतार है[4] ।`

वस्तुतः शकार के लिए (शास्त्रीय दृष्टि से) दुष्ट अथवा खल शब्द उसके चरित्र के किंचित् अनुकूल हैं । उसे प्रतिनायक की अपेक्षा इन्हीं शब्दों से पहचाना जा सकता है, क्योंकि प्रतिनायक में नायक (धीरोद्धत) के जिन गुणों का समावेश होता है शकार में उनका नितान्त अभाव है । तथापि अपने संक्षिप्त रूप में भी, उसकी भूमिका में सजीवता है । वह क्रोधी[5], कामी तथा पापी[6], सभी विशेषणों

---

१ चारु० १।२ २ चारु० १।४, २८

३ `आ कामदेवानुयानात् प्रभृति नयनमात्रसंस्थुलंदरिद्रसार्थवाहपुत्रं चारुदत्तकं कामयस इत्था ।` — चारु० प्रथम अंक, पृ० २०३

४ देखें :- चारु० १। १६

५ चारु० १।१०, १२, २३

६ चारु० १।६, १५

से युक्त चरित्र है । दु:शासन के साथ सीता एवं कृष्णा के साथ कुन्ती की तुकबन्दी करने वाला शकार अपने ढंग का निराला ही चरित्र है जो संस्कृत साहित्य की अमूल्य धरोहर है ।

शकार के चरित्र से चारुदत्त की भूमिका को केवल इतना ही बल मिलता है कि शकार चाहता है कि चारुदत्त के घर में शरणागत वसन्तसेना को दूसरे दिन वापस कर दिया जाए । शकार यह सब बड़ी विनम्रतापूर्वक विदूषक के माध्यम से कहलाता है । किन्तु उसकी धमकी की भाषा भी उसकी मति के समान ही डग-मगाती है जिसे वह बार-बार संशोधित करता रहता है । अतएव उसकी धमकी भी मात्र एक परिहास ही प्रतीत होती है । और इस कारण उसे एक विदूषक एवं प्रति-नायक की मिली जुली मूर्ति माना जा सकता है । मृच्छकटिकम् के समान यहाँ उसका सीधा संघर्ष नहीं हो पाता और उसके चरित्र पर यहीं पटाक्षेप हो जाता है ।

तात्पर्य यह कि नायक की भूमिका के विकास में अधिक योग न देते हुए भी अपने स्वतंत्र रूप में उसकी संदिग्ध भूमिका सजीव और महत्वपूर्ण है ।

उपनायक

उपनायक के रूप में संवाहक की भूमिका को देखा जा सकता है । वह चारुदत्त का पुराना सेवक है । चारुदत्त की निर्धनता के कारण उसने उसकी सेवा छोड़ दी और द्यूतोपजीवी बन गया । वह द्यूत में किसी से हारकर ऋणी हो जाता है और अन्त में नायिका वसन्तसेना द्वारा ऋणमुक्त हो जाता है । वसन्तसेना की इस उदारता के पीछे उसके मन में यह भावना तो है ही कि वह उसके प्रियतम का पुराना सेवक है । सारांश में संवाहक की भूमिका द्वारा नाटककार ने दो लाभ उठाये हैं एक ओर तो वसन्तसेना के समक्ष नायक-प्रशंसा द्वारा वसन्तसेना के अनुराग को द्विगुणित किया है और नायिका की दानप्रियता का प्रदर्शन किया है । दूसरी ओर नायक के गुणाख्यान द्वारा नायक की भूमिका के महत्व को बढ़ाया है ।

उपप्रतिनायक

सज्जलक की भूमिका का अपना महत्व है । उसे उपप्रतिनायक कहा

जा सकता है क्योंकि अप्रत्यक्ष रूप से वह चारुदत्त की वेदना को, दुःख को बढ़ाता है। उसके कर्म को एक कला के रूप में भी देखा गया है । शर्विलक द्वारा चारुदत्त के पास निक्षिप्त अलंकारों की चोरी से चारुदत्त की ग्लानि तो बढ़ती है, किन्तु उसके चरित्र का वह पक्ष और उभरता है जिसका वह धनी है, दानी तो वह है ही, वह सोचता है 'इस चोरी पर कौन विश्वास करेगा, मेरी निर्धनता के कारण लोग मुझपर ही शंका करेंगे'[1] इस कथन में आभूषणों की चोरी का खेद उतना नहीं है, जितना कि लोगों की शंकालु दृष्टि का उसे भय है । शर्विलक के इस कर्म के माध्यम से ही चारुदत्त की पत्नी के उदात्त चरित्र को भी अभिव्यक्ति मिलती है जो अपने पति को इस विपत्ति से बचाने के लिए अपनी बहुमूल्य रत्नावली देती है ।

इस रूप में शर्विलक की भूमिका ने चारुदत्त एवं उसकी पत्नीके चरित्र की उदात्तता, उसके स्वयं के प्रेम तथा इस प्रसंग में नायिका वसन्तसेना की सहृदयता (मदनिका की मुक्ति एवं उन आभूषणों का दान) तथा चारुदत्त के पास जाने का बहाना, सब कुछ एक साथ सुलभ करा दिया है । इतना ही नहीं इस प्रासंगिक इतिवृत्त द्वारा नाटककार ने आधिकारिक इतिवृत्त को भी गति दी है । रूपक की अपूर्णता के रण शर्विलक का आत्मसमर्पणरूप प्रायश्चित भले ही न उभर सका हो किन्तु आभूषणों को वसन्तसेना को समर्पित करते हुए उसकी भावनाओं में परिवर्तन स्पष्ट है । मृच्छकटिकम् में शर्विलक का जो चरित्र है, शर्विलक उसका संक्षिप्त रूप है जिसकी योजना में नाटककार ने निश्चय ही सफलता प्राप्त की है ।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण

प्रस्तुत स्थल पर भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' की आलोचना का मुख्य उद्देश्य एक ऐसी कथावस्तु से परिचित कराना है जिसमें अमात्य की भूमिका का महत्त्व तो है ही, मुद्राराक्षस के नाटककार को प्रेरणा देने की दृष्टि से भी वह महत्त्वपूर्ण है । अधिकांश भिन्नताओं के होते हुए भी 'प्रतिज्ञा' एवं 'मुद्राराक्षस' में कुछ समानताएं भी हैं । मुख्यरूप से आमात्य की राज्यसंचालन में साझेदारी, उसकी कूटनीति

---

1 चारु० 3।15

और अन्तिम घटना की योजना के स्वरूपों में[1] पर्याप्त समानता है । इतना ही नहीं प्रतिज्ञा का महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है क्योंकि उसका कथानक पौराणिक कथानकों से पृथक् लोककथा, वह भी उदयन की प्रेम कथा से सम्बन्धित है । उदयन की प्रेम कथा की ख्याति अलौकिक है । यही कारण है कि उदयन की प्रेमकथाओं को आधार बनाकर संस्कृत साहित्य में अनेक रूपकों की रचना की गयी । स्वयं भास ने उदयन की प्रेमकथा पर प्रतिज्ञा के अतिरिक्त स्वप्नवासवदत्तम् जैसी अमूल्य भेंट दी । रत्नावली, वीणावासवदत्तम्, तापसवत्सराज जैसे अन्य रूपक भी इसी शृङ्खला में आते हैं । महाकवि कालिदास ने भी उदयन की इस कथा का अत्यन्त आदर के साथ स्मरण किया है ।[2]

प्रतिज्ञायौगन्धरायण की कथावस्तु यद्यपि प्रेमकथा पर आश्रित नहीं है फिर भी इससे उदयन की संगीत प्रियता, कोमल भावनाओं, उसके व्यसन एवं उसके धीरललित गुणों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है । यद्यपि उदयन एवं वासवदत्ता के पलायन को इस रूपक में एक राजनीतिक रूप में प्रस्तुत किया गया है किन्तु उदयन से सम्बन्धित अन्य लोककथाओं के परिप्रेक्ष्य में उसका ललित चरित्र स्वतः उद्भासित हो उठता है ।

इस रूपक का नायक उदयन का मन्त्री यौगन्धरायण है । उसे अपने गुप्तचरों द्वारा ज्ञात हो गया है कि 'उज्जैनी नरेश महासेन कौशाम्बी की स्वाधीनता से प्रसन्न नहीं है और उसने हाथियों के आखेट के व्यसनी उदयन को किसी वन में एक कृत्रिम हाथी के जाल में फंसाकर बन्दी बनाने का षड्यन्त्र किया है ।' किन्तु

---

१ का तृतीय :- कारणैः बहुभिर्युक्तैः कामं नापकृतं त्वया ।
गुणेषु न तु मे द्वेष्यो शृङ्गारः प्रतिगृह्यताम् ।।प्रतिज्ञा ४।२१

चाणक्य :- अमात्य राक्षस । अगृहीत शस्त्रेण भवताऽनुगृह्यते वृषल इत्यन्तः सन्देहः ।............ ततो गृह्यतामिदं शस्त्रम् ।
—मुद्रा० सप्तम अंक - पृ० ३०६

यौग० -- एवं सम्बन्धं मन्यते महासेनः । तेनस्थाणीयताम् शृङ्गारः ।प्रतिज्ञा०४। पृ०१०६

राक्षस-- (प्रकाशम्) भो विष्णुगुप्त । उपानय शस्त्रम् ।मुद्रा०सप्तम अंक

२ मेघदूत १।३०

इससे पूर्व कि वह उदयन को शिकार पर जाने से रोके शत्रुओं द्वारा उदयन को बन्दी बना लिया जाता है। यौगन्धरायण को सबसे बड़ा खेद यह है कि वह अपने स्वामी की कोई सहायता नहीं कर सका और लोग इसका सारा दोष उसे ही देंगे। अत: वह रुमण्वान नामक अपने एक अन्य आमात्य के साथ उदयन को मुक्त कराने तथा उदयन द्वारा ही महासेन की पुत्री का अपहरण कराकर महासेन को अपमानित करने की एक योजना बनाता है।

तत्पश्चात् उसके गुप्तचर तथा वह स्वयं उज्जैनी में जाकर छद्मवेश में रहने लगते हैं। उधर महासेन अपनी पुत्री वासवदत्ता के विवाह की चिन्ता में है। उदयन की ओर से कोई प्रस्ताव न आने से वह उदयन के प्रति किंचित रुष्ट है। वासवदत्ता को वीणा से लगाव है और उदयन वीणा वादन में निपुण है। इस कारण महारानी के आग्रह पर वीणा की शिक्षा के लिए उदयन को बाध्य किया जाता है। उदयन के बन्दी होने पर उसकी घोषवती वीणा छीनकर वासवदत्ता को दे दी जाती है। यही माध्यम है दोनों के मिलने का। उधर यौगन्धरायण अपने गुप्तचरों को राजप्रासाद में निक्षिप्त कर देता है। अपने इन्हीं सेवकों की सहायता से उदयन द्वारा वासवदत्ता का अपहरण कराकर वह उन दोनों को कौशाम्बी भेज देता है। किन्तु स्वयं बन्दी बना लिया जाता है।

महासेन यद्यपि उदयन से अप्रसन्न है फिर भी वह उसके गुणों का प्रशंसक है और कभी भी नहीं चाहता कि उदयन के साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार किया जाए। वह वासवदत्ता के साथ उदयन के पलायन से अपमान का अनुभव करता है फिर भी प्रसन्न है कि उसकी पुत्री को योग्य वर मिल गया है। अत: वह दोनों के चित्रों को रखकर उनका विवाह सम्पादित करता है। जिसके लिए यौगन्धरायण को भृङ्गार (सुवर्णकलश) उठाने का दण्ड मिलता है जिसे वह अपनी योजना की सफलता मानकर स्वीकार कर लेता है।

यौगन्धरायण एवं महासेन के मध्य सीधे संघर्ष का तो अभाव है ही उनके मध्य संवादों का भी अभाव है। इस कारण नाटकीयता किंवा अभिनय का पक्ष दुर्बल हुआ है। फिर भी यौगन्धरायण में एक नायक के सामान्य गुण मिल

जाते हैं, यद्यपि उसमें धीरोद्धत नायक के अनुकूल गुणों का पर्याप्त अभाव है क्योंकि यौगन्धरायण में न तो चंचल चित्तवृत्ति है नहीं विकत्थना । तथापि उसमें दर्प है अपनी बुद्धि पर, महासेन के प्रति उसके मन में द्वेष भावना भी है, वह छलछद्म में निपुण है एवं पराक्रमी भी है । इस आधार पर उसे धीरोद्धत नायक के रूप में देखा जा सकता है किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि पूर्णतः धीरोद्धत भी नहीं लगता, धीरललित एवं धीर - शान्त तो वह है ही नहीं, किसी रूप में उसे धीरोदात्त नायक भी माना जा सकता है । रूपक की पुष्पिका में इसे 'प्रतिज्ञा नाटिका वसिता' के रूप में नाटिका कहा गया है किन्तु ऐसा तब तक नहीं स्वीकार किया जा सकता जब तक कि उदयन को नायक एवं वासवदत्ता को नायिका न मान लिया जाए किन्तु ऐसा मानने का कोई भी कारण नहीं है । वस्तुतः अमात्य के नायकत्व को स्वीकारने के उपरान्त इसे नाटिका की अपेक्षा प्रकरणिका उपरूपक मानना अधिक युक्तिसंगत है । प्रकरण के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्रीय-परम्परा के व्यापक दृष्टिकोण के कारण ऐसा मानना और भी उचित है[1]।

यौगन्धरायण का नायकत्व

यौगन्धरायण के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है अपने राज्य के प्रति उसका समर्पण और इस व्याज से उदयन के प्रति उसकी निष्ठा । उसकी प्रतिद्वन्द्विता में महासेन का मन्त्री भरतरोहक कहीं भी नहीं टिकता यद्यपि उदयन और यौगन्धरायण को बन्दी बनाने का श्रेय उसे ही है । किन्तु उसका चरित्र चित्रण कुछ इस प्रकार से हुआ है और यौगन्धरायण के प्रति नाटककार का पक्षपात इतना अधिक है कि उसके समक्ष महासेन का मन्त्री क्या महासेन स्वयं भी नहीं टिक पाता । रूपक के अभिधान से ही स्पष्ट है कि नाटककार यौगन्धरायण की कर्तव्यनिष्ठा को ही चित्रित करना चाहता है । जिसके निमित्त उसने उसकी प्रतिद्वन्द्विता में सीधे महासेन को प्रस्तुत किया है ।

यौगन्धरायण एक समर्पित चरित्र है । उसे सदा उदयन की चिन्ता है क्योंकि वह जानता है उदयन को छोड़कर लगभग अन्य सभी राजाओं ने महासेन की

---

१ नाट्यशास्त्र १८।६५

श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया है । वह यह भी जानता है कि उदयन को वीणा-वादन और हाथियों के पकड़ने का व्यसन है । वह अपने सेवकों के प्रति पर्याप्त उदार है । वह बुद्धिजीवी है । वह उदयन के बन्दी बनाए जाने के समाचार से इतना क्षुब्ध हो उठता है कि किसी भी रूप में महासेन को पराजित करना चाहता है । इसके लिए उसके मन में महासेन से युद्ध की अपेक्षा कूटनीति द्वारा उसको अपमानित करने की भावना अधिक प्रबल है[1]। इसलिये वह सर्वप्रथम उदयन को मुक्त कराने की प्रतिज्ञा करते हुए उदयन को चन्द्रमा एवं महासेन को राहु के समान मानता है[2]। वह अत्यन्त उत्साही है और उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है[3]।

विदूषक द्वारा यह जानकर कि उदयन वासवदत्ता में आसक्त है वह एक नयी योजना बनाता है जिससे महासेन से प्रतिशोध भी लिया जा सके और उदयन की मनोकामना भी पूर्ण हो सके। वह कहता है जिस प्रकार अर्जुन ने सुभद्रा का अपहरण किया था उसी प्रकार वत्सराज द्वारा वह वासवदत्ता का अपहरण करवाकर के ही चैन लेगा[4]। अपने इस कार्य की पूर्ति पर वह प्रसन्न है[5]। उसे प्रसन्नता है कि शत्रु देश के नागरिक भी उसका दर्शन करना चाहते हैं[6]। भरतरोहक के साथ सम्वाद में वह अपने सभी कर्मों के औचित्य की सिद्धि के निमित्त जो तर्क देता है उनसे उसकी बुद्धिमत्ता का परिचय मिलता है ।

प्रतिनायक

महासेन के चरित्र की यही विशेषता है कि वह अपने प्रतिद्वन्द्वी को ही नहीं उसके पीछे कार्य करने वाले महामात्य यौगन्धरायण की तीक्ष्ण बुद्धि को पहचानता है । वह जानता है कि उदयन को नीचा दिखाने का एक ही मार्ग है उसे बन्दी बनाना । क्योंकि उसके आधिपत्य को स्वीकार करते हुए लगभग सभी राजाओं ने उसकी पुत्री वासवदत्ता के साथ विवाह की इच्छा प्रकट की है किन्तु उदयन ने ही अपनी सार्वभौम सत्ता को बनाए रखकर अब तक ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं किया है ।

---

१ प्रतिज्ञा० १।१४
२ प्रतिज्ञा० १।१६
३ प्रतिज्ञा० १।१८
४ प्रतिज्ञा० ३।८,६
५ प्रतिज्ञा० ४।६
६ प्रतिज्ञा० ४।७

महासेन की भूमिका का इससे भी अधिक महत्व इसलिए है कि वह यौगन्धरायण के अस्तित्व का बोध कराता है, उसकी प्रतिज्ञा का कारण बनता है, वही उसका बधक है। उदयन को बन्दी बनाने के लिए महासेन ने जो उपाय सोचा है, वह नाट्य दृष्टि से भले ही उचित प्रतीत न हो किन्तु किसी मृगयाव्यसनी नायक को बन्दी बनाने के लिए इससे अच्छा उपाय और क्या हो सकता है ? अपनी योजना के लिए वह अपने अमात्य भरतरोहक की सहायता से एक कृत्रिम नीलहस्ती की रचना कराकर अपने दूत के माध्यम से उसे निःसहाय करके बन्दी बना लेता है। बन्दी को अपनी पुत्री का गुरु बनाना एक ओर जहां उसकी अदूरदर्शिता का परिचायक है वहीं उसकी कूटनीतिक दूरदर्शिता का भी परिचायक है। इस माध्यम से नाटककार ने शिक्षा के लिए मित्र एवं शत्रु के भेद को न समझने की प्राचीन भारतीय परम्परा का भी समर्थन किया है। प्रतिनायक महासेन की योजना ही यौगन्धरायण की प्रतिज्ञाओं का कारण है। उसी की पूर्ति आलोच्य रूपक का फल है। अतः महासेन किंवा प्रतिनायक और उसके सहायक भरतरोहक की भूमिका निश्चय ही महत्वपूर्ण है।

महासेन की अपेक्षा भरतरोहक में अधिक दृढ़ता और क्रोध है। ऐसा स्वाभाविक भी है। उदयन के बन्दी बनाए जाने पर जिस प्रकार यौगन्धरायण को ग्लानि, क्षोभ एवं लज्जा का अनुभव होता है, वासवदत्ता के अपहरण द्वारा महासेन के अपमान के बाद महासेन के मन्त्री भरतरोहक को भी वैसी ही पीड़ा, ग्लानि एवं संकोच का अनुभव होता है। महासेन द्वारा उदयन एवं यौगन्धरायण के साथ जो सद्व्यवहार की घोषणा की जाती है उससे जहां महासेन का चरित्र उभरता है वहीं उसके द्वारा यौगन्धरायण की महानता उसकी ख्याति और प्रतिष्ठा का परिचय भी मिलता है। शत्रु भी जिसकी बुद्धि का लोहा मानता हो उससे महान् कौन होगा ? कञ्चुकी से यह जानकर कि उदयन तो पकड़ लिया गया किन्तु यौगन्धरायण कौशाम्बी से कहीं अन्यत्र चला गया है, महासेन चिन्तित हो उठता है। उसकी चिन्ता स्वाभाविक है क्योंकि जबतक यौगन्धरायण स्वतंत्र है उसका निश्चिन्त होना व्यर्थ है[१]।

भरतरोहक के साथ उसके विवाद द्वारा पुनः यौगन्धरायण के कर्म

---

१ प्रतिज्ञा० २।१

का औचित्य ठहराया गया है । उसमें उसकी कर्मपरायणता, कर्मनिष्ठा एवं बुद्धिचातुर्य का तो परिचय मिलता ही है यह भी पता चलता है कि बन्दी होते हुए भी वह कितना निर्भीक है, यह कि सत्य कहने से उसे कोई नहीं रोक सकता[1]। वह जानता है कि भरत-रोहक (और महासेन) चिन्तित है कि उनकी प्रतिष्ठा गिरी है जिसका कारण यौगन्धरायण ही है किन्तु इस विपरीत स्थिति के मूल में तो भरतरोहक (और महासेन) स्वयं हैं । जब भरतरोहक ने आग से खेलना आरम्भ किया था तब क्यों नहीं सोचा था?[2] अब जब उसका परिणाम वासवदत्ता के अपहरण के रूप में सामने आ गया तो पश्चाताप क्यों ? फिर भी वह इतना तो जानता ही है कि इससे भरतरोहक की जो प्रतिष्ठा गिरी है उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती यही कारण वह स्वयं भी खिन्न है[3]।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है प्रतिज्ञा यौगन्धरायण का कथानक जितना संश्लिष्ट है उसे देखते हुए यौगन्धरायण का चरित्र पर्याप्त महत्वपूर्ण है। यौगन्धरायण के इस स्वरूप एवं चरित्र के मूल में महासेन है । उसके भी पीछे है महासेन की महत्वाकांक्षा । उस महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिए उसके आमात्य भरतरोहक की योजना भी उपयोगी है । किन्तु उसका भी जो प्रतिफल है वह महासेन की प्रतिष्ठा को, वह कहां की नहीं पहुंचा देता है । अपनी कन्या के अपहरण को अन्त में (चित्र फलक रखकर विवाह के रूप में) स्वीकार करने को उसकी पराजय ही माना जाएगा किन्तु प्रकारान्तर से स्वाभिमानी वत्सराज उदयन से अपना सम्बन्ध स्थापित करके उसे जिस शान्ति का अनुभव होता है,उसे ध्यान में रखते हुए इसे प्रतिनायक के `पश्चाताप` के रूप में देखा जा सकता है । तात्पर्य यह कि महासेन एवं उसकी सहायक भूमिका भरतरोहक,दोनों ही चरित्र निश्चित रूप से ~~इस उद्देश्य और~~ इस ढंग से प्रस्तुत किए गए हैं जिससे नायक यौगन्धरायण की भूमिका का महत्व पर्याप्त बढ़ गया है और इस प्रकार रूपक पर्याप्त रोचकता से युक्त है[4]।

---

१ प्रतिज्ञा० ४।१३,१४,१५,१६,१७,१८,१९,२०

२ प्रतिज्ञा० ४।११ ३ प्रतिज्ञा० ४।१२

४ It has long been and will long continue to be notable dramatic entertainment. The audience fairly smacks it's lips in gusto at the contention of the rival ministers. '

H.W. Wells, CDI Page 24

मृच्छकटिकम्

मृच्छकटिकम् एक ऐसा रूपक है जिसका मूल्यांकन भारतीय एवं पाश्चात्य सभी विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से किया है। सभी ने उसकी कथावस्तु, प्रस्तुतीकरण, उसके रस एवं पात्रों के अभिनय, भाषा एवं भाव पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। लगभग सभी ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि संस्कृत साहित्य ही नहीं पाश्चात्य नाट्यकर्मियों एवं नाट्य-प्रेमियों के लिए भी यह रूपक अद्वितीय है,[1] जैसाकि कीथ महोदय भी मानते हैं, इसी कारण शूद्रक एक अद्वितीय रचनाकार है[2]। आचार्य बलदेव उपाध्याय भी मानते हैं कि आख्यान तथा वातावरण की यथार्थवादिता और नैसर्गिकता के कारण ही मृच्छकटिकम् पाश्चात्य आलोचकों की विपुल प्रशंसा का भाजन बना हुआ है[3]। एम० आर० काले, डा० देवस्थली और हेनरी वेल्स एवं रायडर जैसे आलोचकों ने उसका मूल्यांकन करते समय उसमें अभावों की अपेक्षा पूर्णता, प्राचीनता की अपेक्षा नवीनता एवं रूढ़ि की अपेक्षा मौलिकता के दर्शन किए हैं[4]।

कथानक के विस्तृत होने पर भी और नाटककार पर उसे चुराने तथा अधिकपात्रों की योजना करने का आरोप होने पर भी शूद्रक अपने नाट्य कर्म में

---

१ "Reasonably well given it should win a fairly sizable audience in the professional theatre, for it is as imaginative or poetic a play as an audience is today likely to applaud and by no means stands beyond spontaneous and lively appreciation."

CDI Page 131

२ सं० ना० पृ० १३८ ३ सं० सा० इ० पृ० ५५२

४ द्रष्टव्य ; (क) दि मृच्छकटिक आफ शूद्रक, एम० आर० काले

(ख) दि स्टडी आफ मृच्छकटिक, डा० जी०वी० देवस्थली

(ग) दि लिटिल क्ले कार्ट, रायडर

(घ) दि क्लासिकल ड्रामा आफ इण्डिया, हेनरी डब्लू वेल्स (चैप्टर १२)

पूर्णतः सफल हुए हैं। शास्त्रीयपरम्पराओं के प्रति उनका व्यामोह भी नहीं है और उन्होंने समाज के निम्नतर वर्ग के पात्रों के माध्यम से एक ऐसे समाज का परिचय दिया है जहां चोर भी है और कामुक शकार भी जो बलात्कार, हत्या, मारपीट, अपशब्द कुछ भी कहने और करने में किंचित् भी संकोच नहीं करता। दूसरी ओर चारुदत्त जैसा पात्र भी है जो निर्धन होते हुए भी उन्मुक्तहस्त होकर दान करता है, किसी भी दीन दुःखी पर दया करता है, धर्म में जिसकी अटूट आस्था है, जो समाज का प्रतिष्ठित नागरिक एवं एक सन्मित्र है। पत्नी एवं पुत्र के लिए जिसके पास अमित प्रेम है फिर भी प्रेयसी वसन्तसेना के लिए कष्ट उठाने को सदा उद्यत है, वह एक निष्ठावान् प्रेमी है।

नायक नायिका एवं सहायक भूमिकाओं तथा नायक के कार्य में अवरोध उत्पन्न करने वाली भूमिकाओं का मूल्यांकन करते समय हम नाटककार की कुशलता की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। जितने संवाहक, शर्विलक, वीरक, चन्दनक एवं विदूषक इनमें से किसी भी पात्र के कार्यों का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सम्बन्ध मुख्यनायक अथवा उसके प्रतिद्वन्द्वी अथवा नायिका के सुखदुःख के साथ स्थापित किया है। छोटी से छोटी घटना चाहे वह कर्णपूरक की उपकृत-प्रावरक की हो अथवा द्यूतकर और माथुरक द्वारा उत्पीड़ित संवाहक की अथवा मदनिका-शर्विलक का प्रेम हो अथवा तन्निमित्तक चौर-कर्म यहां तक कि वीरक एवं चन्दनक का कलह तथा आर्यक के कारागार से पलायन एवं उसकी राज्यप्राप्ति तक के कथातन्तु सभी चारुदत्त एवं वसन्तसेना से संबद्ध हो जाते हैं।

अपने आकार, योजना, कथावस्तु एवं पात्रों के परिवेश में मृच्छकटिकम् एक ऐसा प्रकरण है जिसका कथानक लोकवृत्तात्मक, एवं नायक एक धीरप्रशान्त विभूति वाला ब्राह्मण है[१]। नायिका के रूप में गणिका वसन्तसेना है तथा विट, चेट, माथुरक, द्यूतकर, संवाहक प्रभृति पात्रों की योजना के कारण उसे संकीर्णप्रकरण की कोटि में रखा जा सकता है जिसका अङ्गीरस तो शृङ्गार है, किन्तु अन्य रसों में हास्य एवं करुणा को स्थान मिला है।

प्रकरण का कथानक उसके अभिधान से बहुत अधिक सम्बद्ध नहीं

---

१ दश० ३।३९-४०

लगता क्योंकि मिट्टी की गाड़ी का महत्त्व दो ही अवसरों पर ज्ञात हो पाता है, प्रथम तो तब जब वसन्तसेना चारुदत्त की दरिद्रता का ध्यान करके तथा बालक की दुखती हुई बात से चोट खाकर[1] अपने आभूषण उतार कर उसे सोने की गाड़ी बनवाने के लिए दे देती है, दूसरी बार सोने की गाड़ी बनाने के लिए दिए गए वही आभरण जब न्यायालय में अधिकरणिक के समक्ष विदूषक के हाथ से गिर कर चारुदत्त द्वारा वसन्तसेना की हत्या के साक्षी बनते हैं[2]। इन दो स्थलों के अतिरिक्त `मिट्टी की गाड़ी` का न तो कहीं उल्लेख है न ही अप्रत्यक्षत: इस ओर कोई अन्य संकेत ही । अत: आलोच्य प्रकरण के सन्दर्भ में मृच्छकटिक इस अभिधान की सार्थकता किंचित् विवादास्पद हो सकती है । वसन्तसेना एवं चारुदत्त की प्रेमकथा, अथवा आर्य चारुदत्त की दरिद्रता अथवा उस दारिद्र्य में भी उसकी उदारता और दानप्रियता के आधार पर इस प्रकरण का नामकरण अभिधान अधिक सार्थक है । फिर भी आलोचकों ने इस रूपक के इस अभिधान को भी बहुत सराहा है[3]।

चारुदत्त का नायकत्व

धीर एवं शान्त इन संयुक्त विशेषणों का धनी किन्तु दैविक विपत्तियों के कारण निर्धन चारुदत्त अत्यन्त धर्मपरायण चरित्र है[4]। दरिद्र हो जाने पर भी उसे सम्पत्ति का मोह नहीं है, दु:ख उसे यही है कि वह अब पशु-पक्षियों को बलि नहीं दे पाता[5] (वैश्वदेव नहीं कर पाता) अतिथिगुण अब उसके पास नहीं आपाते[6],

---

१ दारक :- रदनिके । अलीकं त्वं भणसि ; यद्यस्माकमार्या जननी, तत्किमर्थमलङ्कृता ?
—मृच्छ० अंक ६, पृ० १६०

२ मृच्छ० अंक ६, पृ० २४८, २४९

३ तुलना करें -

' The title of the play is ironic. Its first words are ironic. All is ironic. It is a course that makes for delightful theatre. It may also make for the highest wisdoms. '

H.W. Wells. CDI Page 141

४ मृच्छ० १।१६, ५ वही १।९

६ वही १।१२

और मित्र भी मुख मोड़ने लगे हैं[1]। चारुदत्त के ही शब्दों में, निर्धनता के कारण लज्जा एवं संकोच नष्ट हो जाता है जिससे मनुष्य के तेज का नाश होता है, निस्तेज व्यक्ति को पग-पग पर ठोकरें लगती हैं, वह सर्वत्र परिभव का पात्र बनता है जिससे उसके अन्दर एक ग्लानि उत्पन्न होती है जो निर्वेद को जन्म देती है, निर्वेद शोक को जन्म देता है। शोकाकुल जनों की बुद्धि युक्तायुक्त का विवेक खो देती है और इस प्रकार विवेक के खो जाने से मनुष्य नष्ट हो जाता है[2]।

मृच्छकटिकम् का चारुदत्त निर्लज्ज, निस्तेज, परिभवापन्न, निर्विण्ण, शोकाकुल एवं विवेकहीन है या नहीं इसे देखने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि प्रस्तुत स्थल पर उसकी वेदना के मूल में वसन्त-सेना से उसका प्रणय है जो उसके मन में अंकुर जमा चुका है। क्योंकि प्रथम अंक में ही यह भी ज्ञात हो जाता है कि किसी उत्सव में चारुदत्त को देखकर वसन्तसेना तो उस पर अनुरक्त हो ही चुकी है उसने चारुदत्त के मन में भी अनुराग के बीज बो दिए हैं, उसे खेद है कि ऐसा तब हो रहा है जब वह निर्धन हो चुका है[3]।

अतः उसकी निर्धनता उसके प्रणय प्रसंग में उसे लज्जित बनाने के स्थान पर उसमें निर्वेद को जन्म देती है और सम्पूर्ण प्रकरण में हम देखते हैं कि चारुदत्त अपनी निर्धनता की वेदना लिए हुए प्रणय सम्बन्धों में एक शान्त एवं तटस्थ सा चरित्र है। वसन्तसेना के समक्ष उसकी निर्धनता ने उसे स्थान स्थान पर लज्जित किया है। संवाहक द्वारा सेवा का त्याग[4], दासी से संवाहक के रक्षक कर्णपूरक[5], एवं सुवर्णभाण्ड को वापस करने वाली चेटी[6] को पुरस्कृत करते समय चारुदत्त की निर्धनता नग्न हो उठी है। आर्याधूता द्वारा रत्नावली का दान, वसन्तसेना द्वारा उसकी वापसी, रोहसेन को सोने की गाड़ी के लिए वसन्तसेना का उपहार, यह भी इसी का समर्थन करते हैं। वसन्तसेना इन सभी अवसरों पर है और यह सब चारुदत्त की लज्जा के कारण हैं।

---

१ मृच्छ० १।१३ — २ वही १।१४
३ मृच्छ० १।५५ — ४ वही अंक २, पृ० ६६
५ वही अंक २, पृ० ७५ — ६ वही अंक ५, पृ० १५१

चारुदत्त की भिन्नता और उसकी प्रतिष्ठा के परिप्रेक्ष्य में शकार द्वारा उसका पराभव आश्चर्यजनक है, अधिकरणिक भी शकार द्वारा उसके विरुद्ध लगाए गए अभियोगों पर विश्वास नहीं करता है फिर भी चारुदत्त स्वयं अपना बचाव नहीं कर पाता, क्योंकि अभियोग का आधार है उसकी निर्धनता । उस पर आरोप है कि उसने आभूषणों के लोभ में वसन्तसेना की हत्या की है । वस्तुतः चारुदत्त के चरित्र को इस ढंग से चित्रित किया गया है कि वह अधिकरण में किसी भी आरोप का प्रतिवाद नहीं कर पाता जिसका कारण है उसकी ग्लानि जिसे दूर करके वह ऐसे साक्ष्य एकत्रित कर सकता है जिसके आधार पर अपने को वह निर्दोष सिद्ध कर सके, किन्तु लोकापवाद की अपेक्षा वह मृत्यु का वरण करना ही श्रेयस्कर समझता है । इसी कारण वह मौन रह जाता है ।

नाटककार इस रूप में चारुदत्त में लगभग उन सभी दुर्गुणों को भी दिखाना चाहता है जो किसी भी मनुष्य में निर्धनता के कारण उत्पन्न हो जाते हैं । फिर भी वह धीर है, शान्त है, उदार है, दयालु एवं दानप्रिय है । अतएव जैसे-जैसे चारुदत्त का मुखमण्डल धूमिल पड़ता जाता है वैसे ही वैसे उसकी प्रेमिका वसन्तसेना उसके प्रेमी मित्रगण- संवाहक, चन्दनक[1], कर्णपूरक, आर्यक, शकार का सहायक विट एवं चेट स्थावरक[2], अधिकरणिक[3], श्रेष्ठी एवं कायस्थ यहाँ तक कि उसके घर में चोरी करने वाला शर्विलक[4] एवं उसके वधिक चाण्डाल सभी उसके गुणों के समक्ष नतमस्तक होते जाते हैं । इतना ही नहीं उसका मुख्य प्रतिद्वन्द्वी शकार भी अन्त में उसके समक्ष आत्मसमर्पण कर देता है और राजा आर्यक उसे खोयी हुई प्रतिष्ठा वापस दिलाता है ।

इस प्रकार अपने सम्पूर्ण आयाम में मृच्छकटिकम् का चारुदत्त भास के नायक (चारुदत्त) से भिन्न है । आरम्भ के चार अङ्कों को ही लें तो भी मृच्छकटिक का चारुदत्त अधिक प्रभावशाली है । सम्पूर्ण मृच्छकटिकम् को देखने पर हम पाते हैं कि चारुदत्त दूसरे चौथे छठे एवं आठवें अंकों में उपस्थित नहीं है और जिनमें वह उपस्थित है (अङ्क १, ३, ५, ७, ६ एवं १०) उनमें से तीसरे एवं सातवें अंक छोटे

---

१ मृच्छ० ६।१३, १४ 　　 २ मृच्छ० १।४८

३ मृच्छ० ६।२० 　　 ४ मृच्छ० ४।२२,२३

ही है फिर भी सम्पूर्ण प्रकरण में कथा का प्रत्येक तन्तु उसी के चरित्र से सम्बद्ध है ।

किसी भी नायक (मुख्य नायक) के लिए निर्धारित गुणों[1] में से अधिकांश गुण चारुदत्त के चरित्र में सरलता से मिल जाते हैं । अपनी प्रतिष्ठा एवं सम्मान के प्रति सजग रहते हुए वह वसन्त सेना द्वारा बार-बार किसी न किसी बहाने से की जाने वाली सहायता को अस्वीकार करता रहता है, संस्थानक की धमकी को 'अहो ऽसौ' कहकर टाल देता है, शर्विलक के प्रति भी उसमें रोष नहीं अपितु कृतज्ञता है कि वह मेरे घर से निराश नहीं लौटा, संस्थानक से साक्षात्कार होने पर उसके द्वारा अपमानित होने पर भी वह क्रुद्ध नहीं होता, आर्यक की अनधिकार चेष्टा पर वह अप्रसन्न नहीं होता, संस्थानक के दुराग्रह एवं धमकियों से भयभीत अधिकरणिक के एकपक्षीय निर्णय एवं चाण्डालों के दुराग्रहों का वह प्रतिवाद नहीं करता है । राजा द्वारा अनुमत होने पर भी वह शकार को दण्डित नहीं करता, इन सभी कार्यों में उसकी नम्रता एवं उदारता का परिचय मिलता है । वह त्यागी और दानी तो है ही प्रियभाषी, लोकरंजक एवं दृढ़निश्चयी, कलाप्रिय एवं धर्मपरायण भी है ।

नायिका के प्रति नायक के व्यवहार का मूल्यांकन भी आवश्यक है । इस दृष्टि से हम पाते हैं कि चारुदत्त में दुष्यन्त, पुरूरवा और उदयन के समान प्रणय की झलक नहीं है जिसका सर्व संगत उत्तर है चारुदत्त की निर्धनता, उसके वैभव का नाश । उसके वैभव को खोये हुए भी अधिक समय नहीं व्यतीत हुआ है इसी कारण नगर की सम्मानित गणिका-पुत्री से उसके प्रणय में उसे संकोच है और उसके अन्तस् में एक हीन भावना (इन्फीरियारिटी काम्प्लेक्स) है । जिसे उसकी प्रेमिका वसन्तसेना समझती है । अतः चारुदत्त की अपेक्षा प्रेम के सारे सूत्र वसन्त-सेना के हाथों में है । चारुदत्त एवं वसन्तसेना के प्रणय में कहीं भी अति नहीं है । न तो उसके वर्णन में अतिरंजना है न ही अनुभूति में अति व्याकुलता, उसके प्रदर्शन में अश्लीलता भी नहीं है । इसी अर्थों में ह उनका प्रेम शारीरिक वासना की अपेक्षा नितान्त आत्मानुभूति परक है ।

<u>शूद्रक की प्रतिनायक-योजना एवं द्वन्द्व</u>

मृच्छकटिकम् का संस्थानक जिस प्रकार मुख्य नायक चारुदत्त से

---

१ द० रू० २।१,२

सीधे संघर्ष में उतरता है । आरम्भ के प्रथम अङ्क में प्रतिद्वन्द्विता की प्रत्यक्ष घोषणा[1] करने के बाद उसका चरम अन्तिम तीन अंकों में होता है । प्रतिनायक की भूमिका की उपयोगिता की दृष्टि से यह समझना आवश्यक है कि नाटककार ने प्रतिनायक के माध्यम से कथानक को कितना प्रभावित किया है और उससे नायक अथवा नायिका के चरित्र के उत्कर्ष चित्रण में कितनी सफलता प्राप्त की है ।

वसन्तसेना एवं चारुदत्त का प्रणय अलंकार न्यास (प्रथम अंक) द्वारा ज्ञात होता है, यद्यपि उसके पूर्व ही शकार अपनी धमकी में इसका उद्घाटन कर देता है । वसन्तसेना एवं मदनिका के वार्तालाप में भी वसन्तसेना के इस प्रणयी का परिचय प्राप्त होता है[2]। संवाहक को चारुदत्त का पूर्व सेवक जानकर उसकी प्रतिक्रिया[3] एवं कर्णपूरक को उपहृत चारुदत्त के प्रावरक को पा लेने की उसकी उत्कंठा[4] के रूप में प्रणयबीज का अंकुरण होने लगता है । तृतीय अंक में शर्विलक के विरोध[5] एवं साहस कर्म के माध्यम से निरीह और निर्लिप्त किन्तु लोकापवाद से भयभीत नायक के चरित्र को उभारा गया है । चतुर्थ अंक के आरम्भ में ही नाटककार ने वसन्तसेना द्वारा शकार की रतियाचना को ठुकरा देने के माध्यम से एक ओर तो वसन्त सेना को लेकर शकार के नायक विरोध एवं ईर्ष्या की भावना में घृताहुति डाली है तो दूसरी ओर चारुदत्त के प्रति वसन्तसेना के प्रणय को मुखरित किया है । इसके साथ ही शर्विलक के आत्मसमर्पण के द्वारा नायक की बढ़ती हुई शक्ति का भी परिचय दिया गया है । वसन्तसेना द्वारा विदूषक की उपेक्षा[6] भी आगे चलकर पांचवें अंक में एक द्वन्द्व को जन्म देती

---

१ शकार :- `भाव, भाव । एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति तस्य चारुदत्तस्यानुरक्ता न मां कामयते ।` --मृच्छ० प्रथम अंक, पृ० २६-२७

२ मदनिका :- स खलु आर्ये । सुगृहीतनामधेय आर्यचारुदत्तनाम ।
वसन्त :- (सहर्षम्) साधु मदनिके । साधु । सुष्ठुत्वया ज्ञातम् ।
--मृच्छ० अंक २, पृ० ५१

३ संवाहक :- कथमार्यचारुदत्तस्य नामसंकीर्तनीकृतो मे आदर: । --वही पृ० ६८

४ वसन्त :- आर्यचारुदत्तस्य । (इति वाचयित्वा संस्पृह गृहीत्वा प्रावृणोति ।)
--वही, पृ० ७५

५ शर्विलक :- आह दुरात्मन् चारुदत्तक । -- वही अंक ४, पृ० १०६

६ विदूषक :- एतावत्या ऋद्ध्या न तया अहं भणित: `आर्य मैत्रेय । विश्रम्यताम्, मल्लकेन पानीयं पीत्वा गम्यतामिति`
--वही अंक ५, पृ० १३२

है जहां विदूषक के बहकाने पर चारुदत्त भी किञ्चित् खिन्न हो उठता है[1]। किन्तु उसे विश्वास है वह वसन्तसेना को सन्तुष्ट कर सकेगा[2]। तड़ित् ज्योति, मेघगर्जना एवं धारा प्रवाह के मध्य शीतल पवन के झोकों में आलिंगन-प्रत्यालिंगन द्वारा वे एक दूसरे को सन्तुष्ट भी कर लेते हैं।

संस्कृत नाट्यपरम्परा से कुछ हटकर देखें तो वसन्तसेना एवं चारुदत्त के इस मिलन को महामिलन माना जा सकता है। कम से कम दर्शकों के समक्ष इस अंक के बाद संयोग (शृङ्गार) का ऐसा दृश्य फिर दुबारा देखने को नहीं मिलता। अतः एक ओर तो पांचवे अंक तक के कथानक को इस प्रकरण का पूर्व भाग कहा जा सकता है और दूसरी ओर उसे एक कामदी के रूप में देखा जा सकता है (वैसे ग्रीक संस्कृत नाट्यशास्त्रीय साहित्य में तो यह प्रकरण एक कामदी ही है) जिसमें वसन्तसेना एवं चारुदत्त की प्रेमकथा को, उसमें भी प्रतिष्ठित किन्तु निर्धन चारुदत्त के समक्ष वसन्तसेना के वैभवशाली व्यक्तित्व का आत्मसमर्पण, प्रदर्शित किया गया है और इस पूर्वार्ध में प्रतिनायक संस्थानक का चरित्र मात्र क्षणिक है जो एकबार तो चारुदत्त को धमकी देता है जिसे चारुदत्त 'अहो ऽहो' कहकर टाल देता है, दूसरी बार वसन्तसेना द्वारा उसकी याचना तिरस्कृत होती है। जिससे स्पष्ट है कि वसन्तसेना एवं चारुदत्त की दृष्टि में उसका चरित्र नगण्य है। किन्तु वस्तुस्थिति इससे नितान्त विपरीत है क्योंकि राजा की रखैल (अनूढा) का भाई, वह भी राजा द्वारा प्रदत्त अतुल-सम्पत्ति का स्वामी और शकार के सभी गुणों (दुर्गुणों) का अधिपति, इस अपमान को कैसे सह सकता था।

अतएव पांचवे अंक के बाद शकार के वास्तविक रूप के दर्शन होते हैं। जिसका निरन्तर विस्तार प्रकरण के उत्तर भाग के अन्य अंकों में देखा जा सकता है। यहीं यह स्पष्ट कर देना अनुपयुक्त न होगा कि उस उत्तर भाग की कथावस्तु में

---

१ यस्यार्थस्तस्य सा कान्ता धनहार्यो ह्यसौ जनः।
 वयमर्थैः परित्यक्ता ननु त्यक्तैव सा मया ॥
 — पृष्ठ० ५।६

२ चारुदत्त :- वयस्य ! आगच्छतु परितुष्टा यास्यति
 — वही पृ० १३५

राजनीति एवं सामाजिक स्थिति को प्रमुखता मिली है और प्रेमकथा का स्थान गौण अपितु नहीं के बराबर है । इस भाग में आने वाले पात्रों को स्पष्टरूपेण दो राजनीतिक वर्गों में विभक्त देखा जा सकता है । एक वर्ग का नेतृत्व राजा पालक एवं प्रकारान्तर से उसके साले शकार संस्थानक के हाथों में है दूसरे वर्ग का नेतृत्व आर्यक एवं उसके समर्थकों के हाथों में है जिसे 'सामूहिक नेतृत्व' के रूप में भी देखा जा सकता है ।

आर्यक के समर्थकों में चारुदत्त एवं उसके सेवक, वसन्तसेना एवं उसकी माँ तथा उसके सेवक, वसन्तसेना एवं चारुदत्त के उपकारों से बंधे हुए जन, संवाहक, शर्विलक एवं 'अन्तरात्मा की आवाज' पर आर्यक का साथ देने वाला राजपुरुष-चन्दनक, सभी आ जाते हैं । नाटककार की व्यापक दृष्टि, आर्यक के समर्थन में जिन लोगों को ढूंढती है उनमें समाज के निम्नवर्गीय सेवक भी है, चारुदत्त एवं वसन्तसेना जैसे आभिजात्य एवं प्रतिष्ठितजन भी । जिनमें स्त्रियां भी हैं और राजपुरुष भी, संस्थानक के व्यवहार से उत्पीड़ित आधिकरणिक भी हैं और शर्विलक जैसे चौर्यकला प्रवीण एवं रसिकजन भी ।उत्तरार्ध की कथा में हम पाते हैं कि उसमें एक ओर तो अपनी हठधर्मी, पापवृत्ति, वासना, मद एवं मूर्खता तथा अपने संरक्षक राजा पालक की शक्ति एवं सम्पत्ति पर कूदने वाले संस्थानक की प्रधानता है वहीं यह भी पता चलता है उसके इन्हीं गुणों के कारण उसका सहायक विट उसका सेवक चेट-स्थावरक सभी उसका साथ छोड़कर पालक के विरोधी पक्ष में आ मिले हैं ।

छठे अंक में, रथपरिवर्तन की घटना के माध्यम से नाटककार ने घटना को नया मोड़ दिया है । अभिसरण हेतु चारुदत्त के रथ में आने वाली वसन्तसेना भ्रमवश संस्थानक के रथ में बैठ जाती है और उधर कारागार से भागा हुआ विद्रोही आर्यक मार्ग में खड़े हुए शकार के रथ में बैठ जाता है । इस घटनाक्रम में रोचकता एवं नाटकीयता के साथ ही एक ओर शकार के मुख में जाती हुई वसन्तसेना तथा दूसरी ओर चारुदत्त के रथ में बैठकर उसी के उद्यान में जाने वाले आर्यक के प्रति सामाजिक के मन में कौतूहल एवं औत्सुक्य उत्पन्न होना स्वाभाविक है । चन्दनक एवं वीरक के मध्य विवाद ने जहां आर्यक की बढ़ती हुई शक्ति का आभास कराया है वहीं वसन्तसेना के पराभव के कारण असमञ्जस और भय की स्थिति उत्पन्न होती है ।

तदनन्तर (सातवें अंक में) आर्यक एवं चारुदत्त के मध्य मैत्री स्थापित हो जाती है और (आठवें अंक में) शकार का वास्तविक स्वरूप सामने आ जाता है। शकार द्वारा एक भिक्षुक (धार्मिक प्रतिनिधि) की पिटाई, शकार के रथ में वसन्तसेना का आगमन, विट की कायरता किन्तु वसन्तसेना की रक्षा हेतु उसके प्रयत्नों में नाटकीयता के दर्शन होते हैं। हम देखते हैं कि कामुक शकार जब अनुनय-विनय द्वारा अपनी वासनापूर्ति नहीं कर पाता है और वसन्तसेना के पादप्रहार से अपमानित होता है। तब वह शकार उसकी हत्या की योजना बनाता है। इस योजना में वह अपने विट एवं चेट दोनों को सम्मिलित करना चाहता है। तदर्थ नाना प्रलोभन देना, फिर अनुनय विनय करना, पुनः हत्या का विचार त्यागने का अभिनय करना और मात्र वासनापूर्ति के लिए आश्वासन देकर उन्हें नेपथ्य में भेजकर एकान्त बनाना, तदनन्तर वसन्तसेना को अमानवीयता पूर्वक मारना और उसके मूर्छित हो जाने पर उसे मृत समझकर छोड़ देना, शकार के इन कर्मों में नाटककार ने अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से क्रियाकलापों की योजना की है। हत्या को गुप्त रखने के लिए वह पुनः विट को नाना प्रलोभन देता है उसके न मानने पर वह उसी पर वसन्तसेना की हत्या का आरोप लगा कर उसे ही फंसाने का अभिनय करता है। क्रुद्ध विट द्वारा तलवार निकाल लेने पर तथा शकार की राजनीतिक स्थिति के बारे में सोचकर वह आर्यक के पक्ष में जा मिलने को भाग जाता है। इधर शकार का पाप बढ़ रहा है उधर आर्यक की शक्ति संगठित हो रही है नाटककार यह भी दिखाना चाहता है।

विट के भाग जाने पर शकार चेट स्थावरक को मनाता है, उसके भी न मानने पर वह उसे बन्दी बना लेता है और 'चारुदत्त ने अर्थ के लिए वसन्तसेना को मेरे पुष्पकरण्ड उद्यान में लाकर मार डाला है' यह अभियोग बनाकर न्यायालय की ओर चला जाता है। तभी भिक्षुक उस उद्यान में आकर चेतन हो उठी वसन्तसेना को अपनी किसी धर्म बहिन के समीप पहुंचाने ले जाता है। इस रूप में शकार एक साथ भिक्षु (संवाहक) विट, चेट, आदि सभी से अपना वैर बढ़ा लेता है। नाटककार ने यहां शकार की कुटिलता, वासना, चतुराई, एवं क्रूरता को प्रदर्शित करते हुए चारुदत्त एवं वसन्तसेना के निर्मल, दोषरहित, दयालु एवं लोकप्रिय चरित्र के वैषम्य की स्थापना की है। इतना ही नहीं अपने इन दुर्व्यसनों में शकार अद्वितीय एवं क्रूरतम

प्रतिनायक के रूप में उभरता है जो अपने अनेक वैरियों से अकेले ही निपट लेने का निश्चय करता हुआ प्रतीत होता है ।

नवें अंक में संस्थानक (शकार) योजनाबद्ध ढंग से चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या का आरोप लगाकर न्यायालय की शरण लेता है । आठवें अंक में जहां भाग्य उसके विपरीत है और उसके ही सेवक, चेट एवं विट उसका साथ नहीं देते वहां नवे अंक में भाग्य पूर्णतया उसका साथ देता है । यहां अधिकरणिक , श्रेष्ठि एवं कायस्थ सभी उसके मद एवं मूर्खता से,उसकी उद्दण्डता से,भयभीत हो उसकी बात ध्यान से सुनते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि वह राजा का साला है । शकार के तर्कों के समक्ष चारुदत्त अपनी शालीनता, सरलता एवं निश्छलता के कारण असहाय हो उठता है । वृद्धा (वसन्तसेना की माता) एवं अप्रत्याशित रूप से आउपस्थित होने वाले विदूषक की उपेक्षा और उसके हाथ से आभूषणों का गिरना सभी चारुदत्त के विरुद्ध जा पड़ते हैं जिससे शकार का अभियोग सत्य सिद्ध हो जाता है । उधर चन्दनक के विरुद्ध वीरक का अभियोग भी शकार के लिए सहायक सिद्ध हो जाता है । चारुदत्त के पक्षपाती चन्दनक से रुष्ट वीरक द्वारा उद्यान में वसन्तसेना के मृत शरीर की उपस्थिति की (असत्य) साक्षि से भी शकार के पक्ष का समर्थन होता है । फलत: ब्राह्मण होने के कारण चारुदत्त को न्यायाधिकरण से तो निर्वासन का दण्ड मिलता है किन्तु राजाज्ञा से उसे मृत्यु दण्ड में परिवर्तित कर दिया जाता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं संस्थानक के इस अभियोग में आरम्भ से अन्त तक दैव उसका साथ देता है । वह तर्कपूर्ण ढंग से एक चतुर प्राड्विवाक की भांति उचित अनुचित का विवेक करता है,[1] तथा तर्क पूर्ण उत्तर देता है[2]। वह महत्वपूर्ण प्रमाणों का अभिलेखन करवाता है[3] तथा अधिकरणिक द्वारा चारुदत्त (एक अपराधी)

---

१ शकार - (स्वगतम्) आश्चर्यं त्वरां कुर्वाणेनेव पायसपिण्डारकेणाथ मयात्मैव निर्दिष्ट: । भवतु । एवं तावत् ;...... भणामि ।

२ शकार - नूनं परिक्षुण्णया भोजस्थानया ग्रीवालिकया नि:सुवर्णकै:आभरणस्थानैस्तर्कयामि । -- दोनों के लिए देखें मृच्छ० अंक ९, पृ० २३४

३ शकार - भुकमार्य:! लिख्यतामेतान्यक्षराणि । चारुदत्तेनसह मम विवाद: ।
--देखें मृच्छ० अंक ९, पृ० २३७

के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने[1] अथवा चारुदत्त की सज्जनता का ध्यान करके उसके प्रति सद्भाव दिखाने[2] पर उन्हें धिक्कारता है । इतना ही नहीं आभूषणों की साक्षि पा जाने पर तो उसके तर्क बहुत ही आक्रामक हो उठते हैं । जिससे अधिकरणिक भी विचलित होकर चारुदत्त को कोड़ों से मारने की धमकी देता है[3]। फलतः स्वयं चारुदत्त वसन्तसेना के अभाव एवं इस अपमान की अपेक्षा मर जाना ही श्रेयस्कर समझने लगता है । वस्तुतः यह प्रतिनायक के चरम उत्कर्ष का स्थल है । यह शकार की सबसे बड़ी उपलब्धि है कि वह स्वयं हत्या करके भी चारुदत्त को वधिक सिद्ध कर देता है । अभी भी उसका पतन आरम्भ नहीं होता है और दसवें अंक में भी हम पाते हैं कि अपने आकस्मिक पतन के पूर्व शकार अपने विरोधियों और विपरीत परिस्थितियों पर विजय पाता चला जाता है ।

चारुदत्त को अपमानित करने का कोई भी अवसर वह छोड़ता नहीं है । चारुदत्त के तथाकथित कार्यों की घोषणा के लिये वह चाण्डालों से बार बार कहता है । शिथिलता के लिए उन्हें डांटता है । अपने प्रासाद के समीप होने वाली घोषणा के समय जब उसका बन्दी चेट स्थावरक, वसन्तसेना की हत्या के लिए शकार का नाम लेता है तो शकार की व्यवहार कुशलता, उसकी कुटिलता देखने योग्य है । स्थावरक का मुंह बन्द करने के लिए वह उसके हाथ में स्वर्णाभूषण थमा देता है उसे उत्कोच के रूप में जब स्थावरक सभी को दिखाता है तो शकार उस आभूषण की चोरी का आरोप लगाकर उसका मुंह बन्द कर देता है । शकार की इससे बड़ी निर्ममता क्या हो सकती है कि वह रोहसेन को देखकर उसे भी मार डालने के लिए चाण्डालों से कहता

---

१ शकार - (सक्रोधम्)... अहो न्याय्यो व्यवहारः, अहो धर्म्यो व्यवहारः, यदस्मै स्त्रीघातकायासनं दीयते । (सगर्वम्) भवतु दीयताम् ।

—देखें मृच्छ० अंक ९, पृ० २४२

२ शकार - किं पक्षपातेन व्यवहारोदृश्यते ?

एवं भो अधिकरणभोजकाः । किं यूयं पक्षपातेन व्यवहारं पश्यत ; येनाद्याप्येष हताश चारुदत्त आसने धार्यते ।

—वही क्रमशः पृ० २४४ एवं २४७

३ मृच्छ० ९। ३६

है। यहां तक कि वह चाहता है कि चारुदत्त स्वयं घोषणा करे कि उसने वसन्त-सेना की हत्या की है। शकार के चरित्र के भाग्य के उत्कर्ष की यही सीमा है और वसन्तसेना के आ-उपस्थित होने के बाद उसका आकस्मिक पतन होता है और शकार बन्दी बना लिया जाता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि शकार क्रूर, कुटिल, कामुक, धूर्त एवं पाप कर्मों में रत एक ऐसी भूमिका है जो अपने गुण, कर्म एवं स्वभाव में अद्वितीय है। नायक विरोध के लिए उसने कोई भी कर्म नहीं छोड़ा है। उसने नायक, उसके मित्रों, परिवार के सदस्यों यहां तक कि उसके अबोध बालक तक को मरवा डालने की इच्छा व्यक्त की है। इतना ही नहीं सत्य के उद्घाटन के भय से अपने विरुद्ध आने वाले सभी प्रमाणों को मिटाने में वह सिद्धहस्त है,वह इतना धृष्ट है कि अपने अभियोग में वह चिल्लाता है कि मैंने वसन्तसेना को नहीं मारा है। इस कारण जिस शंका का जन्म होता है उसे समाप्त करने के लिए वह अपने इस कथन को अपने पैरों से ही मिटाने की धृष्टता करके न्यायालय का अपमान करने में किंचित् भी संकोच नहीं करता है।

इस विवेचना के परिप्रेक्ष्य में नाट्यशास्त्र के सभी लक्षण ग्रन्थों में उपलब्ध शकार के लक्षण धूमिल पड़ जाते हैं। लक्षणकारों ने शकार के लिए जो कुछ विधान किया है शूद्रक का शकार उससे कई गुणा बढ़ा है। वह ऐश्वर्यशाली, घमण्डी, उन्मत्त एवं मूर्खतापूर्ण कार्य करने वाला है ही वह राजा का साला और सम्भवतः नीच कुल का भी है। अपने सम्पूर्ण कलेवर में वह एक सशक्त प्रतिनायक है जिसमें नायक के प्रतिद्वन्द्वी चरित्र के वे सभी लक्षण मिलते हैं जो प्रायः पाश्चात्य खलनायक में उपलब्ध होते हैं इसी कारण उसे खल पात्र माना जाता है[1]।

किसी भी प्रतिनायक की समीक्षा के समय संस्कृत नाट्यपरम्परा में प्रतिनायक के विशेषणों में 'धीरोद्धतः' और उसमें 'धीरः' इस पद को भूलना नहीं चाहिए। धीरता ही वह गुण है जो पाश्चात्य खलनायक एवं प्रतिनायक के मध्य एक समानान्तर रेखा खींचती है। धीरता के अभाव में भी शकार एवं खलनायक के बीच जो अन्तर है वह मात्र भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृति एवं दर्शन के कारण है यह दर्शन भारतीय शस्य श्यामला भू पर सत्यं शिवम् सुन्दरं के मध्य त्रासदी जैसे कंटीले पौधों को पनपने नहीं देता और इस प्रकार के कंटीले पौधे यदि उत्पन्न हो भी जाएँ तो प्रतिनायक

---
1 भरत० २४।८७-८८

अथवा शकार के प्रायश्चित के माध्यम से उसे गुलाब के कुञ्ज के रूप में परिणत कर लेता है । मृच्छकटिकम् में वसन्तसेना को मूर्छित दिखाने के स्थान पर मृत दिखा कर अथवा अन्त में वसन्त सेना के बाउपस्थित होने के पूर्व ही चारुदत्त का वध दिखाकर एक श्रेष्ठ त्रासदी को जन्म दिया जा सकता था किन्तु ऐसा करना भारतीय संस्कृति और दर्शन के प्रतिकूल जापड़ता अतएव ऐसा नहीं किया गया है ।

वसन्तसेना गणिका पुत्री है, रूपवती है| ~~और वह~~ भी गर्वधारी, शीलधारी जैसे विशेषणों को क्रमशः ढोते रहने के कारण शकार जैसे दुष्कुलोत्पन्न, सम्पन्न, एवं कामी व्यक्ति के लिए उसके प्रति बहक जाना स्वाभाविक है । ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि शकार चारुदत्त की वसन्तसेना का पीछा करते हुए नहीं दिखाई देता वह तो एक गर्वधारी गणिका वसन्तसेना की कामना करता है । वसन्त सेना द्वारा चारुदत्त के घर में घुस जाने के बाद ही उसे ध्यान आता है कि वह चारु-दत्त को कुछ कुछ चाहती है (क्योंकि उनका प्रणय अभी पुराना नहीं है और गणिका तो गणिका है) । इसीलिए वह चारुदत्त को सन्देश भेजवाता है कि ठीक है (आज रखे तुम रख लो) कल मेरे पास भेज देना । इसके बाद चारुदत्त एवं वसन्त-सेना के मध्य सम्बन्ध कितने बढ़े शकार को ज्ञात नहीं । एक दिन वह फिर वसन्तसेना को बुलवाता है । वसन्तसेना फिर उसका अभिसरण नहीं करती । वह फिर भूल जाता है । एक दिन अचानक उसे अपने ही रथ पर बैठकर अपने ही उद्यान में पाकर और विट द्वारा यह जानकर कि वह उसके पास अभिसार हेतु आयी है उसकी वासना जाग जाती है । वह वसन्तसेना की अनुनय करता है और वसन्तसेना से प्रेम के बदले पाद प्रहार पाकर उसकी पाशविक वृत्ति उसकी वासना पर अधिकार जमा लेती है । अब वह वसन्तसेना की हत्या कर देना चाहता है और उसके इस कार्य के लिए प्रयास करने पर वसन्तसेना द्वारा बार बार चारुदत्त की दुहाई देने पर ही उसके मन में एक ईर्ष्या-भाव उठता है, कि "वह चारुदत्त को तो सहकार (आम्रवृक्ष) मानती है और मुझे पलाश के रूप में कुछ भी नहीं समझती ।" अर्थात् शकार की मन स्थिति कुछ इस प्रकार की है। वह वसन्त-सेना के पाद प्रहार से प्रताड़ित हो उसी की हत्या से सन्तुष्ट हो जाता परन्तु उसकी उपेक्षा करते हुए चारुदत्त की दुहाई देने से उसका अभिमान दुबारा चोट खाता है और वह जितनी बार वसन्त सेना पर हाथ उठाता है उतनी ही बार चारुदत्त का

नाम आने से उसकी हत्या के लिए चारुदत्त को ही दोषी बनाने की योजना स्वतः उसके मन में जन्म ले लेती है ।

अर्थात् उसकी मुख्य योजना (वसन्तसेना की हत्या) वसन्तसेना के मूर्छित होने एवं शकार द्वारा उसे मृत समझ लेने के साथ ही समाप्त हो जाती है किन्तु दूसरी योजना का प्रारूप लम्बा एवं मुख्य हो जाता है यहीं से चारुदत्त के प्रति उसका प्रथम क्रोध उत्पन्न होता है जिसमें ईर्ष्या की भावना है । इसके बाद भी, चारु-दत्त से उसके सीधे संघर्ष में भी शकार के आक्रमण सीधे एवं एकांगी हैं, चारुदत्त उनका कोई समुचित प्रतिकार नहीं करता । प्रकृति से धीर, गम्भीर एवं शान्त होने के कारण चारुदत्त का यह व्यवहार उचित ही है । शकार के इस आक्रमण के परिप्रेक्ष्य में, चारु-दत्त की शालीनता, सदाचार एवं त्याग और उसकी अन्तर्मुखी वृत्ति के विकास में सहायता मिलती है । शकार के अभाव में वनप्रान्तर में तपोलीन किसी तपस्वी की भांति उसके चरित्र को कोई न जान पाता । जीमूतवाहन के चरित्र से गरुड़ को निकाल लेने के बाद जिस प्रकार जीमूतवाहन एक सपाट सच्चरित्र हो उठता है उसी प्रकार चारुदत्त भी होता । शकार ही वह कसौटी है जिस पर चारुदत्त की परीक्षा होती है । यही शकार की उपयोगिता है और नाटककार की योजना की सफलता है ।

उपप्रतिनायक

शकार के अतिरिक्त चारुदत्त को शर्विलक के कारण भी अपमान, निराशा एवं सन्ताप का साक्षात्कार करना पड़ता है । निक्षिप्त अलंकारों की चोरी करके वह चारुदत्त को ऐसी स्थिति में उलझा देता है कि रत्नावली के लिए आर्याधूता के समक्ष तथा असत्य बोलकर वसन्तसेना के समक्ष उसे नतमस्तक होना पड़ता है । किन्तु चारुदत्त को शर्विलक के माध्यम से ऐसी स्थिति में चित्रित करके नाटककार ने चारुदत्त के धैर्य, गाम्भीर्य एवं औदार्य्य की परीक्षा ली है चारुदत्त मानता है 'सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते' अर्थात् सुख क्या है इसे दुःखानुभूति के बाद ही समझा जा सकता है जैसे अन्धकार में ही दीपक के प्रकाश को समझा जा सकता है । चारुदत्त की यह आस्था जो भारतीय संस्कृति के रोम रोम में अनुप्राणित है, उसे एक धीर-प्रशान्त नायक बना देती है । जो धीर तो है ही प्रशान्त भी है जो उसके चरित्र को

बहिर्मुखी न बनाकर अन्तर्मुखी बना देती है और चारुदत्त छल-कपट, माया-मोह, धन-धान्य, पत्नी-पुत्र, शत्रु-मित्र, सभी से उस सीमा तक निर्लिप्त हो जाता है जिस सीमा तक एक असाधारण मानव हो सकता है । वह योगी तो नहीं है परन्तु दानी है, त्यागी है, एक सद्गृहस्थ है और एक सद्गृहस्थ के रूप में पुत्र और कलत्र से जितना मोह होना चाहिए उतने में ही वह लिप्त है । ऐसे धीर एवं प्रशान्त व्यक्ति का विरोध सरल नहीं है उससे विरोध का कारण भी ऐसा होना चाहिए जिससे उसकी सारी साधना को भंग किया जा सके, शकार ऐसा ही करने का प्रयत्न करता है । शर्विलक की उपयोगिता तो यही है कि वह नायक की ग्लानि का कारण बनता है और शीघ्र ही अपनी प्रेयसी की मुक्ति के साथ ही वह नायिका वसन्तसेना तथा नायक चारुदत्त की महानता को स्वीकारते हुए आत्मसमर्पण करके शकार के संरक्षक पालक के विरुद्ध आर्यक से जा मिलता है । पालक जिसकी छत्रछाया में शकार की उद्दण्डता फलती-फूलती है, ऐसी अव्यवस्था के लिए उत्तरदायी है । यही कारण है आर्यक उससे विद्रोह कर देता है । जिससे `अनुडाप्रात` शकार का कोई सीधा संघर्ष नहीं होता है किन्तु उसके समर्थक वीरक के साथ आर्यक के संघर्ष की स्थिति को टालकर नाटककार ने प्रकरण के विस्तार को रोका है । अतः वीरक एक ऐसा पात्र है जो पालक एवं प्रकारान्तर से संस्थानक का समर्थक है । वह राजा का आज्ञाकारी सेवक है और इसी कारण राजमार्ग में चारुदत्त के रथ को रोककर विद्रोही एवं भागे हुए आर्यक को खोजना चाहता है । किन्तु आर्यक-समर्थक चन्दनक द्वारा वीरक को उसके निरीक्षण का अवसर दिये बिना ही आर्यक को भाग जाने का अवसर देने पर वह क्रुद्ध हो जाता है । अपनी इस राजभक्ति के कारण उसे चन्दनक की मार खानी पड़ती है । किन्तु अन्त में वीरक के भय से चन्दनक भी भागकर विद्रोहियों, प्रकारान्तर से आर्यक और चारुदत्त के समर्थकों से जा मिलता है । दूसरी ओर न्यायालय में चन्दनक के विरुद्ध अभियोग ले जाकर तथा प्रवहण के चालक के वक्तव्य `यह चारुदत्त का रथ है तथा इसमें वसन्तसेना चारुदत्त के पास मिलने पुष्पकरण्ड उद्यान जा रही है` के आधार पर वह शकार के अभियोग की सत्यता प्रमाणित करता है । इतना ही नहीं अधिकरणिक जब उसे पुष्पकरण्ड उद्यान में जाकर वसन्तसेना के शव को देख आने को कहता है तो वह लौट कर एक झूठी साक्षि देता है । जिसके आधार पर शकार के विजय की सम्भावनाएं

बढ़ जाती है । इस प्रकार भी वह संस्थानक की भांति चारुदत्त के जीवन को कष्टपूर्ण बनाने में योगदान करता है । इस प्रकार वह एक ओर तो शकार का सहायक बन जाता है और दूसरी ओर चारुदत्त के कष्टों का कारण । प्रतिनायक की भांति उपप्रतिनायक की भी यही वास्तविक उपयोगिता है ।

सारांश रूप में कथावस्तु के चयन एवं आदि से अन्त तक उसके निर्वाह एवं पात्रों की सफल योजना[1] के माध्यम से नाटककार शूद्रक ने अद्भुत सफलता पायी है । यही कारण है आज मृच्छकटिकम् एक ऐसा रूपक है जिसे पाश्चात्य आलोचकों के लिए भी एक अनूठी कृति है[2]।

मुद्राराक्षस

राजनीतिक नाटकों की परम्परा में मुद्राराक्षस का स्थान सर्वोपरि है । अपने नितान्त राजनीतिक परिवेश में उसका सही मूल्यांकन (नाट्य शास्त्रियों द्वारा) भले ही न किया गया हो किन्तु उसकी गम्भीरता, नाटकीयता एवं प्रौढ़ता को सभी ने स्वीकार किया है[3]। आभूषणों के माध्यम से कथा को ग्रथित करने की जिस प्रक्रिया के दर्शन हमें मृच्छकटिकम् में होते हैं वह मुद्राराक्षस की मुद्रा एवं मलयकेतु के पिता के आभूषणों के रूप में यहां भी विद्यमान् है । इतना ही नहीं कुछ अन्य

---

१ --- it may safely be concluded that, much as might be expected and desired, the chief characters are both fresh and typical, since they are given features peculiar to the present play and yet preserve many of the aspects of well established stag personages.

CDI page 136

2. (i) In fact, it holds a relatively higher place in the estimation of Western critics than it enjoys in its own land. The Indians find their more romantic, mythological and metaphysical plays more impressive, as they are certainly the more clearly typical of Indian tradition.

CDI page 131

(ii) Most emphatically, The Little Clay Cart stands in the main line of theatrical discipline. It might well be in the program for the early years in any drama school in any land or period.

CDI page 138

3. It is a tense drama, clear, sustained, and consistent from beginning to end, artistically effective and realistically convincing.

CDI page 24

दृश्यों में भी ऐसी ही समानता है जिसमें वध्य स्थल पर जाते हुए चन्दनदास के दृश्य में उसकी पत्नी एवं पुत्र की उपस्थिति का दृश्य मृच्छकटिकम् का स्मरण दिलाता है[1]।

मुद्राराक्षस का नायक कौन है इस पर पर्याप्त विवाद है। इसका मुख्य कारण यह है कि नायक का प्रतिद्वन्द्वी भी नायक के समान यशस्वी और प्रतिष्ठित है। आदर्श की दृष्टि से भी दोनों ही प्रतिद्वन्द्वी समान हैं। अपनी सैन्यशक्ति, नीतिनिपुणता एवं मैत्री सम्बन्धों में भी दोनों ही समकक्ष हैं। इससे भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि राक्षस (यदि उसे प्रतिनायक स्वीकार कर लिया जाए तो) अपने प्रतिद्वन्द्वी (नायक) चाणक्य से अधिक उदार, उदात्त और धीर है, मैत्री के लिए उसके त्याग की तुलना में चाणक्य उसकी धूल के बराबर भी नहीं ठहरता। अपितु उसकी तुलना में चाणक्य अधिक क्रूर है जो राक्षस की इस उदारता और मैत्री सम्बन्धों के औदात्य का अनुचित लाभ उठाकर राक्षस के पैरों में आमात्यत्व की बेड़ियां डालने में सफल होता है।

चाणक्य की धारणा है कि नन्दों का आमात्य राक्षस जब तक चन्द्रगुप्त का ~~xxxxxx~~ साचिव्य ग्रहण नहीं कर लेता चन्द्रगुप्त का साम्राज्य निष्कंटक नहीं हो सकता। स्वयं वह अपना आमात्यत्व छोड़ने को सदा तत्पर है। किन्तु उधर नन्दों के प्रति राक्षस की अनन्य श्रद्धा, उसका शौर्य और पराक्रम, उसका नीति-चातुर्य, प्रजा में उसकी प्रतिष्ठा, उसके प्रशंसकों की बहुलता, राज्य के प्रतिष्ठित लोगों पर उसके उपकार, उसकी सदाशयता एवं व्यवहार कुशलता, चाणक्य के मार्ग में बाधक है। राक्षस की हत्या भी समस्या का समाधान नहीं कर सकती अपितु उससे जनविद्रोह की ही सम्भावना अधिक है। हत्या कर देने से चाणक्य को यह भी भय है कि वह राक्षस के समान एक सक्षम, कर्मठ, बुद्धिमान् एवं नीतिमान्, सचिव खो देगा। अतः चाणक्य एक विपरीत मार्ग द्वारा अपने इस प्रतिद्वन्द्वी को वश में करने की योजना बनाता है।

अपनी कार्यसिद्धि के लिए वह राक्षस के परम मित्र चन्दनदास को

---

1 कीथ, सं० ना० पृ० २१६

बन्दी बनाता है, शकटदास को बन्दी बनाकर एक कूटलेख लिखवाता है, फिर उसे भागने का अवसर देकर उसके साथ ही अपने कुछ गुप्तचरों को भी राक्षस के पक्ष में छद्मवेश में भेज देता है। राक्षस की मुद्रा के रूप में, नाटककार ने चाणक्य के हाथों में एक इतना सशक्त साधन दे दिया है कि उसके आधार पर, राक्षस जिस मलयकेतु को चन्द्रगुप्त के स्थान पर प्रतिष्ठित करना चाहता है, चाणक्य उसे ही राक्षस के विरुद्ध खड़ा कर देता है। इतना ही नहीं आभूषणों के क्रय-विक्रय के माध्यम से भी मलयकेतु के मन में ऐसी ही भावना उत्पन्न की जाती है कि वह राक्षस को विश्वासघाती समझने लगता है। ऐसी स्थिति में, अपने एक दूत के माध्यम से चाणक्य मलयकेतु को राक्षस के पांच विश्वस्त राजाओं की हत्या के लिए भी विवश कर देता है। इस प्रकार राक्षस की एक-एक योजना को ध्वस्त करते हुए अन्त में चन्दनदास के वध की घोषणा के माध्यम से चाणक्य ने राक्षस के अन्तद् को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य कर दिया है।

<u>नायक प्रतिनायकत्व निर्धारण</u>

वस्तुत: फल प्राप्ति में सफलता असफलता ही नायकत्व प्रतिनायकत्व निर्णय की दृष्टि से महत्वपूर्ण होती है। आलोच्य रूपक में राक्षस का लक्ष्य है नन्दवंश के राज्य की पुन:स्थापना। किन्तु नन्दवंश के एकमात्र उत्तराधिकारी सर्वार्थसिद्धि के तपोवन चले जाने के बाद राक्षस का लक्ष्य पर्वतक एवं मलयकेतु तक आते आते भ्रष्ट हो जाता है और तब चन्द्रगुप्त को सत्ताच्युत करने में ही वह अपनी शक्ति खो देता है और पथभ्रष्ट भी हो जाता है। दूसरी ओर चाणक्य का लक्ष्य है, स्वस्थापित चन्द्रगुप्त के राज्य को निष्कंटक बनाना, यह उसका मुख्य लक्ष्य है, उसका एक आनुषङ्गिक लक्ष्य भी है, वह है चन्द्रगुप्त के सचिव के पद पर राक्षस की नियुक्ति। इस लक्ष्य की उपलब्धि के माध्यम से उसकी तीन समस्याओं का समाधान होता दीखता है। राक्षस के विरोध की समाप्ति, निष्कंटक राज्य की स्थापना तथा मन्त्रभार से स्वयं की मुक्ति। नाटक के आरम्भ से अन्त तक हम देखते हैं कि अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वह कहीं भी पथभ्रष्ट नहीं होता और अन्त में राक्षस को आमात्यत्व ग्रहण करने के लिए बाध्य करके वह निष्कंटक राज्य की आकांक्षा को फलीभूत कर लेता है। अत: चाणक्य का नायकत्व स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

वस्तुत: सम्पूर्ण कथानक का मुख्य केन्द्र तो राक्षस है किन्तु उसके

चारों ओर लिपटे हुए कथातन्तुओं का सूत्र चाणक्य के हाथ में है। नन्दवंश की पुनः स्थापना, पर्वतक या मलयकेतु को राजा बनाना अथवा चन्द्रगुप्त के राज्य की निष्कंटकता इनमें से किसी भी उद्देश्य को अपावन, आदर्शहीन, मर्यादा, परम्परा अथवा संस्कृति की दृष्टि से अनुचित नहीं कहा जा सकता। राजनीति में सत्ता के लिए हत्याएं आदर्श भले ही न हों, किन्तु परम्परासम्मत तो हैं ही, भले ही उन पर देशद्रोह अथवा देशभक्ति का आरोप करके ही उनका औचित्य सिद्ध किया जाए। चाणक्य ने भी ऐसे अवांछित उचित अनुचित कर्म करवाए हैं। उधर राक्षस भी ऐसी योजनाएं तो बनाता ही है भले ही उसे सफलता न मिली हो।

अतः नायक तो चाणक्य ही है किन्तु यदि राक्षस को नायक मान लिया जाए तो भी उनमें से किसी को परिभाषित धीरोदात्तादि नायकों की सीमा में बांध पाना सम्भव नहीं है। इसी कारण डा० सिंह कहते हैं :- 'चाणक्य का चरित्र विशाखदत्त ने ऐसा चित्रित किया है कि इसे हम प्राचीन नाट्यपरम्परा की नायक चतुष्टय मर्यादा में स्थान देते हुए भी ऐसा अनुभव करते हैं कि इसका एक अलग श्रेणी-विभाग होना चाहिए अथवा इसे एक स्वतंत्र नायक-चरित्र ही मानना चाहिए[1]।' राक्षस के चरित्र को भी नाटककार ने कुछ ऐसा ही निरूपित किया है कि उसे न तो धीरोदात्तादि नायकों की सीमा में बांधा जा सकता है न ही उसे प्रतिनायक के लक्षणों की सीमा में बांधा जा सकता है। तथापि उन्हें यदि नायक-भेदों में बांधना ही है तो राक्षस अपने सम्पूर्ण गुणों, विशेषकर अपनी धीरता और औदात्य, उदारता और मैत्री, त्याग एवं नन्दों के प्रति निष्ठा के कारण एक धीरोदात्त चरित्र है। प्रतिनायक के रूप में भी उसे धीरोदात्त प्रतिनायक[2] ही मानना उचित होगा। दूसरी ओर अपनी कूटनीतिक सफलताओं, व्यवहार-रूक्षता, दर्प, विकत्थना, छलछद्म, और चण्ड प्रकृति के कारण चाणक्य किसी धीरोद्धत नायक के अधिक समीप है। यही कारण है कि राक्षस-प्रतिनायक होते हुए भी प्रतिनायक प्रतीत नहीं होता और नायक होते हुए भी चाणक्य अपने प्रतिद्वन्द्वी से अपेक्षाकृत अधिक खलक विरोधी चरित्र है। यदि किंचित् सूक्ष्मता-पूर्वक देखा जाए तो हम पाते हैं कि चाणक्य की भूमिका को कुछ इस प्रकार से नियोजित

---

१ मुद्राराक्षस- समालोचना भाग पृ०२५

२ देखें : प्रबन्ध के अध्याय दो में शृङ्गारप्रकाशकार का प्रतिनायक भेद।

किया गया है कि वह नायक होते हुए भी नकारात्मक भूमिका प्रतीत होती है । इसके विपरीत राक्षस की भूमिका प्रतिनायक की भूमिका है फिर भी यहां एक सकारात्म भूमिका प्रतीत होती है क्योंकि सम्पूर्ण नाटक में राक्षस का नायक (चाणक्य) विरोध उतना नहीं उभरा है जितना कि चाणक्य के राक्षस-विरोध को प्रमुखता मिली है ।

चाणक्य का नायकत्व

अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए चाणक्य की योजनाओं की सफलता का मुख्य कारण यही है कि वह दूरदर्शी है । उसे शत्रु के षड्यन्त्रों का आभास बहुत सरलता से हो जाता है । इसमें उसके गुप्तचरों की सहायता के अतिरिक्त उसकी तीक्ष्ण प्रज्ञा और उसके अध्यवसाय का महत्वपूर्ण स्थान है । इसके अतिरिक्त उसकी सफलता का कारण यह भी है उसने अपने साधनों को सुरक्षा एवं आक्रमण के रूप में दो प्रकार से प्रयुक्त किया है तथा उन्हें चन्द्रगुप्त, राक्षस मलयकेतु के चारों ओर फैला रखा है । चन्द्रगुप्त पर प्रयुक्त विषकन्या का प्रयोग वह पर्वतक पर कर देता है तथा राक्षस के सन्निमित अन्य षड्यन्त्रों को विफल करने में उसका बुद्धिचातुर्य एवं दूरदृष्टि का दर्शन किया जा सकता है जिसके कारण वैरोधक, बर्बरक, दारुवर्मा, अभयदत्त, प्रमोदक एवं भत्सक प्रभृति जन, जाने-अनजाने मृत्यु को प्राप्त होते हैं । यह उसकी सुरक्षात्मक नीति है । मुद्राराक्षस में हम देखते हैं कि उसका आरम्भ इन घटनाओं के सम्पादित हो जाने के उपरान्त होता है जिससे नाटककार ने चाणक्य की सुरक्षा-व्यवस्था को दिखाने के साथ ही उसकी आक्रमक व्यवस्था का परिचय दिया है(यद्यपि इसका वर्णन द्वितीय अंक में किया गया है ।) नाटककार ने इस घोषणा के माध्यम से नायक चाणक्य को क्रूरता अथवा निरर्थक हत्या के अभियोग से मुक्त करते हुए, प्रतिनायक राक्षस पर इन्हें आरोपित करते हुए, उसके प्रतिनायकत्व का समर्थन किया है ।

दूसरी ओर चाणक्य राक्षस एवं मलयकेतु के मध्य भेद डालने के लिए कपट लेख मुद्रा एवं पर्वतक के आभूषणों का उपयोग करता है जिससे वह राक्षस के मन में शकटदास के प्रति एवं मलयकेतु के मन में चित्रवर्मा, सिंहनाद, पुष्कराक्ष, सिन्धुषेण एवं मेघाक्ष इन पांच राजाओं के साथ ही राक्षस के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न कर सके जिसमें वह सफल होता है । फलस्वरूप एक ओर तो वह मलयकेतु को बन्दी बनाता है दूसरी ओर शकटदास के अतिरिक्त अन्य सहायक पांचों राजाओं को

मरवा डालता है । इस कार्य में वह साक्षात् स्वयं प्रतियोगिता में नहीं उतरता अपितु अपने सहायकों क्षपणक, भागुरायण प्रभृति का उपयोग करता है । इसके अतिरिक्त शकटदास को बन्दी बनाकर फिर उसे अपने ही व्यक्तियों द्वारा मुक्त करवाते हुए शकटदास को उन्हीं लोगों के साथ राक्षस के सन्निकट पहुंचाते हुए सिद्धार्थक प्रभृति अपने गुप्तचरों को राक्षस के चारों ओर नियुक्त कर देता है । जो उसे सही मार्ग पर चलने से रोकते रहते हैं और उसकी प्रत्येक गतिविधि की सूचना चाणक्य तक पहुंचाते रहते हैं ।

नायक चाणक्य आरम्भ से ही चन्दनदास के रूप में निर्णायक सूत्र को हाथ में ग्रहण कर लेता है । यह भी उसकी आक्रामक नीति है। राक्षस के चारों ओर डाले गए अपने घेरे को वह प्रतिपल संकुचित करता जाता है । किसी भी राजनीतिज्ञ किंवा कूटनीतिज्ञ की यही तो विशेषता हो सकती है कि वह अपने प्रतिद्वन्द्वी की प्रत्येक योजना का पूर्व अनुमान कर सके । चाणक्य इसमें राक्षस से बहुत आगे है । वह राक्षस के समान भावुक नहीं है । राक्षस चन्द्रगुप्त को मरवाने की जितनी भी योजनाएं बनाता है उनको समझ कर उन्हें निष्फल करने वाला चाणक्य उसके किसी भी सहायक को जीवित नहीं छोड़ता । उसे वैतालिक के गीतों से ही राक्षस की चाल का पूर्वाभास हो जाता है । वह राक्षस की इस चाल में ही उसे फंसाता है, स्वतः कृतककलह करके स्वयं के आधिपत्य पद छोड़ने की सूचना प्रसारित करके, कपट लेख एवं आभूषणों के माध्यम से, मलयकेतु पर यह प्रकट करता है कि 'चाणक्य द्वारा आधिपत्य छोड़ने के बाद से राक्षस तो चन्द्रगुप्त का मित्र हो गया है और उसके मन में जिस अमात्य पद का मोह है वह उसे चन्द्रगुप्त से मिल ही जाएगा, फिर चन्द्रगुप्त कोई और तो नहीं नन्दवंशीय ही तो है ।' अपने अनुचरों के माध्यम से मलयकेतु के इस सन्देह की पुष्टि कराते हुए वह राक्षस को नितान्त एकाकी कर देता है । भागुरायण की सहायता से एक ओर वह मलयकेतु के आदेश पर पांचो राजाओं को मरवाता है, दूसरी ओर उसकी पूर्व सेना द्वारा आक्रमण करवा कर उन्हें परास्त करते हुए मलयकेतु को बन्दी बना लेता है । मलयकेतु के व्यवहार से रुष्ट राक्षस के लिए पाटलिपुत्र वापस लौटने के अतिरिक्त अब कोई मार्ग नहीं दिखाई देता । इस प्रकार चाणक्य अपने घेरे को और संकुचित कर लेता है ।

राक्षस के पाटलिपुत्र आ जाने पर एकबार पुन: चाणक्य उसकी भावुकता का लाभ उठाता है । चाणक्य अपने ही एक पुरुष के माध्यम से 'चन्दनदास को वध्य स्थल की ओर ले जाया जा रहा है, वह अपनी मित्रता की रक्षा के लिए अपने मित्र आमात्य राक्षस के परिवार की रक्षा के लिए अपने प्राणों को न्योछावर कर रहा है' इस प्रकार की सूचना देकर उसके मन में मित्रप्रेम, मानवीयता, भावुकता, पारिवारिक चिन्ता एवं मोह को जागृत करके उसको आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य कर देता है ।

अपने इस परिवेश में तो मुद्राराक्षस का चाणक्य एक निश्चित धारणा, धी और समाधि से युक्त एक धीर गम्भीर नायक है । जिसका लक्ष्य है मौर्य साम्राज्य की चिरस्थिरता । जिसके मार्ग में आने वाले उन सारे अवरोधों को वह अपने पैरों से रौंद देता है जिनसे उसके राज्य को भय है किन्तु जिनका हृदय परिवर्तन करके कोई अर्थ-सिद्धि नहीं हो सकती है । आमात्य राक्षस को वह उन अन्य विरोधियों से अलग मानता है क्योंकि राक्षस जितना बुद्धिमान, नीतिमान, दृढ़प्रतिज्ञ, पराक्रमी, नि:स्वार्थी एवं स्वामिभक्त जन विरले ही होते हैं । इसीलिए वह राक्षस को जीवित पाना चाहता है ।

चाणक्य की यह महती विशेषता है कि वह अपने प्रतिद्वन्द्वी के विपरीत एक पुरुषार्थी नायक है, वह कर्म में विश्वास करता है, वह नितान्त बुद्धि-वादी है और भावुकता को समीप नहीं आने देता है । इसी कारण वह कभी-कभी अपने सेवकों एवं शिष्यों के प्रति भी रूक्षता का व्यवहार कर बैठता है । यह गुण उसे उदात्त नहीं बनने देता अपितु उसके औद्धत्य का परिचय देता है । वह भी औद्धत्य ऐसा नहीं जिसमें मात्सर्य हो, निरी विकत्थना हो या मिथ्याभिमान हो । वह ऐसा नायक है जो जितना सोचता है उतना कर दिखाता है ।

दूरदर्शी, नि:स्वार्थी, कूटनीतिज्ञ, यथार्थवादी (भावुकताहीन) धैर्यशाली चाणक्य नितान्त निरीह है लोभ मोह से परे वह एक ऐसा चरित्र है जिसके लिए चन्द्रगुप्त के कञ्चुकी वैहीनर का यह कथन ही नितान्त सार्थक है कि वह इतने विशाल साम्राज्य का आमात्य होते हुए भी 'निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कार

विषय:` है अर्थात् वह निरीह तो है किन्तु मौर्य साम्राज्य की अतुल सम्पत्ति उसके लिए तिरस्कार का विषय है । इस प्रकार अपने सम्पूर्ण आयाम में वह नाट्यशास्त्रीय धीरोद्धत नायक का ऐसा आदर्श है जो संस्कृत साहित्य में अनुपमेय है, अद्वितीय है[1]।

राक्षस का प्रतिनायकत्व

राक्षस ही वह अवरोध है जिसके उत्पातों से चाणक्य संत्रस्त है और उसके ही पैरों में मौर्य साम्राज्य किंवा चन्द्रगुप्त के साचिव्य की बेणी डालने के लिए सारे प्रयत्नों की संज्ञा `मुद्राराक्षस` नाटक है । इसी कारण चाणक्य द्वारा राक्षस को साचिव्य की प्रतीक मुद्रा समर्पित करने के उपरान्त चाणक्य निश्चिन्त हो जाता है ।

राक्षस यद्यपि प्रतिनायक है किन्तु क्रूर नहीं है । चाणक्य नायक है पर क्रूर है । राक्षस प्रतिनायक होते हुए भी उतनी हत्यायें नहीं करता या करवाता या करवा पाता है जितनी हत्याओं का दायित्व चाणक्य के माथे पर है । राक्षस भावुक है और इस सीमा तक कि शकटदास, चन्दनदास, चन्दनदास के मित्र जिष्णुदास, मलयकेतु और पर्वतक इन सभी के प्रति उसकी भावुकता कभी-कभी उसे रो देने को बाध्य कर देती है । वह संवेदनशील है चाणक्य की भांति कठोर नहीं । अपने सेवकों के प्रति भी वह अत्यन्त उदार है[2] । वह वस्तुत: कवि-हृदय है नन्दवंश के प्रति उसकी अगाध

---

१ `संस्कृत के नाटककारों के द्वारा उद्भावित नायक-चरित्र का जो प्राचीन नाट्य-परम्परागत वर्ग-विभाग है उसमें यह चरित्र अपनी व वैयक्तिक विशेषता और अलौकिकता के कारण, ऐसा प्रतीत होता है, समा नहीं सकता `

--डा० सिंह, (मुद्राराक्षस समालोचना, पृ० २१)

२ तुलना करें :--

चाणक्य - वत्स कार्याभियोग एवास्मानाकुलयति ;

न पुनरुपाध्यायसहभू: शिष्य जने दु:शीलता ।--मुद्रा० प्रथम अंक,पृ०२२

राक्षस -- (कञ्चुकी से) आर्य कुमार इवानतिक्रमणीय वचनो भवानपि,

तदनुष्ठीयते कुमारस्याज्ञा ।

--मुद्रा० द्वितीय अंक, पृ० ८५

श्रद्धा है, भक्ति है, प्रेम है । चाणक्य की भांति वह राजा पर भी कठोर शासन रखता हो ऐसा चरित्र नहीं है उसका । मलयकेतु के प्रति उसके व्यवहार से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है । वह स्वार्थहीन, भाग्यवादी एवं ईश्वर से भय खाने वाला चरित्र है । अपने इस परिवेश में `नैता स्यात प्रतिनायक' की मान्यता का पालन करता हुआ राक्षस, प्रतिनायक होते हुए भी मुद्राराक्षस के पाठकों एवं सामाजिकों का मन मोह लेता है । चाणक्य जहां सामाजिक को स्तम्भित करने वाला चरित्र है वहां राक्षस उन्हें सम्मोहित करता है ।

नाटककार विशाखदत्त ने नायक चाणक्य के लोकविश्रुत अर्थात् कठोर, दृढ़ किंवा हठी, स्वाभिमानी चरित्र की प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से, राक्षस जैसे अप्रसिद्ध चरित्र को एक स्वाभिमानी किन्तु विवेकशील सहृदय एवं सरल चरित्र के रूप में प्रस्तुत करते हुए प्रतिनायक के अनेक शास्त्रीय गुणों को छोड़ दिया है । यह नाटककार की निजी कल्पना का, उसकी निर्माण शक्ति का परिचायक है । `क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्त-मभिभवितुमिच्छति बलात्' चाणक्य की इस गर्वोक्ति की तुलना में मलयकेतु से वार्तालाप में राक्षस के मुख से `स्वाधीने मयि' इस छोटी सी उक्ति में निहित उसकी लज्जा और संकोच से दोनों का चरित्र पर्याप्त पृथक् हो जाता है ।

किसी भी युद्ध में प्रथम आक्रमण करने वाला भारी पड़ता है । यही स्थिति यहां भी है एक ओर स्थापित नन्द साम्राज्य को उखाड़ फेंकने वाला चाणक्य है दूसरी ओर उत्तराधिकारी की अस्थिरता (सर्वार्थसिद्धि, पर्वतक, पर्वतक से वैरोचक एवं मलयकेतु तक किसे नन्दवंश का वास्तविक उत्तराधिकारी बनाया जाना है यही निश्चित न कर पाना) के कारण व्यग्रचित्त वाला राक्षस है, जो आक्रान्त है, नित नयी योजनाएं बनाता है पर कुछ भी आकार लेने के पूर्व ही जो नष्ट हो जाती हैं । वह स्वयं कहता है `सेयं मम चित्रकर्मरचना भित्तिं विना वर्तते'[1] वह बालू पर प्रासाद उठा रहा है । वह जितना निष्ठावान् है उसकी भित्ति उतनी ही दुर्बल है । उस पर भी चाणक्य के घात-प्रतिघात हैं जिनके कारण निष्क्रिय एवं असफल उसकी नीतियां उसे दुर्बल एवं उसके मनोबल को नित्य प्रति क्षीण करती जाती हैं । वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है यह देखकर कि एक ओर तो उसकी प्रत्येक युक्ति विफल

---

१ मुद्रा० २।४

हो जाती है दूसरी ओर चाणक्य का कार्य सिद्ध होता जाता है।[1] इसी कारण वह दुःखी हो उठता है और कहता है कि उसका कार्य भी किसी नाटककार की भाँति अत्यन्त कठिन है।[2] यह सत्य है कि किसी को राज्य सिंहासन पर बिठाने का कार्य अत्यन्त कठिन है। उसकी अपेक्षा किसी प्रतिष्ठित राज्य की रक्षा करना किसी व्यक्ति के लिए सरल है। इसी कारण चाणक्य की स्थिति दृढ़ है और राक्षस की स्थिति दुर्बल। फिर भी राक्षस चाणक्य की अपेक्षा अधिक शक्तिसम्पन्न एवं पराक्रमी है।

प्रतिनायक होते हुए भी राक्षस, लोभ एवं पापादि व्यसनों से दूर एक योगी की भाँति अपने कर्म के प्रति समर्पित चरित्र है। वह नाटककार की अनूठी कल्पना है जो अद्वितीय एवं अनुकरणीय है। चाणक्य की उग्रता, उसके साहस, उसकी कूटनीति, उसके राजव्यवहार और राज्य की स्थिरता के लिए उसकी चिन्ता का मुख्य केन्द्र राक्षस ही है। राक्षस ही वह शत्रु है जिसे पराभूत करके वह मौर्य साम्राज्य को अजेय एवं दुर्भेद्य बना सकता है और राक्षस ही वह मित्र है जो इस अजेय, एवं दुर्भेद्य दुर्ग की रक्षा कर सकता है। इसी कारण [illegible] हो चाणक्य भी उसका प्रशंसक है। इसके अतिरिक्त शत्रु होने पर भी चाणक्य द्वारा राक्षस का सम्मान, समर्थ होने पर भी राक्षस के परिवार एवं चन्दनदास जैसे राक्षसमित्र की हत्या न करना और राक्षस के निमित्त अतिरिक्त पद न बनाकर अपने ही पद का त्याग करना चाणक्य के चरित्र के उन अभावों की, मानवीयता की पूर्ति करते हैं जिसके मूल में राक्षस ही है।

इस प्रकार प्रतिनायक की भूमिका का मूल्यांकन करते हुए हमें यह सोचने का अवकाश ही नहीं है कि राक्षस की भूमिका की उपयोगिता क्या और कितनी है अथवा उससे नायक चाणक्य के चरित्र का कितना उत्कर्ष दिखाया जा सका है, क्योंकि राक्षस की भूमिका ही वह महत्त्वपूर्ण भूमिका है जो चाणक्य की भूमिका के उपलब्ध

---

१ मौर्येत्वैव फलन्ति पश्य विविधश्रेयांसि मे नीतय:। मुद्रा० २।१६

२ कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा ।।

—मुद्रा० ४।३

स्वरूप का निर्माण करती है उसकी नीति की तीक्ष्णता को बनाती है, उसकी दूर दृष्टि का उद्घाटन करती है यहां तक कि उसकी क्रूरता, औद्धत्य, ईर्ष्या, विकत्थना, क्रोध के साथ ही उसके धैर्य, पुरुषार्थ की कसौटी भी वही है । प्रकारान्तर से चाणक्य के साचिव्य की, आमात्यत्व की उसकी मंत्रशक्ति अज्ञात ही रह जाती यदि राक्षस न होता । तात्पर्य यह कि मौर्य साम्राज्य की स्थापना हो जाने पर भी चाणक्य को राक्षस की आवश्यकता है यह उसकी, उसकी भूमिका की सबसे बड़ी उपयोगिता का कारण है । वस्तुत: राक्षस ही वह सोपान है जिस पर पैर रखकर चाणक्य अपने 'चाणक्यत्व' की ख्याति के उच्चतम शिखर का स्पर्श कर पाता है । राक्षस की हर असफलता ही चाणक्य की सफलता का पर्याय है, राक्षस की पराजय ही उसकी विजय है और राक्षस का आत्मसमर्पण ही चाणक्य के सर्वोच्च सम्मान का कारण है ।

उपनायक और उपप्रतिनायक

इधर चाणक्य ने नन्द साम्राज्य को समाप्त करके चन्द्रगुप्त मौर्य को राज्य पर बिठाया, उधर राक्षस मौर्य साम्राज्य को समाप्त करके चन्द्रगुप्त के स्थान पर किसी भी नन्दवंशी व्यक्ति को राज्य पर बिठाना चाहता है । पर्वतक एवं वैरोचक के बाद उसकी दृष्टि एकमात्र बचे हुए नन्दवंशीय सर्वार्थसिद्धि पर जाती है जो स्वयं चाणक्य एवं मौर्य साम्राज्य से भयभीत होकर भाग जाता है फिर भी चाणक्य उसे नहीं छोड़ता और नन्द वंश से सम्बद्ध होने के कारण उसे भी मरवा डालता है । इसके उपरान्त राक्षस की दृष्टि में पर्वतक का पुत्र मलयकेतु ही ऐसा व्यक्ति है जिसे राजा बनाया जा सकता है । अत: एक ओर तो मौर्य सम्राट् होते हुए भी चन्द्रगुप्त उपनायक है दूसरी ओर चाणक्य के कार्य सहायक भागुरायण, सिद्धार्थक प्रभृति अनेक भूमिकाएं हैं जिन्हें उपनायक माना जा सकता है किन्तु इनके कार्य संचालन का सूत्र चाणक्य के हाथों में है अत: इनमें से किसी भी चरित्र का स्वतंत्र विकास नहीं हो पाया है और ये सभी चाणक्य की कठपुतलियों की तरह कार्य करते हैं ।

चन्द्रगुप्त के स्थान पर मलयकेतु को राजा बनाने की राक्षस की अभिलाषा के परिप्रेक्ष्य में मलयकेतु का प्रतिनायकत्व स्वत: स्थिर हो जाता है । उसका अस्तित्व राक्षस के सहायक के रूप में ही विकसित हो सका है किन्तु अन्त में चाणक्य की कूट-

नीति का लक्ष्य बनकर वह राक्षस से सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है और ऐसा होते ही एक ओर तो चाणक्य राक्षस के पांच विश्वस्त राजाओं को उसके ही आदेश से मरवा डालता है और उधर उसे भी बन्दी बना लेता है । इस प्रकार उसका पराभव जहां एक ओर प्रतिनायक राक्षस के महत्त्व को सिद्ध करता है वहीं दूसरी ओर चाणक्य को फलप्राप्ति के निकट पहुंचाता है । वह अदूरदर्शी, मूर्ख एवं अविश्वासी है । इसी कारण भागुरायण उसे शीघ्र ही प्रभावित कर लेता है जिसमें कहीं-कहीं शकार के चरित्र का भी आभास होता है ।

मलयकेतु के अतिरिक्त चन्दनदास एवं शकटदास भी राक्षस के सहायक होने से चाणक्य की विरोधी भूमिकाएं हैं । वे स्वत: मैं महत्त्वपूर्ण हैं और कथासूत्र से भलीभांति लिपटे हैं फिर भी चरित-चित्रण की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं । उनमें भी चन्दनदास जैसी महत्त्वपूर्ण भूमिका का चित्रण अति संक्षिप्त है । जबकि वही वह महत्त्वपूर्ण सूत्र है जो राक्षस के आत्मसमर्पण का मुख्य कारण है । इस प्रकार हम देखते हैं कि नन्दवंश की पुन: स्थापना की भावना ही शकटदास एवं चन्दनदास को राक्षस के पक्ष में लाती है तथा चाणक्य एवं प्रकारान्तर से चन्द्रगुप्त की प्रतिद्वन्द्विता ही मलयकेतु को राक्षस से मिलाती है । यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि नन्द साम्राज्य में शकटदास, महालेखाध्यक्ष था और चन्दनदास कोषाध्यक्ष । राक्षस तो महामात्य था ही अत: उसके प्रति इन दोनों की सद्भावना स्वाभाविक है । राक्षस द्वारा मौर्य साम्राज्य को समाप्त कर नन्द साम्राज्य की स्थापना होने पर उन्हें पुन: अपने खोये हुए पद, प्रतिष्ठा, यश और सुख-सुविधा की आशा है । किन्तु इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है उनकी नन्दों एवं नन्दों के आमात्य राक्षस के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा, विश्वास एवं समर्पण की भावना । इस प्रकार तीनों ही उपप्रतिनायकों की भूमिका का महत्त्व कथावस्तु एवं विशेषरूप से नायक के क्रिया-कलापों से आरम्भ से अन्त तक बना रहता है । अपनी सीमित उपस्थिति तथा शत्रु पक्ष में होकर भी वे चाणक्य की योजनाओं की सफलता के मुख्य साधन बन जाते हैं । सम्पूर्ण नाटक को देखने पर यह कहना सत्य है कि इन सहायक भूमिकाओं से राक्षस को उतनी सहायता नहीं मिलती जितनी कि सहायता चाणक्य लेता है । यह नायक की क्षमता, दूरदर्शिता और सफलता का ही परिचायक नहीं है अपितु प्रतिनायक और उपप्रतिनायकों के अस्तित्व की यही उपयोगिता भी है ।

ऐतिहासिक अथवा लोककथाओं पर आधारित इन रूपकों की परम्परा में प्रतिनायक का महत्त्व अपेक्षाकृत अन्य पौराणिक, रामायण अथवा महाभारत की कथा पर आधारित रूपकों से कुछ अधिक मौलिक है, कम से कम उसके स्वरूप की विविधता की मौलिकता तो अवश्य ही स्पृहणीय है और उसके माध्यम से नायक के चरित्र के उत्कर्ष की स्थापना की मान्यता को अधिक सक्षमता के साथ सिद्ध किया जा सकता है। इसी परम्परा में दो अन्य रूपकों के महत्त्व को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता और ये हैं भवभूति का मालतीमाधव तथा हर्ष का नागानन्द। प्रस्तुत स्थल पर इतना अवकाश नहीं है कि इन अथवा ऐसे ही अन्य रूपकों पर विशेष चर्चा की जाय फिर भी इन पर एक विहंगम दृष्टि डाली जा रही है।[1]

'<u>मालतीमाधव</u>' जैसाकि अभिधान से ही स्पष्ट है यह एक ऐसा रूपक है जिसमें नायक-नायिका के प्रेम की कथा को ग्रथित किया गया है किन्तु यह कथा ऐसी नहीं है जो सपाट हो अथवा जिसमें उनके संयोग में बाधकतत्त्व अमूर्त हों अथवा कोई पूर्व-पत्नी अथवा कोई ऐसी ही अन्य भूमिका बाधक बनकर आती हो। नायक माधव के मार्ग में आने वाला प्रतिद्वन्द्वी नन्दन मालती के पिता का सहयोगी अपितु राजा का अधिक विश्वसनीय अमात्य है। कुरूप एवं वृद्ध नन्दन मालती एवं माधव के सम्बन्धों को जानकर भी अपनी वृद्धावस्था में मालती पर आसक्त हो जाता है और जोड़तोड़ करके राजा से भूरिवसु को अपनी पुत्री के साथ उसके विवाह के लिए सहमत करा लेता है। उसका विवाह भी होता है, किन्तु मालती के साथ नहीं अपितु माधव के एक मित्र के साथ जो मालती के वेष में उसे छलता है। और उसका परिणामस्वरूप प्रथम रात्रि को ही नन्दन का घोर अपमान होता है।

अघोर घण्ट एवं कपालकुण्डला द्वारा मालती की बलि की योजना एवं माधव द्वारा अघोरघण्ट को मार कर मालती की रक्षा ने कपालकुण्डला को उत्तेजित किया है अतः वह मालती का एकबार पुनः अपहरण करती है। यद्यपि अघोरघण्ट एवं कपालकुण्डला का कोई सम्बन्ध नन्दन से नहीं है फिर भी नायिका एवं नायक के मिलन में द्वितीय बाधक के रूप में उनका भी स्वरूप प्रतिनायक प्रतिनायिका अथवा उपप्रतिनायक जैसा ही है।

---

1 जैसाकि अभिसारकार, मालविकाग्निमित्रम् या विक्रमोर्वशीयम् में है।

पद्मावती नरेश भी नन्दन पक्षपात के कारण प्रतिनायक के सहायक हैं किन्तु अन्त में उनके प्रभाव से ही नन्दन भी माधव एवं मालती के विवाह का समर्थन करता हुआ आत्म-समर्पण कर देता है । इस रूप में मालतीमाधव में स्वयं मंच पर उपस्थित न होकर भी प्रतिनायक नन्दन सम्पूर्ण नाटक पर छाया रहता है । नाटककार भवभूति की यह रचना जितनी नवीन है, इसका प्रतिनायक नन्दन, नन्दन की भावना भी उतनी ही मौलिक है। कपालकुण्डला तथा अघोरघण्ट की योजना जहां अद्भुत रस की अनिवार्य योजना को सार्थक सिद्ध करती है वहीं उससे चमत्कार भी उत्पन्न हुआ है ।

इसके विपरीत नागानन्द का विषय किसी बौद्ध अवदाने[1] पर आश्रित हो अथवा बृहत्कथा किंवा वेतालपञ्चविंशति की कथा पर आधारित[2] इसमें दो राय नहीं हो सकती कि आत्मत्याग, दृढ़ता एवं उदारता का जो आदर्शरूप हम जीमूत-वाहन में देखते हैं उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम वह गरुड़ ही है जिसे हर्ष ने अपनी अद्भुत प्रतिभा द्वारा गढ़ा है । गरुड़ ही वह प्रतिनायक है जो नायक जीमूतवाहन एवं उपनायक शंखचूड़ के मध्य तुलना के अवसर प्रदान करता है और त्याग एवं परोपकार की अद्वितीय भावना के माध्यम से जीमूतवाहन को महान् नायक बना देता है ।

प्रतीक नाटक

संस्कृत साहित्य में प्रतीक नाटकों की परम्परा की प्राचीनता के सम्बन्ध में विवाद हो सकता है[3], किन्तु संस्कृत साहित्य में इस विधा के रूपकों का अभाव नहीं है । प्रबोधचन्द्रोदय (कृष्ण मिश्र), संकल्पसूर्योदय (वेदान्तदेशिक), चैतन्य-चन्द्रोदय (कविकर्णपूर), विद्यापरिणयनम् तथा जीवानन्दनम् (वेदकवि),मोहराजपराजय (जैनकवि-यशपाल)[4] प्रभृति रूपक इसी कोटि में आते हैं । जिन्हें भास के नाटकों में प्रयुक्त मधुक-शाप, तथा कंस की राजलक्ष्मी के मध्य संवाद तथा कृष्ण के शस्त्रास्त्रों के मानवीकरण जैसे प्रयोगों ने निश्चय ही प्रेरणा दी होगी ।

इन नाटकों के पीछे जहां नाटककारों का उद्देश्य अपने सम्प्रदायों की मान्यता को पाठकों तथा सामाजिकों तक सम्प्रेषित करना था वहीं अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करना भी था । नाट्यशास्त्रीय मान्यताओं की परिधि से बाहर न जाकर कहीं निवृत्ति तो कहीं प्रवृत्ति, कहीं भक्ति तो कहीं शान्ति, कहीं कृपा तो कहीं दया,

---

१ सं० सा० इ० पृ० ५६०   २ सं० ना० पृ० १७७

३ देखें : कीथ का सं० ना० पृ० २६५

४ वाचस्पति गैरोला - सं० सा० इ० इ० । निर्णयसागर प्रेस के काव्यमाला ३६ में विद्या० को आनन्दरायमखि की रचना माना गया है ।

कहीं सरस्वती तो कहीं माया, इनके दार्शनिक स्वरूपों को रूपायित करके उन्हें नायक विवेक, पुरुष, मोह अथवा मन की पत्नियों या प्रेयसियों के रूप में प्रस्तुत करना एक कठिन कार्य है। फिर भी अपनी मान्यताओं को नायक प्रतिनायक, नायिका अथवा उसकी सहायिका के रूप में प्रस्तुत करते हुए अपने सम्प्रदाय के प्रचार एवं प्रसार का यह अनूठा ढंग था।

ऐसे प्रयोगों को प्रतीक अथवा बिम्ब रूप में काव्य के माध्यम से प्रस्तुत करना सरल है किन्तु इस प्रक्रिया को भास के रूपकों में कृष्ण के शस्त्रास्त्रों के मानवीकरण के रूप में देखकर इन नव्य प्रयोगों को कितना बल मिला होगा कह पाना सरल नहीं है। पर इनसे निश्चय ही प्रेरणा ली गयी होगी ऐसा माना जा सकता है। रूपकों का विषय किसी भी सम्प्रदाय से सम्बद्ध हो किन्तु प्रस्तुत स्थल पर ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि अपने मत, सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय के सम्बन्ध में जो विषय उठाया गया है उसे ठीक ढंग से प्रस्तुत किया गया है या नहीं। इस विषय एवं इसके प्रस्तुतीकरण से तात्पर्य है कि नाटककार ने अपने रूपक में नायक चाहे वह मन हो अथवा मोह, अहंकार हो अथवा चैतन्य, उसे एवं उसकी प्रतिद्वन्द्विता में प्रस्तुत चरित्रों का कितना उपयोग किया गया है। इस प्रकार के रूपकों की शृङ्खला में प्रबोधचन्द्रोदय, संकल्प-सूर्योदय एवं मोहराज पराजय ये रूपक अपनी विषय-वस्तु, उनकी प्रस्तुति, पात्रों के चरित्र-चित्रण के कारण पर्याप्त विश्रुत रहे।

प्रस्तुत स्थल पर इन सभी रूपकों की चर्चा न तो अभीष्ट है न ही उपयोगी, क्योंकि ऐसे रूपकों के विषय की दार्शनिकता ने उन्हें क्लिष्ट बना दिया है और एक ही भूमिका जो भिन्न-भिन्न रूपकों में रूपायित हुई है अपने नाटककार की साम्प्रदायिक प्रतिबद्धता के कारण एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी प्रस्तुत करने की दृष्टि से अभिन्न है इसके अतिरिक्त उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझे बिना उन्हें बुद्ध्यंगम कराना कठिन है। अतः कृष्ण मिश्र रचित प्रबोधचन्द्रोदय की विषय वस्तु तथा नाटककार द्वारा ग्रहण किए गए दार्शनिक तत्वों की प्रतीक भूमिकाओं के माध्यम से द्वन्द्व की स्थिति को कितना उठाया गया है यह देखना ही अभीष्ट है। दार्शनिकता के पक्ष को छोड़ दें तो भी विभिन्न भूमिकाओं के विकास में, उनकी प्रतिद्वन्द्वी भूमिकाओं

का कितना उपयोग किया गया है यह देखना पर्याप्त रोचक है ।

कृष्णमिश्र कृत प्रबोध-चन्द्रोदय

प्रबोध चन्द्रोदय का नायक विवेक है और उसकी प्रतिद्वन्द्विता है महा मोह से । उसके सहायकों के रूप में क्रमशः धर्म, वस्तु-विचार एवं सन्तोष और चार्वाक,काम, दम्भ, अहंकार, क्रोध प्रभृति भावनाओं का मानवीकरण किया गया है । स्त्री पात्रों में विवेक के पक्ष में नायिका के रूप में उपनिषद्,मति, करुणा, शान्ति, विष्णुभक्ति, सरस्वती, श्रद्धा, क्षमा प्रभृति है तो मोहराज के पक्ष में प्रवृत्ति, रति,और हिंसा हैं ।

विवेक भयभीत है क्योंकि महामोह की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है । विवेक के आक्रमणों से अपनी रक्षा के हेतु मोहराज ने नाना उपाय कर लिए हैं, वह निश्चिन्त है । फिर भी यदि विवेक उपनिषद् से किसी भी प्रकार संयोग कर सका तो उत्पन्न होने वाला पुत्र प्रबोध महान् अनिष्टकारी हो सकता है ऐसी भविष्यवाणी है । विवेक का उपनिषद् से सान्निध्य न होने पाये यह उद्देश्य है महामोह का और विवेक तथा उधर स्वयं उपनिषद् भी प्रयत्नशील है इस परस्पर मिलन के लिए । उपनिषद् द्वारा विवेक के माध्यम से प्रबोध का उदय होना चाहिए जिसके साधन रूप में विष्णुभक्ति, दया, क्षमा, शान्ति, धर्म, श्रद्धा आदि की उपयोगिता है । मोह, प्रवृत्ति, काम,क्रोध,हिंसा आदि को निगृहीत करके ही यह सम्भव है इसी दार्शनिक मान्यता को नाटककार ने प्रस्तुत करते हुए वैष्णव सम्प्रदाय के अद्वैतसिद्धान्त का समर्थन किया है ।

विवेक एवं महामोह की भूमिकाओं से यह स्पष्ट है कि नाटककार ने महामोह का जो चित्र आरम्भ से प्रस्तुत किया है उसमें विवेक-नायक की भूमिका निरीह-सी है जिसे महामोह ने अपनी सेना एवं सहायकों की सहायता से घेर लिया है। उसने उपनिषद् एवं श्रद्धा को अलग-अलग करवा दिया और यहां तक कि श्रद्धापुत्री शान्ति को कारागार में डलवा दिया । काशी पर अपना अधिकार जमाने के लिए उसकी योजना सफल रहती है और बिना धर्म के उसका सक्षम विरोधी कोई नहीं है ।

आक्रामक महामोह की इस भूमिका में ही विवेक की दृढ़ता, धैर्य

एवं दूरदर्शिता की परीक्षा होती है । वह सफलतापूर्वक महामोह की योजनाओं को ध्वस्त करता हुआ अपने सहायक सन्तोष, वस्तुविचार आदि के साथ काशी में ही महामोह को पराजित कर उसे तथा उसकी पत्नी प्रवृत्ति तथा उसके पुत्रों को समाप्त कर देता है । तदनन्तर शान्ति के माध्यम से उपनिषद् एवं विवेक का मिलन होता है और तर्क, विद्या आदि के माध्यम से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है ।

सारांश रूप में प्रतिनायक मोह के आक्रमण, उसकी चाल, उसकी दूर-दृष्टि एवं चातुर्य के कारण विवेक की आरम्भिक पराजय होती है जिससे विवेक को अपने पुरुषार्थ-प्रयोग का अवसर मिलता । मोह के आक्रमण के अभाव में विवेक की निष्क्रियता बनी रहती । उपनिषद् के सामीप्य की लालसा का कारण है मोहराज द्वारा विवेक का घेराव इसी कारण विवेक नाना उपायों द्वारा मोह पर विजय प्राप्त करता है । अपने इस प्रयोग में उसकी सफलता का मुख्य श्रेय प्रतिनायक महामोह को जाता है । जो विवेक को गतिशील बनाता है तथा उसे प्रकृति नायकों को गतिमान बनाता है ।

प्राय: संस्कृत नाटकों में नायक-नायिका के मिलन में नायक की अर्धाङ्गिनी बाधक बनती है, फिर भी मृच्छकटिकम् में ऐसा नहीं होता, किन्तु वहां भी धूता (चारुदत्त की पत्नी) स्पष्टरूप से ऐसा समर्थन नहीं करती जैसा कि यहां मति समर्थन करती है । वह राजा विवेक की उपनिषद् से संयोग की इच्छा पूर्ति करने को तत्पर है । क्योंकि विवेक की इस अभिलाषा के पीछे प्रबोध के उदय जैसा महान् उद्देश्य निहित है । अत: मति अन्य नारियों की अपेक्षा अधिक उदार है[1]।

द्वितीय अंक में मोह के आदेशानुसार दम्भ काशी पर अधिकार कर लेता है । उसकी पाखण्डी भूमिका के साथ अहंकार के अभिनय द्वारा विषय में पर्याप्त रोचकता उत्पन्न की गयी है । पैर धोकर आश्रम में प्रवेश, वातावरण स्वेद से दुर्गन्धि एवं अपवित्रता का भय, अतिथि का निरादर वह भी अपने पितामह अहंकार

---

१ मति: - आर्यपुत्र ! अन्यास्ता: स्त्रिय:, या: स्वरसप्रवृत्तस्य कार्यव्यापार-प्रतिपन्नस्य भर्तुरुद्वेगमिच्छन्ति ।

--प्रबोध- अंक १, पृ० ४६

का ही अपमान, इस रूपक द्वारा नाटककार ने मोह की उस सेना का परिचय दिया है जो विवेक की शालीनता एवं सदाचार की प्रतिद्वन्द्विता में स्थित है। ऐसे दम्भियों और अहंकारियों से उसे लोहा लेना है। कलि एवं चार्वाक के साथ महामोह के वार्तालाप द्वारा उसे अपने (मोह) आत्मप्रभाव की सूचना प्राप्त होती है किन्तु विष्णुभक्ति के प्रभाव को सुनकर महामोह भी चिन्तित हो उठता है।

विष्णुभक्ति वह सहायिका है जो विवेक के लिए अत्यन्त उपयोगी है। पांचवे अंक में श्रद्धा एवं विष्णुभक्ति के सम्वादों में विष्णुभक्ति की दूरदर्शिता, नीतिनिपुणता का परिचय मिलता है जिसकी सहायता से विवेक का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। श्रद्धा का अपहरण, शान्ति एवं करुणा द्वारा उसकी खोज करते हुए तामसी श्रद्धा के रूप में अपनी श्रद्धा की भ्रान्ति उन रूपकों द्वारा, विवेक की सहायिकाओं की सक्रियता की तथा विवेक की फलप्राप्ति में बाधक-तत्त्वों की क्रियाशीलता का तो परिचय दिया ही गया है किन्तु इसी माध्यम से विवेक को फलप्राप्ति की ओर धीरे-धीरे बढ़ते हुए भी दिखाया गया है। क्योंकि कालान्तर में विवेक एवं उपनिषद् का संयोग हो जाता है। जिसके द्वारा मोह पर विवेक की विजय अवश्यम्भावी हो जाती है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि नाटककार ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना के लिए ही सही, ऐसा माध्यम चुना है जो अत्यन्त सशक्त है, यह माध्यम है नाटक। नाटक में भी उसके पूर्वपक्ष के रूप में मोह के साम्राज्य, उसकी शक्ति एवं सम्पन्नता का दिग्दर्शन कराते हुए नायक विवेक को तुलना में निरीह एवं असहाय तथा आरम्भ में लगभग पराजित दिखाकर उन्होंने प्रतिनायक की भूमिका का सही उपयोग किया गया है। क्योंकि इतने सक्षम प्रतिद्वन्द्वी को पराजित करते हुए, उसकी सेना एवं सहायकों, सेनापतियों का समूल उच्छेद करते हुए नाटककार विवेक को विष्णुभक्ति की सहायता एवं उपनिषद् के सद्भाव से प्रबोध-चन्द्र को उत्पन्न करके मोह का विनाश करते हुए दिखाता है। इस प्रकार वह नायक के उत्कर्ष के लिए प्रतिनायक की योजना की सार्थकता को ही सिद्ध करता है।

इस प्रकार सारांश रूप में कहा जा सकता है कि रूपकों की कोई

१- ऐसे स्थलों पर शेक्सपियर के मालवोलियो जैसे टोगिओ का स्मरण हो आता है। द्रष्टव्य, बारहवीं रात (ट्वेल्थ नाइट) तथा निष्फल प्रेम (लव्स लेबर्स लास्ट) पर डा० रांगेय- की भूमिका.

भी विधा हो नाटक हो अथवा प्रकरण, व्यायोग हो अथवा उत्सृष्टिकाङ्क अथवा कोई अन्य विधा, कथा वस्तु भी चाहे रामकथा पर आश्रित हो अथवा महाभारत की कथा पर आश्रित, लोक कथाओं पर आश्रित हो अथवा ऐतिहासिक अथवा दार्शनिक सिद्धान्तों को निरूपित करने के लिए प्रतीकाश्रित, सर्वत्र प्रतिनायक-नायक के प्रतिद्वन्द्वी अथवा प्रतिस्पर्धी चरित्र का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। तात्पर्य यह कि नायक-विरोध नायक के उत्कर्ष की दृष्टि से उपादेय होता है और वह कथा में रोचकता का कारण बनता है तथा कथा को गति देता है। प्रतिनायक जितना ही सशक्त होगा कथानक भी उतना ही सशक्त होगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रतिनायक के अभाव में नायक का उत्कर्ष अथवा कथा की गति समाप्त हो जाती है किन्तु यह अवश्य है कि उसके अभाव में कृत्रिमता अथवा शिथिलता का आभास होने लगता है।

इसके विपरीत जिन रूपकों में हम पाते हैं कि जहाँ-जहाँ प्रतिनायक नायक के समकक्ष है, नायक के समान सशक्त है अथवा अपने अवगुणों के कारण वह नायक का सशक्त विरोध करता है वहाँ नायक का चरित्र निश्चय ही उत्कृष्ट बन पड़ा है। उसके चरित्र-चित्रण में नाटककार को अधिक कठिनाई नहीं हुई है। राक्षस, शकार, दुर्योधन, माल्यवान, जामदग्न्य एवं रावण की भूमिकाओं ने इसी कारण चाणक्य, चारुदत्त, भीम, अथवा राम की भूमिकाओं के चित्रण को सक्षमता प्रदान की है। यही कारण है कि नाटककारों ने अपने नायकों के लिए उन अप्रसिद्ध पात्रों को भी रूपकग्रन्थों में स्थान दिया है जिन्हें काव्यों, महाकाव्यों और पुराणों में कोई मान्यता भी नहीं है। माल्यवान्, राक्षस, शकार, नन्दन और गरुड़ तथा महामोह जैसी भूमिकाओं की योजना के पीछे यही मूलकारण है। मुद्राराक्षस, मृच्छकटिकम्, वेणीसंहार, दूतवाक्यम्, दूतघटोत्कचम् और उरुभङ्गम् तथा महावीरचरितम् की विपुल प्रसिद्धि का यही कारण है।

नायक प्रतिनायक की योजना की इस चर्चा में इस तथ्य पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि संस्कृत नाट्यपरम्परा में प्रतिनायक का वह स्वरूप नहीं है जो पाश्चात्य रूपकों में मिलता है जहाँ प्रतिनायक खलनायक होकर जीवित रहता है किन्तु वह नायक नहीं हो पाता। इसके विपरीत संस्कृत रूपक ग्रन्थों में प्रतिनायक का 'नायकत्व' यही है कि वह नायक का सशक्त विरोध तो करता है किन्तु नायक

द्वारा पराभूत होकर आत्मसमर्पण कर देता है । ईर्ष्या, द्वेष, विरोध, पाप, अथवा अन्य दुर्गुण ऐसे तत्त्व नहीं हैं जो किसी व्यक्ति के जीवन से मिटाये नहीं जा सकते अथवा जिन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सकता, क्योंकि चिरन्तन तो एकमात्र ब्रह्म है, सत्य है, ध्रुव है । अत: विरोध का अन्त ही प्रतिनायक का अन्त है और इस अन्त के उपरान्त ही प्रतिनायक भी नायक हो जाता है । इसी कारण उसे नायक अथवा नेता माना गया है । महाकवि भास ने इस तथ्य को ही साकार करते हुए सुप्रसिद्ध प्रतिनायक दुर्योधन को सुयोधन के रूप में नायक बनाया है, कर्ण जैसे उपप्रतिनायक को नायक बनाया है और कहीं-कहीं कुटिल, कुत्सित, और पौराणिक दृष्टि से गर्हित दुर्योधन को भी सत्यसन्ध, शिष्ट, धीर और उदात्त स्वरूप देकर प्रस्तुत किया है । इस दृष्टि से ऊरुभङ्गम्, कर्णभारम् और पञ्चरात्रम् जैसे रूपक सदा ही दृष्ट्यापेक्ष रहेंगे ।

पञ्चरात्रम्, मध्यमव्यायोग, दूतघटोत्कचम् और कर्णभारम् जैसे रूपकों में नायक-प्रतिनायक योजना और भी विस्मयकारिणी है । यहाँ प्रतिनायक के सम्बन्ध में विवाद भले ही हो परन्तु उनमें दोनों का ही चरित्र-चित्रण, निरूपण और प्रस्तुतीकरण विवेचन सापेक्ष है । पञ्चरात्रम् में दुर्योधन, नायक भले ही न हो परन्तु उसका चरित किसी भी नायक से अवर नहीं है । घटोत्कच भी एक ऐसा ही नायक है । मध्यम व्यायोग में यदि वही नायक है तो भीम का प्रतिनायकत्व कम विस्मयकारी नहीं है । यदि यहाँ नायक भीम ही है तो दूतघटोत्कचम् में राक्षसीपुत्र घटोत्कच का नायकत्व क्या कम आश्चर्यकारक है ? कर्णभारम् में इन्द्र का प्रतिनायकत्व भी ऐसा ही है, तात्पर्य यह कि ऐसे नव्यप्रयोग उस समय हुए जिसके पूर्व के रूपकप्रबन्ध अब उपलब्ध नहीं है अत: उस उपत्यका में कैसे-कैसे सुगन्धित पुष्प रहे होंगे आज यह कल्पना का ही विषय है ।

सारांश रूप में, यह कहना अत्युक्ति न होगी कि प्रतिनायक की भूमिका उस चट्टान की भाँति होती है जिससे टकराकर नायकचरित जो सरिता की भाँति है, प्रखर हो उठता है, गतिमान् हो उठता है । जिस प्रकार अन्धकार के अभाव में प्रकाश, दु:ख के अभाव में सुख, संघर्ष के अभाव में शान्ति एवं दोषों के अभाव में गुणों का सही मूल्यांकन नहीं हो सकता उसी प्रकार बाधक तत्त्वों के अभाव में साध्य एवं प्रतिनायक के अभाव में नायक की गुणवत्ता का वास्तविक आकलन नहीं हो सकता ।

-0-

अष्टम-अध्याय

-०-

पाश्चात्य त्रासदी : खलनायक तथा प्रतिनायक

"..... the two philosophies by no means differ in their interpretation of the basic human condition. They differ only in the manner of confronting it. One implies the value of the intelligence and the will to ameliorate the forces of evil ; the other implies the power of the spirit to transcend them. "

HENRY W. WELLS
The Classical Dram of India

अध्याय-आठ

-o-

पाश्चात्य त्रासदी : खलनायक तथा प्रतिनायक

अध्याय-८

पाश्चात्य मान्यता : खलनायक तथा प्रतिनायक

पृष्ठभूमि

भारतीय प्रतिनायक हो अथवा पाश्चात्य खलनायक दोनों के ही मूल को खोजते हुए हम उस उपत्यका में आ पहुंचते हैं जिसके 'अंतरावलोकन' की अब प्राप्य हैं । यह वह उपत्यका है जहां से वाङ्मय का कोई भी अंग हो, साहित्य अथवा दर्शन, सभी ने प्रेरणा ली है । छायोन्मीलन का परम साक्षात्कारी स्वरूप रहा हो अथवा शंकर के ताण्डव और पार्वती के लास्य नृत्य की रोमांचक अनुभूति, इनकी सत्यता किसी ग्रन्थ द्वारा प्रमाणित नहीं की जा सकती । किन्तु इसी परम आनन्द-दायिनी कल्पना में वह आकर्षण है जिससे विश्व का अधिकांश साहित्य अपनी उत्पत्ति अथवा सम्बन्ध स्थापित करता है । ऐसे ही परमानन्द की सत्ता में वह तत्व छुपा है जिसे दुःख, पीड़ा अथवा वेदना की संज्ञा दी जाती है । यदि पीड़ा न हो तो परमानन्द की अनुभूति असम्भव है । अतः पीड़ा ही है जो हमें सुख की ओर प्रेरित करती है । इन दोनों की सत्ता सृष्टि के आरम्भ से है और तब तक रहेगी जब तक पुनः कल्पान्त-महाप्रलय नहीं होता । उस प्रलय के उपरान्त भी पीड़ा शेष रहेगी अथवा आनन्द इसे दार्शनिक भी सम्भवतः सिद्ध नहीं कर सके ।

अस्तु, यह पीड़ा एवं आनन्द का नैरन्तर्य ही जीवन है । इस जीवन को जीने और भोगने का मोह ही नायक प्रतिनायक अथवा खलनायक को जन्म देता है । अतः जब से जीवन है तभी से इनका भी अस्तित्व है, ऐसा स्वीकार किया जा सकता है । नायक ब्रह्म का प्रतिनिधि है तो प्रतिनायक अथवा खलनायक शैतान का । एक सत् है तो दूसरा असत् । पाश्चात्य साहित्य के मूल में भी इस असत् के सत्य को, उसकी सत्ता को, उसके अस्तित्व को स्वीकार किया गया है और सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है, 'सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या' के रूप में भारतीय जीवन दर्शन ने भी इस सत्य को स्वीकार किया है । पाश्चात्य जगत् ने भी उसका उद्घाटन किया है और

भारतीय साहित्य ने भी । अन्तर इतना ही है कि पाश्चात्य साहित्य उस असत्य को उद्घाटित करने में ही इतना तल्लीन हो जाता है कि सत्य का अस्तित्व ध्वस्त होता या प्रतीत होता है । इसके विपरीत संस्कृत साहित्य असत्य को उतना ही उद्घाटित करता है कि सत्य द्वारा असत्य को, सत् द्वारा असत् को ध्वस्त होते हुए प्रदर्शित किया जा सके ।

प्राचीन रूपकों में आदर्श साम्य

पाश्चात्य काव्य रहे हों अथवा नाटक उनके आरम्भिक युग में सत्य के प्रति निष्ठा, देवों की प्रतिष्ठा, मर्यादाओं का परिपालन आदि सभी तत्व जो संस्कृत साहित्य में आरम्भ से अन्त तक विद्यमान रहे हैं, सरलता से देखे जा सकते हैं । महाकाव्यों की कथाओं का मूल, चाहे इलियड की कथा का मूल रहा हो अथवा ओडिसी का, ईनियड की कथा का मूल रहा हो[1] अथवा सम्राट् ईडिपस की कथा का नाटककथान्तर[2], सभी में सत्य-चिर सत्य की स्थापना, मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा और असत्य की निन्दा की भावना विद्यमान् रही है । यहां तक कि मार्स, अपोलो, मिनर्वा, जूनो तथा वीनस प्रभृति देवों-देवियों के क्रियाकलापों में भी स्वच्छन्दता दृष्टिगत होती है उसे भी नियंत्रित करने के लिए जुपिटर का अंकुश है । इलियड में पेरिस और हेलेन की अपेक्षा [illegible] को और ओडिसी में एनटीनस अथवा बाहरस की अपेक्षा यूलीसीज और टेलीमेकस को, ईनियड में टरनस की अपेक्षा ईनियस को महान् सिद्ध किया गया है क्योंकि वे वीर हैं देश, सभ्यता संस्कृति और अपनी जाति से उन्हें प्रेम है । इसके विपरीत ईडिपस अपने पापों के कारण, अपने कुकर्मों के कारण, अज्ञानतावश ही सही, अपने पिता की हत्या करने और अपनी मां से ही विवाह रचाने के कारण निन्दनीय है, गर्हित है[3] ।

संरचना साम्य

आज के युग में जब पाश्चात्य नाटकों से तुलना का प्रश्न उठता है तो यह भूलना नहीं चाहिए कि तुलना के लिए समय की, प्राचीनता और अर्वाचीनता

---

१ द्रष्टव्य : 'विदेशों के महाकाव्य' -- गोपीकृष्ण
२ ,, : सोफोक्लीज कृत 'रंगमंच' हिन्दी अनुवादक श्रीकृष्णदास
३ रंगमंच पृ० ४१

को भी ध्यान में रखना होगा । प्रगति के पग रखते हुए, अतीत को रूढ़, अन्ध अथवा प्रतिगामी कहना उचित नहीं है । ऐसे समय तात्कालिक परिस्थितियों, परम्पराओं और तद् सांस्कृतिक परिवेशों और विवशताओं को ध्यान में रखना भी आवश्यक होता है । अन्यथा साहित्य और साहित्यकार का मूल्यांकन अपूर्ण ही रह जाता है ।संस्कृत एवं पाश्चात्य, ग्रीक अथवा लैटिन साहित्य की तुलना में भी समय की सीमाएं हैं । संस्कृत साहित्य की तुलना मध्यकालीन साहित्य से नहीं की जा सकती । भास अथवा कालिदास के नाटकों की तुलना यदि शेक्सपियर से की जाती है तो संस्कृत नाटकों में ऐसे तत्वों को नहीं ढूंढा जा सकता जो शेक्सपियर के नाटकों अथवा उसके समकालीन रंगमंच की भौतिक विशेषताएं हैं।संस्कृत नाट्यसाहित्य में शेक्सपियर के नाटकों के तत्कालीन रंगमंच के विकसित तत्वों के आधार पर, उनके अभाव की चर्चा उस समय अप्रासंगिक हो उठती है जब हम पाते हैं कि उनके मध्य सैकड़ों वर्षों का अन्तराल है । अतः संस्कृत नाटकों के आदर्शों की तुलना पाश्चात्य साहित्य के उस विकासशील युग के नाटकों से की जा सकती है जिसके मुख्य स्तम्भ एस्किलस, सोफोक्लीज़ और यूरीपिडीज़ थे और जिनमें हम एक सीमा तक प्लेटो और अरस्तू को भी देख सकते हैं ।

संस्कृत साहित्य की पृष्ठभूमि में उसकी प्राचीनता के कारण जो आदर्शवादी, नैतिक, धर्म से अनुप्राणित भावना है उसकी तुलना के लिए, उसके समान आदर्शों के परिपालन की परम्परा वाले पाश्चात्य साहित्य के प्राचीन और नाटक की रचना और उसकी मंचावधारणा के उस आरम्भिक युग में लौटना आवश्यक हो जाता है "इस रंगमंच को धार्मिक संस्था मानने के कारण यूनानी दुःखान्त नाटकों की विषय-वस्तु निश्चित रूप से सीमित हो गयी (थी और) नाटककार अपने नाटकों के कथानकों के लिए देवताओं एवं पौराणिक नायकों के क्षेत्र के बाहर जा ही नहीं सकते थे ।(अतः) रोमांचकारी कृत्य, अपराध, आनुषंगिक पाप और उसका परिणाम यही उन नाटकों के विषय थे[1]" शेल्डान चेनी के इस स्पष्ट निरूपण के साथ हम संस्कृत साहित्य के उस वास्तविक युग में आ पहुंचते हैं जहां राम आदर्शों और मर्यादाओं की रक्षा के लिए चौदह वर्ष वन में रहते हैं और कृष्ण गोप-गोपियों को छोड़कर द्वारकाधीश बन जाते हैं । जहां राम लोकापवाद के भय से सीता का परित्याग करते हैं और कृष्ण

---

१ रंगमंच पृ० ५८-६०

राधिका से दूर रुक्मिणी और सत्य भामा से विवाह रचा लेते हैं। उदयन के कृपाचित्त काल के व्याज से वासवदत्ता और रत्नावली से प्रेम की कथाओं और उनके नाट्यरूपान्तरों में भी यही भावना है, यही सीमाएं हैं। इन सीमाओं में संस्कृत साहित्य की करुण अथवा कुछ भावप्रधान रचनाएं ही नहीं की प्रचुर वीर और रौद्ररस प्रधान रचनाएं भी की हैं। महाभारत की कथा पर आधारित अधिकांश रूपकों की कथावस्तु ऐसी ही है। पाश्चात्य जगत् में भी इलियड और ओडिसी और इनियड प्रभृति महाकाव्य इसी कोटि में आते हैं जिनके नाट्य रूपान्तरों में भी ऐसे ही तत्व विद्यमान हैं।

पाश्चात्य साहित्य पर इन महाकाव्यों और नाटकों का प्रभाव उतना दूरगामी न रह सका जितना कि संस्कृत साहित्य पर उनके अपने उपजीव्य काव्यों का। प्लेटो और अरस्तू के मध्य साहित्य और कला को लेकर जो दृष्टि भेद है वह एक ही पीढ़ी का है फिर भी अत्यधिक गम्भीर है। इस दृष्टिभेद के पीछे जो राजनीतिक कारण है वह प्रमुख रूप से साहित्य एवं कला सम्बन्धी उनके विचारों को प्रभावित करता है। कालान्तर में नाटकों के वस्तुपरक अथवा यथार्थ होने के पीछे अरस्तू के सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव रहा है। अरस्तू यद्यपि आदर्शों में विश्वास करता है किन्तु वह प्लेटो की अपेक्षा साहित्य में कल्पना को अधिक स्थान भी देता है। उसी साहित्यकार के सम्बन्ध में उदार दृष्टि अपनाते हुए उसे एक वास्तव द्रष्टा मानता है। उसका कथन है कि 'कवि कर्म इतना ही नहीं है कि जो घटित हो चुका है उसी का वर्णन करे अपितु कवि उसका भी वर्णन करता है जो घटित हो सकता है[1]।' यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि अरस्तू के इस कथन में घटना की प्रधानता को स्थान मिला है और उसके प्रति कविकल्पना-दूरदर्शिता तथा सम्भाव्यता को प्रश्रय मिला है। यह सम्भाव्यता लौकिक है, उतनी काल्पनिक भी नहीं है जितनी कि संस्कृत के काव्यों और नाटकों में देखी जाती है।

---

१ डा० चौधरी एवं गुप्त : 'भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन', पृ० २४२।

नाटक-प्रयोजन एवं विरेचन सिद्धान्त

काव्य और नाटक (त्रासदी) के कथानकों के सम्बन्ध में अरस्तू मानते हैं कि 'दोनों के कथानक सुव्यवस्थित होने चाहिए और उनमें यथार्थ जीवन की अपेक्षा बेहतर जीवन का चित्रण होता है। त्रासदी की भांति महाकाव्य का आधार भी प्राचीन दन्तकथाएं (लोक कथाएं-किंवदन्तियां) होती हैं।' दोनों का प्रयोजन भी मानव मन का परिष्कार और दोनों का प्रभाव भी समान है—'मन:शान्ति'[1] वस्तुत: पाश्चात्य नाटकों में इसका कितना निर्वाह हुआ है, अपने उद्देश्य में प्रेक्षक को मन:-शान्ति की स्थिति की सीमा तक पहुंचाने में कितने नाटक और नाटककार सफल हुए हैं यह विवेचना समय सापेक्ष है। फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि त्रासदी कभी भी मन:शान्ति को जन्म नहीं दे सकी और त्रासदी की चरम परिणति ही है भाव एवं मन की स्थिति को उत्पन्न करके प्रेक्षक को ऊहापोह अनिर्णय की स्थिति में ले जाकर उसे किंकर्तव्यविमूढ़ बना देना।

वस्तुत: अरस्तू के इस सिद्धान्त — मन:शान्ति को उनके विरेचन सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में देखना ही उचित होगा। अरस्तू मानते हैं कि 'करुणा एवं त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है'[2]। किन्तु यह विरेचन प्राय: अपूर्ण ही रह जाता है अपितु प्राय: यह मनोविकार मन में विकृति को ही जन्म देते हैं ऐसा कहा जाए तो अनुचित न होगा। इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी इसी दिशा में संकेत करती है[3]। क्योंकि हिंसा एवं वीभत्स दृश्यों के प्रति आकर्षण के परिप्रेक्ष्य में मन:शान्ति की मान्यता अनुचित ही नहीं एक वैमनस्य की द्योतक है।

---

१ डा० गुप्त, पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, पृ० ७२-७३

२ डा० चौधरी एवं गुप्त भाकाचा, पृ० २४८

३ 'यूनानी तथा एलिजाबेथयुगीन त्रासदी का सृजन ऐसे प्रेक्षकों द्वारा हुआ था जो स्वभावत: हिंसात्मक एवं वीभत्स दृश्यों के प्रेमी थे'

डा० विक्रमादित्य राय, काव्य समीक्षा, पृ० २४३

अत: विरेचन का सिद्धान्त नितान्त दोषपूर्ण है और उसके सम्बन्ध में त्रासदी का उद्देश्य, उसका भावात्मक[1] 'मनोविकारों का विरेचन' अथवा 'विरेचक राग द्वारा मानव-स्वभाव को निर्दोष आनन्द प्रदान करना' उचित प्रतीत नहीं होता । जैसाकि हम उत्तम रूपकों में पाते हैं प्राय: नायिकाओं की परिणति यही है कि उनसे वियोग, ग्लानि, तथा पीड़ा और अधिक गहरी हो जाती है, वेदना और उदास हो उठती है । इस दृष्टि से संस्कृत का रसवादी सिद्धान्त अधिक युक्तिसंगत है जहां अभीष्ट की चरमपरिणति तादात्म्य को, निष्ठापूर्वक निभाया और स्वीकारा जाता है । यह कलाकार की 'ईमानदारी' है कि वह जिस उद्देश्य को लेकर चलता है उसे अन्त तक निभाता है । जब संवाद का प्रदर्शन किया जाता है, उस पर इतना बल दिया जाता है तो उसके प्रभाव का विरेचन, उसका शुद्धीकरण उचित प्रतीत नहीं होता । भवभूति करुण रस के लिए राम और सीता की करुणा की योजना करते हैं, भट्टनारायण वीरता-शौर्य और क्रोध की अभिव्यक्ति और वीर तथा रौद्र रस की वर्णना के लिए ही उसका प्रदर्शन करते हैं । हरिश्चन्द्र की ही हैं वहां भी करुणा के लिए ही ऐसा आयोजन किया गया है किन्तु उसे अस्वीकार करते हुए उसे मन:शान्ति से जोड़ना कितना उचित है ? अत: उत्तर-राम-चरितम् में जो करुणा है उसके लिए यह नहीं कहा जा सकता है कि वह एक साधन है वहां तो यही साध्य है, यही अनुभूति सार्थक है ।

अत: विरेचन एक साधन है, साध्य है आनन्द प्राप्ति । डा० नगेन्द्र इसी कारण प्रो० बूचर के भावकला वाली व्याख्या को असंगत सिद्ध करते हुए मानते हैं कि 'विरेचन प्रक्रिया द्वारा प्रेक्षक मन:शान्ति का अनुभव तो करता है किन्तु आनन्द का उपभोग नहीं करता[1]; सत्य तो यह है कि वहां मन:शान्ति का भी प्रश्न नहीं उठता क्योंकि प्रेक्षकों के मनोवेगों अथवा कुण्ठाओं को त्रासदी के माध्यम से उन्मुक्त करके उन्हें मनोग्रन्थि (काम्प्लेक्स) बनने से रोकने की मान्यता अधिक तर्कसंगत नहीं है[2]। हम उत्तम रूपकों में मनोवेगों को- मनोविकारों को उस सीमा तक उठाया जाता रहा है कि उनका विरेचन एक कल्पना अथवा सिद्धान्त तक ही सीमित रह जाता है ।

---

१ देखें : भावकला पृ० २५२ तथा डा० नगेन्द्र, 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' ।

२ वही पृ० २५९

की सम्भाव्यता, उसकी दृश्यसरलता तथा रङ्गीनता का निर्वाह एवं शिष्टानुकूल मनो-वेगों और भावों के प्रदर्शन का निषेध ही इन नाट्यवर्जनाओं के मूल में है। डा० चौधरी एवं डा० गुप्त ने पाश्चात्य काव्यशास्त्री होरेस के अनुसार माना है कि ऐसे दृश्य जिन्हें देखने से जुगुप्सा अथवा अविश्वास का भाव उत्पन्न हो, जिन्हें देखकर दर्शक मदाक्रान्त हो उठें, इन्हें रंगायित नहीं करना चाहिए। किन्तु जिस प्रकार नाटककार भास ने इन वर्जनाओं की उपेक्षा करके वध तथा बालि, दुर्योधन एवं कंस की मंच पर ही मृत्यु की तथा विभिन्न नायक-प्रतिनायकों के मध्य मंच पर ही युद्ध-नियुद्ध की योजना की है उसी प्रकार पाश्चात्य नाटककारों ने ऐसी वर्जनाओं पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। आदर्शों और भावों की दृष्टि से ये वर्जनाएं जितनी सार्थक हैं यथार्थ और स्वाभाविक प्रदर्शन की दृष्टि से वे उतनी ही निरर्थक हैं। तथापि उपर्युक्त कारणों को ध्यान में रखते हुए कुछ वर्जनाएं उचित भी हैं और चूंकि नाटकों के प्रदर्शन के अवसर पर नर-नारी, बाल वृद्ध सभी दर्शक दीर्घा में उपस्थित होते हैं, अत: उनका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। ऐसे ही कुछ कर्मों का निषेध करते हुए होरेस कहते हैं कि (मैडिया द्वारा) अपनी सन्तान की हत्या करना, (पाशीअर्स द्वारा) नर मांस पकाना, (प्रोक्नि तथा काडमस द्वारा क्रमश:) चिड़िया अथवा सर्प बन जाना ऐसे प्रयोग उचित नहीं हैं।[1] ये प्रयोग अविश्वसनीय होने के साथ साथ आदर्शों के भी विपरीत हैं। शेक्सपियर ने स्वयं माना है कि भावकी की अति सीमा नाटक को दूषित कर देती है[2]। अत: किसी सीमा तक यह भी निश्चित है किन्तु इसका कितना परिपालन हुआ है यह रूपकग्रन्थों में देखा जा सकता है। तात्पर्य यह कि एक ओर तो यथार्थ के व्यामोह में पाश्चात्य नाटककारों ने इन वर्जनाओं की उपेक्षा की है तो दूसरी ओर हम पाते हैं कि आदर्शों के अति मोह में नाट्यशास्त्रीय वर्जनाओं ने संस्कृत के अनेकानेक रूपकग्रन्थों का क्षेत्र सीमित कर दिया है। एक ने सीमाएं तोड़ी हैं तो दूसरे ने उनका अन्ध-अनुकरण भी किया है। कला सम्बन्धी दृष्टिभेद से ही यह सब किया है, ऐसा कहा जा सकता है।

---

१ भापाका पृ० २५४, ४१८ तथा डी० के० भाट, 'ट्रेजडी इन संस्कृत ड्रामा, पृ० १२।

२ भापाका पृ० २५४, ४१८ ~~३ भापाका पृ० २५१~~

अर्थात् संगीत द्वारा त्रासदी के अनुरूप वातावरण की सृष्टि को भी त्रासदी के तत्वों के रूप में स्वीकार किया गया है ।

त्रासदी के इन षड्तत्वों को संस्कृत नाट्यशास्त्र की दृष्टि से वस्तु, नेता, रस में सम्मिलित माना जा सकता है । हमें भूलना नहीं चाहिए कि ये सभी तत्व सभी प्रकार के रूपकों की दृष्टि से उपयोगी है ; चाहे वे त्रासमूलक हों अथवा हास्यमूलक, सुखान्त हों अथवा दुखान्त । उपर्युक्त षड्तत्वों में रस परमानन्दसहोदर रस को किसी भी रूप में स्वीकार न करना यह सिद्ध करता है कि मन:शान्ति अथवा आनन्द पाश्चात्य दृष्टि से नाटक अथवा त्रासदी का उद्देश्य नहीं है, साध्य नहीं है । रस तो पाश्चात्य दृष्टि से भाव-प्रकाशन है अथवा एक ऐसी अनुभूति है जो अनुकरण के माध्यम से अभिनीत रूपकों में गौण रूप से उत्पन्न होती देखी जाती है । किन्तु संस्कृत के आचार्यों ने वस्तु एवं नेता के अतिरिक्त नाटक के `आनन्द` को रस के रूप में एक पृथक् तत्व के रूप में स्वीकार किया है। संस्कृत नाटकों के सन्दर्भ में रस की धारणा इतनी व्यापक है कि इसने एक पृथक् रसवादी सम्प्रदाय को ही जन्म दे दिया । त्रासदी और कामदी के लिए पृथक् पृथक् वृत्तविधान पदावली एवं विचारतत्व जैसे तत्वों को संस्कृत में अर्थप्रकृतियों, वृत्ति गुण एवं सन्धियों और सन्ध्यंगों के रूप में नियोजित करने का स्पष्ट विधान है । प्रस्ताव, उत्थान एवं मिलन के रूप में जो कथा का वर्गीकरण संस्कृत साहित्य में है, वह भी कम वैज्ञानिक नहीं है ।

पाश्चात्यनाटकों (त्रासदी) का नायक

चरित्रचित्रण के रूप में जिस तत्व का ऊपर उल्लेख किया गया है उस संदर्भ में त्रासदी के नायक के लिए अरस्तू के उल्लेख महत्वपूर्ण हैं । डा० राय कहते हैं `अरस्तू ने कथानक तथा नायक की सामान्यता पर बल दिया है जिससे दर्शक के लिए साधारणीकरण सम्भव हो सके[1]।` त्रासदी के परिप्रेक्ष्य में नायक का सामान्य होना ही महत्वपूर्ण है ही । संत्रास एवं करुणा को उत्पन्न करने की क्षमता की दृष्टि से नायक का दोषी होना किन्तु अपने दोषों की अपेक्षा अधिक कष्ट पाना भी विशेष ध्यान देने योग्य है । इसके अतिरिक्त अरस्तू यह भी मानते हैं कि `इसमें किसी दुष्ट पात्र के विपत्ति से सम्पत्ति में उत्कर्ष का चित्रण नहीं करना चाहिए

---

१ डा० विक्रमादित्य राय, `काव्य समीक्षा`, पृ० ११८

नाटककार, अभिनेता और उसके प्रस्तोता के अतिरिक्त कहीं किंवा सामाजिक के मन की यह समान अनुभूति ही यदि साधारणीकरण है तो यह संस्कृत रूपकों की रसानुभूति से बहुत दूर है इसमें कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि अरस्तू की भाँति 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' तो संस्कृत परम्परा को भी स्वीकार्य है किन्तु उसका रसाश्रयी होना अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्व है[1]। इतना ही नहीं वस्तु एवं नेता के अतिरिक्त रस भी वह मुख्य तत्व है जो रूपकों में एक अनिवार्य भेदक तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है[2]।

रसवादी विचारधारा से संस्कृत के साहित्यशास्त्र की इतनी पैनी दृष्टि रही है कि साहित्य शास्त्रियों ने अङ्गीरसों के साथ ही गौण रसों की योजना पर भी बल दिया है और उनके सम्बन्ध में व्यापक विचार किया है। नायक-नायिकागत रस की विवेचना के अतिरिक्त उन्होंने रसनिष्पत्ति की दृष्टि से प्रेक्षक को, सामाजिक को रस के संदर्भ में अत्यधिक महत्वपूर्ण कड़ी माना है। इतना ही नहीं प्रस्तुत सन्दर्भ में यह तथ्य और भी महत्वपूर्ण है कि उन्होंने प्रतिनायक और प्रतिनायिका तथा अन्य सहायक भूमिकाओं के सन्दर्भ में भी रसों को रसाभास (अनौचित्यप्रवर्तिता: रसा: रसाभासा:) तथा भावों को भावाभास (अनौचित्यप्रवर्तिता: भावा: भावाभासा:) के रूप में स्वीकार किया है। भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति एवं भावशबलता की योजना भी इस दृष्टि से उपादेय रही है।

संस्कृत-नाटककारों ने इसका उपयोग नायक-नायिका के मनोभावों के सन्दर्भ में ही नहीं किया है अपितु प्रतिनायक एवं अन्य भूमिकाओं के सन्दर्भ में भी किया है। रसाभास एवं भावाभास को तो स्पष्ट रूप से प्रतिनायक के सन्दर्भ में भी निरूपित किया गया है। वस्तुतः संस्कृत साहित्यशास्त्र में प्रतिनायक के पतन, उसके पराभव एवं विनाश से उत्पन्न करुणा, शोक, आदि की विवेचना को भी विशिष्ट

---

१ अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते ।
रूपकं तत्समारोपाद् दशधैव रसाश्रयम् ॥
— द० रू० १।७

२ वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः .....॥ वही १।११

रूप से उठाया गया है[1]। किन्तु पाश्चात्य नाटकों (त्रासदियों) में नायक के पतन से उत्पन्न भावों की अभिव्यक्ति में ही नाटककार की प्रतिभा सीमित होकर रह गयी है दूसरी ओर (अन्य नाट्य विधाओं में) खलनायक के पतन से उत्पन्न भावों का कोई मूल्यांकन नहीं हो पाता है। डा० चौधरी एवं गुप्ते[2] कहते हैं कि बालि, रावण या कंस अथवा रिचर्ड तृतीय जैसे खलनायकों के पतन से उत्पन्न होने वाली भावना के सम्बन्ध में अरस्तू कुछ नहीं कहते। इतना ही नहीं संस्कृत नाट्यशास्त्रीय आचार्यों ने प्रतिनायकों का जो स्वरूप निर्धारित किया है उसकी जो सीमाएं निर्धारित की हैं वैसा कोई विधान पाश्चात्य काव्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं होता[3]।

नाट्य सामान्य के तत्व

त्रासदी के लिए अरस्तू द्वारा स्वीकृत छः तत्वों का परिचय अभी दिया जा चुका है किन्तु नाटकों के लिए भी पृथक् छः तत्वों का निर्धारण किंचित् कुतूहल उत्पन्न करता है। (क) कथावस्तु एवं (ख) चरित्रचित्रण को नाट्य सामान्य तथा त्रासदी दोनों में ही स्वीकार किया गया है। किन्तु नाटक के लिए निर्धारित (ग) कथोपकथन (घ) देश-काल-वातावरण, (ङ) शैली एवं (च) उद्देश्य को त्रासदी में स्वीकार न करना जहां त्रासदी को नाट्य सामान्य से पृथक् करता है वहीं यह विभाजन अधूरा तथा किसी सीमा तक भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। देशकाल वातावरण को यदि त्रासदी की कथावस्तु के सम्भावित-स्वाभाविक व्यापार से मिला दिया जाए और पदावली (Diction) को यदि किसी प्रकार नाटकों के सन्दर्भ में शैली (Style) से अभिन्न मान लिया जाए (जैसाकि वास्तव में है नहीं क्योंकि अरस्तू ने पदावली की पृथक् परिभाषा सम्भवतः इसे शैली से भिन्न मानने के कारण ही दी है, फिर भी इसे नाटक के सन्दर्भ में शैली का पर्याय माना जा सकता है) तो भी कथोपकथन एवं उद्देश्य को त्रासदी के तत्वों में न ग्रहण करना तथा त्रासदी के विचार तत्व, दृश्य विधान एवं गीत-तत्व को नाटकों के तत्वों में सम्मिलित न मानने से नाटक का प्रकार अव्याप्ति दोष से ग्रस्त हो जाता है। क्योंकि त्रासदी के उपर्युक्त तीनों तत्व ऐसे हैं जो निश्चित रूप से पाश्चात्य नाटकों में उपलब्ध होते हैं।

---

१ द्रष्टव्य : ध्वन्यालोक ३।२०, २५ एवं वृत्ति भाग

२ [illegible], पृ० २६८ ३ [illegible], पृ० २२६

अत: नाटकों को त्रासदी के विचारतत्व, दृश्यविधान एवं गीत-तत्व से हीन मानना न तो उचित है और न ही युक्तिसंगत । इसके विपरीत कथोपकथन एवं उद्देश्य तत्व को केवल नाटक के सन्दर्भ में ही स्वीकारना और मन:शान्ति को त्रासदी का उद्देश्य मानते हुए भी त्रासदी के तत्वों में `उद्देश्य` को न गिनना त्रासदी के स्वरूप को अधूरी बना देता है । इतना ही नहीं इस परिप्रेक्ष्य में त्रासदी एक अनाट (कथोपकथन हीन) तथा उद्देश्यहीन नाट्यविधा सिद्ध होती है । वस्तुत: त्रासदी में भी कथोपकथन का अपना महत्व है । वस्तुत: चरित्र-चित्रण एवं विचारतत्व की दृष्टि से उसका महत्व स्वत: सिद्ध है । पदावली जैसे तत्व के लिए भी उसकी उपयोगिता नि:सन्दिग्ध है क्योंकि उसी के माध्यम से `शब्दों` द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति एवं अनुकूल भाषा की योजना जैसे अरस्तू के उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। ऐसा नहीं है कि अरस्तू यह मानते हों कि ये तत्व त्रासदी के लिए आवश्यक नहीं है अपितु उन्होंने किसी विशेष कारण से ही इन्हें त्रासदी के तत्वों में ग्रहण नहीं किया है । कथोपकथन के बिना नाटक की किसी भी विधा की कल्पना नहीं की जा सकती अलग भाषा अथवा बोली और Mono-acting जैसी विधाओं में भी इसका महत्व स्वत: सिद्ध है ।

कथानक का विकास

प्रस्तुत संदर्भ में पाश्चात्य नाटकों की कथावस्तु की योजना अथवा उसके विकास की पांच स्थितियों की विवेचना अनुचित न होगी जो संस्कृतज्ञों के नाटक की पांच कार्यावस्थाओं से भी मिलती जुलती है तथा यदि त्रास एवं करुणा को उत्पन्न कर मन:शान्ति को त्रासदी का मुख्य लक्ष्य मान लिया जाए तो ये अवस्थाएं संस्कृत में कथा के अन्तर्गत किन्तु मुख्य रस की पोषक अथवा रस की दृष्टि से उपादेय अंग-सन्धियों से (जिनका आनुषंगिक रूप कार्य कथा को जोड़ते चलना भी है) पर्याप्त समान है अत: इनका तुलनात्मक अध्ययन निश्चय ही प्रस्तुत प्रसंग में नितान्त उपयोगी है[2]।

---

१ द्रष्टव्य, प्रबन्ध का अध्याय ३

२ —— many of the qualities which we do actually value most highly in all western theatrical masterpieces are found in the Sanskrit works together with some which are at once almost unique achievements and still valuable for our modern world.

पंचावस्थाओं, पंचार्थप्रकृतियों और पंचसन्धियों की विवेचना तृतीय अध्याय में नाट्यसंरचना के प्रसंग में की जा चुकी है । उनके मध्य किस सीमा तक परस्पर सम्बन्ध है यह भी वहां स्पष्ट किया जा चुका है । वहां हम पाते हैं कि संस्कृत साहित्य में नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध कथावस्तु से है, पञ्चसन्धियों और संध्यंगों का सम्बन्ध व्यापार, कथोपकथन एवं रस से है तथा पंच अवस्थाएं नायक के कार्य से सम्बद्ध हैं । यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो कथावस्तु नायक के क्रियाकलापों का ही आलेख होता है विशेषकर ऐसे साहित्य में जहां काव्यों और नाटकों का उद्देश्य, रसनिष्पत्ति के साथ ही शिव से इतर का विनाश है, `सत्यं शिवं सुन्दरं ` की दृष्टि है, आदर्श की स्थापना है ।

<u>कथानक की पांच अवस्थाएं एवं सन्धियां</u>

पाश्चात्य नाटकों में कथावस्तु की भी पांच अवस्थाएं मानी गयी हैं जो हैं ; प्रारम्भिक अवस्था (एक्सपोज़ीशन), संघर्ष का विकास (राइजिंग ऐक्शन), चरमसीमा (क्लाइमेक्स,क्राइसिस), संघर्ष का ह्रास (डिनाउमेन्ट) तथा उपसंहार अथवा परिणति (कनक्लूज़न या कैटास्ट्रॉफी) । पंच सन्धियों के अभिधानों से इनका साम्य अत्यधिक मुखर है क्योंकि यहां मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण अथवा उपसंहृति में कथानक का ऐसा ही विकास देखा जाता है । वस्तुतः अर्थ प्रकृतियों में बीज और बिन्दु में भी इनकी आरम्भिक दोनों अवस्थाओं से किंचित् साम्य प्रतीत होता है । यहीं यह कहना अनुचित न होगा कि पाश्चात्य नाटकों की भांति संस्कृत के रूपकों में (विशेषकर नाटक एवं प्रकरण रूपक भेदों में) संश्लिष्टता को ऐकान्तिक गुण नहीं माना गया है अतएव कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों एवं पंच सन्धियों में आरम्भ बीज और मुख जैसे समान भावों वाले अभिधानों का प्रयोग हुआ है, यत्न बिन्दु एवं प्रतिमुख के मध्य भी ऐसा साम्य लक्षित होता प्रतीत होता है, प्राप्त्याशा, नियताप्ति एवं पताका तथा गर्भ, विमर्श एवं उपसंहृति अथवा निर्वहण के मध्य भी यही साम्य दृष्टिगत होते हैं । समान होते हुए भी इनमें सूक्ष्म भेद है । इस भेद को बनाए रखते हुए तथा इनमें से सन्धियों के नाना अङ्गों की योजना करने के कारण भी संस्कृत के रूपकों का कलेवर बढ़ जाता है और इसी कारण संश्लिष्टता का गुण प्रायः न्यून होता देखा जाता है ।

ऐसी शब्दशक्तियों के माध्यम से नाटककार कथोपकथनों में जो चमत्कार उत्पन्न करता है ; उस चमत्कार के लिए जो क्रिया होती है उसे स्टाइल तथा उसके लिए प्रयुक्त शब्दावली को शिल्प कहा जा सकता है । संस्कृत में आचार्यों ने नाट्य-वृत्तियों का संबंध रूपकों के कथोपकथनों-संवादों में प्रयुक्त भाषा एवं अभिनय से जोड़ा है । भरतमुनि ने एक पूरे अध्याय (नाट्यशास्त्र का बीसवां अध्याय) में इन्हीं वृत्तियों की विवेचना की है और इस परम्परा को दशरूपक में भी निभाया गया है । इनका महत्व संस्कृत नाट्य साहित्य में इस सीमा तक है कि इन्हें 'नाट्यमातर:' कह दिया गया है, नाट्यदर्पणकार कहते हैं :--

भारती सात्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तय: ।
रसभावाभिनयगताश्चतस्रो नाट्यमातर: ॥

-- ना० द० तृतीय विवेक

वस्तुत: संस्कृत के आचार्यों ने स्पष्टतम से उपर्युक्त भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी इन चारों वृत्तियों में से भारती वृत्ति को वाग्व्यापार से जोड़ा है किन्तु यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो इन चारों का ही सम्बन्ध वाक्-रीति की चार प्रकार की क्रियाओं से है । भारती वृत्ति, जहाँ कवि की वाग्व्यापार की अधिष्ठात्री है तो कैशिकी वृत्ति में मृदु मार्दवपूर्ण चेष्टाओं के साथ वाग्व्यापार देखा जाता है । इसी प्रकार वीर रस तथा वीरता की अभिव्यंजना के अवसर पर वीरतापूर्ण वाग्व्यापार एवं चेष्टाएं सात्वतीवृत्ति के, तथा क्रोधपूर्ण भाषण एवं भाव लिए वाग्व्यापार आरभटी वृत्ति के रूप माने जाते रहे हैं ।

अस्तु वृत्तियों के रूप में जिस 'व्यापार' को संस्कृत नाट्यसाहित्य में स्वीकार किया गया है उसमें भाषण भी है और व्यापार भी, उसमें शिल्प और स्टाइल भी है और रचना भी । यहां यह संकेत करना अनुचित न होगा कि जी० के० भाट[1] महोदय ने भरत के 'नाट्य' को मात्र 'दृश्य' मान कर भूल की है क्योंकि यद्यपि भरत ही नहीं सभी आचार्य नाटक को दृश्य काव्य मानते हैं किन्तु नाट्यवस्तु को प्रेक्षक और सामाजिक तक जिस रूप में संप्रेषित किया जाए उसकी उपेक्षा किसी ने नहीं की है और इसी कारण वृत्तियों के रूप में वाग्व्यापार पर पर्याप्त बल दिया गया है ।

---

१ देखिए दि संस्कृत ड्रामा, पृ० १७

जूलियस सीजर में पग पग पर हत्या आत्महत्या का प्रदर्शन, कथानक की सरलता, कथात्मकता, अभिनय की सरलता और संक्षिप्तता ऐसे गुण हैं जिन पर उसकी अपनी परम्परा का प्रभाव है । पर इन सबके होते हुए भी इनमें ऐसी अनेक समानताएं हैं जिनके जिनके आधार पर प्रस्तुत संदर्भ में इन दोनों की संक्षिप्त विवेचना उपादेय है ।

<u>कथावस्तु</u>

दोनों ही नाटकों की कथा का सम्बन्ध राजनीति से है, कथा से ही कथा की अस्थिरता है, स्थिरता से है । एक का केन्द्र पाटलिपुत्र है तो दूसरे का केन्द्र रोम ही है । एक का सम्बन्ध पूर्वतर भारत से है तो दूसरे का सम्बन्ध रोमन साम्राज्य से है । एक ओर महानन्द की हत्या हुई है तो दूसरी ओर सीजर की । मुद्राराक्षस और जूलियस सीजर इन दोनों नाटकों का अभिधान साम्य भी कम आश्चर्यजनक नहीं है । जैसे पाश्चात्य नाटकों में ओथेलो, मैकबेथ, किंगलियर, हैमलेट, रिचर्ड द्वितीय एवं तृतीय, हेनरी चतुर्थ में भी ऐसी ही व्यंजना है किन्तु मुद्राराक्षस यह रूपक संस्कृत में अपनी तरह का अनोखा रूपक है । ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि जूलियस सीजर का नामकरण उसके नायक के नाम पर है किन्तु मुद्राराक्षस का नामकरण उसके प्रतिनायक के नाम पर है । यह तथ्य उस समय और भी महत्वपूर्ण हो उठता है जबकि हम पाते हैं कि संस्कृत में प्रतिनायक का स्वरूप, उसके कर्म और तदनुरूप उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा ऐसी नहीं होती कि उसे इतना सम्मान दिया जाए । पाश्चात्य परम्परा में नाटकों के नायक के साथ महान् त्रुटि का जो गुण है उस दृष्टि से यहाँ राक्षस की मुद्रा का जो महत्व है उसे ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है ।

जैसा कि कहा जा चुका है मुद्राराक्षस का कथानक जटिल है । किन्तु जूलियस सीजर की कथावस्तु ऐसी नहीं है इसी कारण मुद्राराक्षस की अपेक्षा जूलियस सीजर का अभिनय भी सरल है । पात्रों की बहुलता दोनों ही नाटकों में है और यह उनकी कथावस्तु के अनुरूप ही है । कथा का क्षेत्र भी दोनों में पर्याप्त व्यापक है । मुद्राराक्षस में भी मुख्य कथा राजधानी पाटलिपुत्र में ही घटित होती है, जूलियस सीजर में भी ऐसा ही है । प्रतिनायक राक्षस और सहनायक ब्रूटस तथा कैसियस समान समान परिस्थितियों के कारण ही निर्वासित जीवन व्यतीत करने को विवश होते हैं और

दोनों ही स्थलों पर वहीं उनका दैन्य संभव भी होता है । संस्कृत नाटकों में मुख्य घटना को छोटी-छोटी घटनाओं से जोड़ने की प्रवृत्ति मौलिक है तो पाश्चात्य रूपकों में देश काल के साथ ही घटना की अन्विति-रक्षा उसकी मौलिकता है । मुद्राराक्षस में चन्दनदास को बन्दी बनाने की घटना जिस प्रकार प्रतिनायक राक्षस को उद्वेलित कर देती है उसी प्रकार जूलियस सीज़र में सीज़र द्वारा पब्लियस सिम्बर के लिए निवेदन का आदेश अवमानक ब्रूटस तथा कैसियस और उनके अन्य सहयोगियों को उद्वेलित करता है ।

प्रतिनायकों के अन्त पक्ष की योजना भी दोनों स्थलों पर समान रूप से मिलती है और यह और भी महत्वपूर्ण है कि यह पक्ष दोनों ही नाटकों में कथा के विकास की चतुर्थ अवस्था जिसे सन्धि अथवा नियताप्ति की अवस्था और क्लाइमैक्स की स्थिति में आयोजित किया गया है । इसके माध्यम से क्रमशः मलयकेतु तथा कैसियस की चारित्रिक दुर्बलताओं और राक्षस तथा ब्रूटस की चारित्रिक महानताओं को उभारा गया है । पाश्चात्य नाटक तो भाग्यवादी होते ही हैं किन्तु मुद्राराक्षस का राक्षस भी अत्यन्त भाग्यवादी है । ऐसी ही अन्य अनेक छोटी और बड़ी समानताएं खोजी जा सकती हैं जो कि वस्तुतः दोनों ही साहित्य में, नाटककार के समान स्थितियों में, समान विचारधारा और समान रचना प्रक्रिया की ही नहीं तो द्योतक हैं ही, नाटककार और साहित्यकार की सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता की भी सूचक हैं ।

चरित्र योजना

पात्रों की योजना की दृष्टि से महानन्द और सीज़र, एण्टोनी और चाणक्य के अतिरिक्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण समानताएं राक्षस और ब्रूटस में देखी जाती हैं । कैसियस की भूमिका नितान्त अछूती है किन्तु दोनों ही नाटकों के उत्तरार्ध में क्रमशः मलयकेतु और कैसियस के चरित्र की योजना में पर्याप्त समानता है । भागुरायण, सिद्धार्थक, शकटदास, जीवसिद्धि, विराधगुप्त जैसी छोटी-छोटी किन्तु सार्थक भूमिकाओं की योजना मुद्राराक्षस की मौलिक विशेषताएं हैं[1]। और इधर कास्का, सिम्बर, सिन्ना प्रभृति भूमिकाएं भी भिन्न-भिन्न दृष्टि से उपादेय हैं ।

---

१ सं० ना० पृ० २८०

पाश्चात्य नाटकों में प्राय: नायक को खलनायक के हाथों मरते हुए दिखाया जाता है किन्तु जूलियस सीज़र में नायक सीज़र खलनायक ब्रूटस उसका मुख्य सहायक कैशस और उसके अन्य सहायक सभी मरते हैं। किन्तु मुद्राराक्षस में इसका वैषम्य, नायक प्रतिनायक सभी का जीवित रहना कम आश्चर्यजनक नहीं है।

राक्षस और ब्रूटस दोनों ही महावीर हैं, पराक्रमी योद्धा हैं। मुद्राराक्षस के नायक चाणक्य में बुद्धितत्व की, कुटिलता की प्रधानता है किन्तु शौर्य, पराक्रम और शक्ति का अभाव है। जूलियस सीज़र में हम देखते हैं नायक सीज़र की मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी एण्टोनी में उसके वाक् चातुर्य में, बुद्धि का प्राधान्य है और उसी के बल पर वह उसी मंच से जनता को विद्रोह के लिए उत्तेजित करने में, ब्रूटस के ही विरुद्ध भड़काने में सफलता प्राप्त करता है। एण्टोनी भी ब्रूटस से, उसकी लोकप्रियता से और उसकी शक्ति से, उसी प्रकार भयभीत है जिस प्रकार राक्षस से चाणक्य भयभीत दिखाई देता है।

मुद्राराक्षस में राक्षस का चरित्र बतलाता है कि वह स्वभाव से उदार है, सेवकों और अनुचरों के प्रति अति दयालु है और मित्रों के लिए वह सर्वस्व त्याग करने को तत्पर है। अपने परिवार, पत्नी और बच्चों के लिए उसमें अगाध प्रेम है। ब्रूटस में भी पोर्शिया के लिए उतना ही प्रेम है जितना राक्षस में। युद्ध-शिविर में लूशियस, वारो और क्लाडियस के साथ ब्रूटस का व्यवहार अपने कंचुकी, प्रियंवदक, विराधगुप्त, सिद्धार्थक और करभक के साथ अमात्य राक्षस के व्यवहार का स्मरण करा देता है। पोर्शिया की मृत्यु का समाचार पाकर वह भी चन्दनदास के बन्दी होने का समाचार जानकर, अपने परिवार तथा चन्दनदास पर आने वाली विपत्ति से विचलित राक्षस की भांति क्षण भर को विचलित हो उठता है। यहीं हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह भी राक्षस की भांति देशभक्त, उदार और उदात्त है, बुद्धितत्व की अपेक्षा राक्षस की भांति उसमें भी भावुकता की प्रधानता है। वह भी भावुक है। इसी कारण वह कैशस के भड़काने से, देशप्रेम और न्याय की दुहाई देने से, वह शीघ्र ही सीज़र के विरुद्ध षड्यन्त्र में भागीदार बन जाता है। वह राक्षस की भांति ही निष्ठावान, सत्यवान और दृढ़ प्रतिज्ञ है[1], चतुर्थ अंक के तृतीय दृश्य में उसकी

---

1 BRUTUS There is no terror, Cassius, in your threats;
For I am arm'd so strong in honesty,
That they pass by me as the idle wind, Which I respect not.
JC Act IV SC 3

ऐसी भावना की अभिव्यक्ति द्वारा वर्णनीय है । अतएव यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि 'ब्रूटस का अन्तर्द्वन्द्व ऐसी कुशलता से चित्रित है कि उसे देखकर घृणा नहीं होती किन्तु वेदना से हमारा हृदय व्याकुल हो उठता है[1] ।'

राक्षस और ब्रूटस दोनों ही ऐसे देशभक्त हैं जिन्हें देशद्रोही मान लिया जाता है, दोनों ही आदर्श जीवन उच्च विचार में विश्वास करते हैं । अनेक हत्याएं करके भी यदि चाणक्य नायक है, आदर्श चरित्र है, अनुकरणीय है तो राक्षस भी उतना ही श्लाघ्य है और ब्रूटस भी उतना ही स्तुत्य है । राक्षस का आत्म-समर्पण उसके त्याग को, मैत्री के लिए समर्पित उसके व्यक्तित्व को, और भी महान् बना देता है । इसी प्रकार ब्रूटस भी मृत्यु का वरण करते हुए अन्त में पुनः सीज़र का स्मरण करते हुए, उसके प्रति फिर एक अपने पाप के लिए प्रायश्चित्त की भावना से भर उठता है । वह कहता है 'ओ सीज़र । अब शान्त हो जा । जितनी इच्छा से मैं अपने को मार रहा हूं, तुझे मारने की मुझे उससे आधी भी इच्छा न थी[2] ।' राक्षस के आत्महत्या के प्रयास और ब्रूटस की आत्महत्या में भी इस प्रकार एक समानता है । एक आत्मसमर्पण की विवशता को लेकर जितनी वेदना को जन्म देता है दूसरा आत्म-हत्या करके भी, प्रायश्चित्त के माध्यम से उतनी ही वेदना को उत्पन्न करता देखा जाता है । ब्रूटस का उतना सही मूल्यांकन कोई और नहीं कर सकता जितना उसका प्रतिद्वन्द्वी एण्टोनी करता है जो मानता है कि ब्रूटस ही वह अकेला रोम निवासी था जो इन विद्रोहियों से केवल इसलिए आ मिला था क्योंकि वह यह मानता था कि

---

१ डा० रांगेय राघव, कुटी भूमिका, तुलना करें ; 'इसमें (राक्षस में) बुद्धितत्त्व की न्यूनता होने पर भी हृदयतत्त्व की प्रचुरता है । इसलिए वह पाठकों के हृदय को बरबस अपनी ओर खींचता है । उसके लिए हमें सम्मान है तथा प्रेम है ।'
डा० उपाध्याय संस्कृ० पृ० ५३६ तथा डा० सिंह, मुद्राराक्षस-समालोचना पृ० २८

२ कुटी, डा० रांगेयराघव अंक ५, दृश्य ५

हदी में राष्ट्र का हित था[१]।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि दो भिन्न संस्कृतियों में लिखे गए इन दोनों रूपकों की कथावस्तु और प्रतिनायकों में पर्याप्त समानता है और यह समानता इस सीमा तक है कि न तो राक्षस को प्रतिनायक मानने के लिए अन्तरात्मा तैयार होती है और न ही ब्रूटस को खलनायक मानने की इच्छा होती है। यह सत्य भी है। यदि प्रतिनायक और खलनायक की कसौटी पर दोनों का मूल्यांकन किया जाए तो दोनों कहीं भी पाप की रेखा का स्पर्श नहीं करते हैं।

<u>चाणक्य और कैसस</u>

यदि राजनीतिक हत्याएं पाप की श्रेणी में हैं, यह महत्त्वाकांक्षा के लिए जनता को फुसलाना पाप है, यदि व्यक्तिगत स्वतंत्रता और देश की रक्षा के लिए लड़ना अनुचित है और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना अनुचित है तो दोनों ही नाटकों के नायक अपने प्रतिद्वन्द्वियों की अपेक्षा अधिक पापकर्मा हैं। इधर राक्षस एक चन्द्रगुप्त की हत्या करना चाहता है किन्तु कर नहीं पाता है। उधर चाणक्य इस कर्म में निपुण सभी दुष्कर्मों को मरवा डालता है यहाँ तक कि पर्वतक और वैरोचक को मरवाकर उनका पाप राक्षस के सिर पर मढ़ देता है। इतना ही नहीं मलयकेतु और राक्षस के मध्य कलह उत्पन्न करके अपने सहायक भागुरायण की

---

१ ANTONY

This was the noblest Roman of them all :
All the conspirators, save only he,
Did that they did in envy of great Caesar;
He only, in a general honest thought
And common good to all, made one of them.
His life was gentle, and the elements
So mix'd in him that Nature might stand up
And say to all the world " This was a man ! "

JC Act V SC 5
(Last but one stanza)

- Four Great Tragedies with introduction by Mark Van Doren, Jaico Publishing House, Calcutta, Bombay

उकसाता है वह मलयकेतु को, राक्षस के पांच अन्य म्लेच्छ राजाओं को भी मरवा डालता है। जितने चाणक्य के सिर पर जितनी हत्याओं का आरोप है राक्षस और ब्रूटस दोनों ने मिलाकर उतनी हत्याएं जीवन भर में न की होंगी। इसके विरुद्ध राक्षस पर लगाए गए सभी आरोप मिथ्या हैं। उसका दोष एक ही है कि वह महानन्द का भक्त और चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य का विरोधी है। इसी प्रकार सीज़र महत्वाकांक्षी है, व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विरोधी है, उस पर मेरुलस और फ्लेवियस के अधिकारों और भाषण की स्वतंत्रता समाप्त करने का आरोप है, पब्लियस सिम्बर को निर्वासित करने का अभियोग है। फिर भी ब्रूटस कहता है कि 'मेरे मुझे तो और कोई व्यक्तिगत कारण नहीं दिखाई देता कि मैं उससे (सीज़र से) घृणा करूं[1]।' इतना ही नहीं कैसियस द्वारा सीज़र के साथ ही एन्टोनी की भी हत्या करने का विरोध करते हुए वह कहता है 'हम तो हमारा कार्य बहुत ही खूनी दिखाई पड़ेगा कैसियस। हमें एक पवित्र कार्य के लिए बलि देनी है, न कि हमें वधिक बनना है कैसियस। हम सभी सीज़र की भावनाओं के विरुद्ध खड़े हुए हैं, मनुष्यों की आत्मा में हत्या की भावना नहीं है। कितना अच्छा होता यदि हम सीज़र की भावना पर विजय प्राप्त करते और हत्या करने की हमें आवश्यकता ही नहीं पड़ती[2]।'

ब्रूटस की इस भावना की तुलना में सीज़र का व्यवहार और उसके सीनेट के सदस्यों और मित्रों के तिरस्कार को देखें। जब वह मेटेलस की प्रार्थना पर उसके भाई पब्लियस सिम्बर के निर्वासन के आदेशों को वापस लेने से इन्कार कर देता है, वह कहता है 'तुम्हारे भाई का निर्वासन नियमों के अनुकूल हुआ है। यदि तुम उसके लिए झुकते हो, प्रार्थना करते हो, चापलूसी पर उतरते हो तो मैं तुम्हें एक कुत्ते की भांति पथ से हटा दूंगा[3]।' इस प्रकार हम देखते हैं कि चाणक्य और जूलियस सीज़र, राक्षस और ब्रूटस की अपेक्षा अधिक क्रूर हैं फिर भी वे नायक हैं, क्योंकि परम्पराएं ऐसा ही मानती हैं। पाश्चात्य त्रासदी की महान् विशेषता, जो कि नायक के चरित्र में अनिवार्य है; वह है महान् त्रुटि। सीज़र में भी यह त्रुटि है और ब्रूटस में भी उसकी योजना हुई है। प्रतिनायक राक्षस में भी ऐसी न्यूनताएं हैं, उसके कार्यों में भी अनेक त्रुटियों की

---

१ जूली अंक २, दृश्य १ २ जूली अंक २, दृश्य १

३ जूली अंक ३, दृश्य १

<u>चाणक्य एवं कैसस</u>

तीक्ष्ण बुद्धि, अदम्य-साहस, महत्त्वाकांक्षा, कूटनीति, क्रूरता और राजनीतिक हत्याओं में विश्वास के कारण कैसस किसी सीमा तक चाणक्य की समानता करता है किन्तु एक नायक है दूसरा खलनायक । चाणक्य के समक्ष एक सुदृढ़ साम्राज्य की स्थापना का आदर्श है।लगभग ऐसा ही आदर्श कैसस के समक्ष भी है किन्तु दोनों के चरित्र की तुलना यदि गम्भीरता पूर्वक की जाए तो कैसस की कूटनीति की भित्ति बालू की ढेरी पर बनी हुई प्रतीत होती है जबकि चाणक्य महान् कूटनीतिज्ञ ही नहीं दूरदर्शी किंवा निष्कामकर्मी चरित्र है । उसकी दूरदर्शिता के फल के रूप में राक्षस जैसा आमात्य मिलता है और कैसस को अपनी अदूरदर्शिता के कारण ही आत्म-हत्या करनी पड़ती है । एक का चिन्तन सकारात्मक है दूसरे का नकारात्मक । इसी दोष के कारण कैसस की तुलना <u>राक्षस</u> से भी नहीं की जा सकती । कैसस की अपेक्षा ब्रूटस मन्दबुद्धि है किन्तु उसका उद्देश्य स्पष्ट है उसमें दुराव-छिपाव नहीं है । इसी कारण उसकी तुलना राक्षस से की जा सकी है ।

<u>चाणक्य और ऐण्टोनी</u>

अपनी निष्ठा, भक्ति, शौर्य और पराक्रम तथा दूरदृष्टि के कारण उसमें (ऐण्टोनी में) नायकोचित सभी गुण मिल जाते हैं । आक्टेवियस की अपेक्षा यही सीजर का वास्तविक उत्तराधिकारी है (यद्यपि नाटक में तीन उत्तराधिकारी माने गए हैं) । राक्षस के प्रभाव को जनता से उखाड़ फेंकने के लिए चाणक्य को जितना श्रम करना पड़ता है यद्यपि उतना श्रम ऐण्टोनी को नहीं करना पड़ता तो भी अपनी वाग्विदग्धता से वह ब्रूटस और कैसस के प्रभाव को नष्ट करने में सफल होता है । जनता में ब्रूटस और कैसस का प्रभाव महानन्द और राक्षस के प्रभाव की भांति उतना गहरा नहीं है क्योंकि महान् ऐण्टोनी उन्हें इतना समय ही नहीं देता । दूसरी ओर महानन्द का लोकप्रिय शासन और स्वयं राक्षस की उदारता, उसका पराक्रम पाटलिपुत्र की जनता में बहुत गहरा बैठ चुका था । अतएव चाणक्य के चरित्र की गम्भीरता और उसकी कूटनीति की जटिलता से ऐण्टोनी की तुलना नहीं की जा सकती तथापि दोनों ही अपने-अपने ढंग से अपने-अपने विरोधियों के प्रभाव को नष्ट करने का प्रयास करते हैं और इसमें सफल होते हैं । ऐण्टोनी को चाणक्य की भांति यद्यपि कोई व्यूहरचना नहीं करनी पड़ती फिर भी एक नाटक तो रचना ही पड़ता है । चाणक्य जैसी

विकटत्मता की अपेक्षा अपनी बात को गम्भीरता पूर्वक प्रस्तुत करते हुए ऐण्टोनी में राक्षस के भी अनेक गुणों का आभास होता है। वह निश्चय ही सरल पुरुष है फिर भी राक्षस की भांति अपना प्रभाव छोड़ता है। सीजर की मृत्यु के उपरान्त शेष नाटक पर उसका प्रभाव उसे नायक बना देता है।

रस और विचार तत्व

राजनीति पर आधारित होने के कारण दोनों ही नाटकों में कूटनीति की प्रधानता है और इसी कारण इनमें विचार तत्व की प्रधानता स्वाभाविक-रूपेण विद्यमान् है। मुद्राराक्षस एक ऐसी कृति है जिसमें रस की चर्चा का अधिक औचित्य नहीं है। न तो नाटककार ने ऐसा प्रयास किया है और न ही ऐसा सिद्ध किया जा सकता है। यही कारण है कि मुद्राराक्षस और जूलियस सीजर में समानता की सीमाएं अनन्त हैं। दोनों में ही अभिनय का क्षेत्र नितान्त व्यापक है। मुद्रा-राक्षस की कथावस्तु जूलियस सीजर की अपेक्षा अधिक जटिल है किन्तु अभिनय का क्षेत्र निःसीम है। दोनों ही नाटकों में पदों-पदांशों में अर्थ की गुरुता है। मुद्राराक्षस के नाटककार ने ऐसी पदावली और वाक्यों की योजना की है जो नाटककार के शब्द सामर्थ्य के परिचायक हैं। जूलियस सीजर में भी यह गुण उस सीमा का स्पर्श करता है। दोनों ही नाटकों में अपने-अपने नाट्यशास्त्रीय नियमों का पालन करते हुए भी उनका अन्धानुकरण करने के लिए कोई आग्रह नहीं है।

शेक्सपियर ने एक्सपोजीशन, राइजिंग एक्शन, क्लाइमैक्स, डिनाउमेन्ट तथा कैटास्ट्राफी को यथा स्थान नियोजित किया है। उसके पांचों अंकों में इन पांचों अवस्थाओं के अनुरूप ही कथा का विकास हुआ है, फिर भी कहीं कृत्रिमता नहीं है। ठीक इसी प्रकार मुद्राराक्षस में भी पञ्चसन्धियों अर्थ-प्रकृतियों और पञ्चकार्यावस्थाओं की योजना की गयी है। भाव तत्व की अपेक्षा विचार तत्व की प्रधानता के माध्यम से नाटककार विशाखदत्त ने राक्षस और चाणक्य दोनों ही महान् नायकों के अन्तर्द्वन्द्व को प्रमुखता प्रदान की है। जूलियस सीजर की भांति सरल और संश्लिष्ट न होते हुए भी छोटे-छोटे पात्रों के माध्यम से भी मुख्य उद्देश्य में सहायता ली गयी है।

अरस्तू ने माना है कि दुखान्त नाटक के नायक की त्रुटि त्रासदी के मूल में निहित होती है। नायक के सम्बन्ध में भी अरस्तू ने माना है कि वह प्रसिद्ध तो हो किन्तु वह पूर्ण निर्दोष न हो जिससे कि प्रेक्षक को उसकी त्रुटियों के आधार पर तादात्म्य स्थापित करना कठिन न हो। यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो मुद्राराक्षस में भी नायक प्रतिनायक दोनों का ही चरित्र असामान्य नहीं होने पाया है। यद्यपि यह सत्य है कि नाट्य-वर्जनाओं के कारण युद्ध और संघर्ष को मुद्राराक्षस में मंच पर प्रस्तुत नहीं किया गया है, यह परम्परा की दृष्टि से उपयुक्त है और इसे दोष अथवा अभाव नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जूलियस सीज़र में एक ही दृश्य में एक के बाद एक व्यक्ति मंच पर मर मर कर गिरता है किन्तु यह पाश्चात्य सन्दर्भ में नाटक का गुण है दोष नहीं। इस परम्परागत वैषम्य के होने पर भी उनमें गति है। संक्षिप्त होने पर जूलियस सीज़र में एकत्व है। कथानक के जटिल और विस्तृत होने पर भी मुद्राराक्षस में गति है। जूलियस सीज़र की अपेक्षा मुद्राराक्षस कुछ गम्भीर है तथापि दोनों ही नाटकों की कथावस्तु, चरित्र-चित्रण और विचार-तत्व द्वन्द्व और संघर्ष यथार्थ और मौलिक हैं।

इस प्रसंग को समाप्त करने के पूर्व नाट्यशिल्प की उस अद्भुत समानता को न छिपाना अनुचित होगा जहां दोनों ही नाटककार अपने-अपने पात्रों के माध्यम से नाट्य संरचना के तत्वों का उल्लेख करते देखे जाते हैं। मुद्राराक्षस में राक्षस कहता है कि किसी नाटककार की भांति ही राजनीतिज्ञ को भी कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और सन्धियों की योजना की भांति कूटनीति के तन्तुओं को फैलाना और बटोरना पड़ता है[1]। उपर्युक्त कथन में नाटककार की जो आत्मप्रशंसा अथवा आत्म-श्लेष की अभिव्यक्ति है वैसी ही प्रशंसा जूलियस सीज़र के तीसरे अंक में कैसियस और ब्रूटस के कथनों में है जहां वे सीज़र की हत्या के दृश्य के अभिनय को अज्ञात देशों और भाषाओं में बार-बार अभिनीत होने के तथ्य का उद्घाटन करते हैं। इतना ही नहीं एक

----

१ कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च ।
कुर्वन् बुद्ध्या विमर्शं प्रसृतमपि, पुनः संहरन् कार्यजातं
कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा ।
-- मुद्रा० ४।३

अन्य स्थल पर कथानक के तीन अंगों (महान त्रुटि, स्थिति विपर्यय, तथा अभिज्ञान) में से महान् त्रुटि की नाटकीयता का भी उल्लेख करते हुए शेक्सपियर मेसाला के मुख से कहता है, "वेदना की सन्तान, ओ महान् त्रुटि। तू क्यों मनुष्यों को वही दिखाती है जोकि उनमें होता नहीं। ओ त्रुटि। जन्म से अन्त तक तू कभी सुखी जीवन नहीं व्यतीत करने देती। तू तो अपनी जन्मदात्री मां को भी नष्ट कर देती है[1]।" मुद्राराक्षस के उपर्युक्त कथन में और जूलियस सीज़र के इस कथन में जिस नाट्यतत्वों और उनकी परिणति का चित्र प्रस्तुत किया गया है वह अप्रत्याशित रूप से महत्वपूर्ण है।

जूलियस सीज़र का नायक चाहे सीज़र को माना जाए अथवा ऐन्टोनी को उसमें प्रतिद्वन्द्वी की भूमिका में कैस कैसस का खलनायकत्व और ब्रूटस का प्रतिनायकत्व सुस्पष्ट है। ब्रूटस का स्वरूप खलनायक की अपेक्षा संस्कृत के प्रतिनायक के अधिक समीप है। प्रतिनायक का यदि उद्धत, धीर और क्रूर होते हुए भी जिस प्रकार खलनायकत्व नहीं ग्रहण कर पाता था संस्कृत के नाटकों में रावण को छोड़कर अन्य प्रतिनायकों को जिस प्रकार उनके चारित्रिक गुणों के परिप्रेक्ष्य में प्रतिनायक ही माना जाता है, भले ही वे कितने भी क्रूर क्यों न हों और उनपर हत्याओं के कितने ही आरोप क्यों न हों। माल्यवान् और राक्षस भी ऐसे ही पात्र हैं क्योंकि कभी अपने मुख्य प्रतिद्वन्द्वी नायक के गुणों के प्रशंसक हैं। उनके समक्ष प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वे आत्मसमर्पण करके अपने को खलनायक होने से बचा ही लेते हैं। ब्रूटस भी ऐसा ही व्यक्ति है, कितना ही क्रूर वह क्यों न हो उसकी मानवीयता, पीड़ा, और करुणा महान् है। सबसे बड़ी बात सीज़र की महानता को वह बार-बार स्वीकारता है और अन्त में उसकी महानता के समक्ष, आत्मसमर्पण की भावना से भी वह आप्लावित है।

मैकबेथ

कथानक की दृष्टि से शेक्सपियर के जूलियस सीज़र की अपेक्षा मैकबेथ अधिक जटिल है। इस जटिलता का स्पष्ट प्रभाव उसके चरित्रों पर भी पड़ा है। जैसाकि पाश्चात्य आलोचकों ने ही नहीं सभी ने माना है उसका नायक मैकबेथ है और

---

१ वही अंक ५ दृश्य ३

अपनी महान् त्रुटियों के कारण ही वह महान् होते हुए भी पराभूत होता है । उसके गुणों में केवल उसका पराक्रमी होना ही ऐसा एक गुण है जो नाटककार उभार सका है वैसे उसके चरित्र में अन्तर्द्वन्द्व के स्थलों पर कहीं-कहीं उसकी मानवीयता , सज्जनता अथवा सहृदयता के भी दर्शन होते हैं । किन्तु वह क्षणिक भावों की भांति ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि लेडी मैकबेथ उसे उस सीमा तक प्रभावित और उत्तेजित कर चुकी है, पाप की ओर इतना आगे तक धकेल देती है कि वह चाहते हुए भी वहां से लौट नहीं सकता और फिर हम देखते हैं कि डाइनों के कारण ; कुछ महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति होने पर और आगे पूर्ण होने की आशा से,वह स्वयं उस सीमा से लौटना भी नहीं चाहता । उसके ऐसे चरित्र का ही सम्पूर्ण नाटक में प्रभुत्व है । अतः पाश्चात्य दृष्टि से वह इस त्रासदी का एक पूर्णनायक है । भले ही चाहे वह खल हो, दुष्ट हो ।

उसे नायक मान लेने पर उसकी विरोधी भूमिकाएं स्वाभाविक रूप से नायकविरोधी अर्थात् प्रतिनायक हो जाती हैं । यदि संस्कृत नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो वह सारी नायक विरोधी भूमिकाएं, बैंको, मैकडफ, मैल्कम आदि नायक विरोधी हैं किन्तु प्रतिनायक का एक भी गुण उनमें नहीं देखा जाता । मैकडफ को, किसी सीमा तक मैल्कम को भी, मैकबथ से लड़ने और उसे पदच्युत करने के लिए उत्तेजित करने के कारण तथा आततायी मैकबेथ को युद्ध में मार गिराने के कारण प्रतिद्वन्द्वी भले ही मान लिया जाए किन्तु उसे खलनायक नहीं माना जा सकता है ।

---

१ (a) MACBETH

He (Duncan) is here in double trust
First, as I am his kinsman and his subject;
Strong both against the deed; then as his host,
Who should against his murderer shut the door,
Not bear the knife myself.

Mac Act 1 SC 7, page 365
— Four Great Tragedies.

(b) MACBETH

We will proceed no further, in this business :
He hath honor'd me of late; and I hope brought
Golden opinions from all sorts of people,.....
Which would be worn now in their newest gloss,
Not cast aside soon.

Mac Act 1 SC 7, page 366
(FGT)

(c) MACBETH

Wake Duncan with thy knocking! I would thou could'st

Mac Act II SC 2, page 372
(FGT)

मैकबेथ का खलनायकत्व

यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि मैकबेथ अपने पूर्ण आयाम में स्वयं एक खलनायक है, अर्थात् एक ऐसा नायक जो खल है दुष्ट है । आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार खलनायक (विलेन) वह है, 'हूज इविल मोटिव्स एण्ड ऐक्शन्स आर इम्पारटेन्ट एलीमेन्ट आफ प्लाट' अर्थात् उद्देश्यों की अपावनता, कर्मों की दुष्टता और किसी नाटक के कथानक में उसकी प्रधानता खलनायक की कसौटी है । अत: पाश्चात्य दृष्टि से किसी नाटक का मुख्य नायक भी खलनायक हो सकता है । अत: मैकबेथ को ही एक खलनायक मान लेने में कोई अनौचित्य नहीं है ।

ऐसे अमानवीय, क्रूर और अत्याचारी नायक के पतन को ही, यदि किसी नाटक का उद्देश्य मान लिया जाता है तो स्वाभाविक रूप से ऐसे खलनायक की विरोधी भूमिकाएं संस्कृत-नाट्य दृष्टि से नायकत्व ग्रहण कर लेती हैं । जैसाकि हम 'प्रतिनायकों के शास्त्रीय स्वरूप'[1] में देखते हैं, संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने 'नायक' शब्द को नाटक में प्रयुक्त नायक, प्रतिनायक प्रभृति सभी मुख्य पुरुष-भूमिकाओं के सन्दर्भ में ग्रहण किया है । खलनायक को नायक मानने की यह पाश्चात्य दृष्टि भारतीय भावना को अवश्य आघात पहुंचाते हुए भी अप्रत्याशित नहीं है । किन्तु हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि मैकबेथ का यह नायकत्व खलनायकत्व तक ही सीमित है । उसे कहीं भी उस स्तर पर नहीं पहुंचाया जा सका है जहां 'ऊरुभङ्गम्' का नायक दुर्योधन अथवा 'कर्णभारम्' का नायक कर्ण दिखाई देता है । यह पाश्चात्य नाट्यविधा अथवा चिन्तन प्रणाली का दोष नहीं मौलिक वैशिष्ट्य है जो दुष्ट को तो खलनायक मानती ही है, मैकबेथ को भी एक नायक किन्तु खल मानती है ।

'मैकबेथ' की कथावस्तु और उसके चरित्रों की जटिलता और वैषम्य के कारण इस विषय पर पर्याप्त विवेचना हो सकती है और इसका तुलनात्मक अध्ययन आधुनिक नाट्यकर्मियों की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय सिद्ध हो सकता है किन्तु प्रस्तुत प्रबंध में उसका इतना अधिक विस्तार अभीष्ट नहीं है । यहां इस सन्दर्भ में

---

१ द्रष्टव्य : प्रबन्ध का दूसरा अध्याय

इतना कहना ही पर्याप्त है कि अपने सम्पूर्ण आयाम में वह एक ऐसी भूमिका है जो 'प्रेतात्मों की हीन ग्रन्थि (काम्प्लेक्स) को खोलने में ' भले ही समर्थ न हो किन्तु उसके मन को विशुद्ध अवस्था में नहीं छोड़ती । मैकबेथ का पतन निश्चय ही मन:-शान्ति की सिद्धि करता है । अत: यह नाटक , त्रासदी होते हुए भी मन को सुख देता है ।

<u>खलनायिका : लेडी मैकबेथ</u>

मैकबेथ के पतन और उस पतन के मूल में निहित लेडी मैकबेथ की महत्वाकांक्षा भी मैकबेथ की महान् त्रुटि मानी जा सकती है । लेडी मैकबेथ को इसी कारण खलनायिका के रूप में भी देखा जा सकता है । जो मैकबेथ जैसे पराक्रमी, वीर-धीर पुरुष को, उसकी कर्म भीरुता और कायरता को, धिक्कार धिक्कार कर उसे क्रूर बना देती है और उसे कांपते हुए हाथों से डंकन की हत्या के लिए बाध्य कर देती है। इस प्रकार उसे पापोन्मुख बनाकर वह बैंको की हत्या के लिए उसे प्रत्यक्षत: तो प्रेरित नहीं करती किन्तु उसकी महत्वाकांक्षा बैंको के अतिरिक्त मैकडफ को भी खोजती अवश्य है । इसके बाद लेडी मैकबेथ यदि ऐसा न करती तो भी वह मैकबेथ की क्रूरता, घृणा, अमानवीयता और यहां तक कि उसकी निरंकुशता का मुख्य प्रेरणास्रोत तो है ही । हम बाद में देखते भी हैं कि वह अपने कर्मों के कारण ही अर्धविक्षिप्त हो जाती है । सारा सम्मान, ऐश्वर्य और सुख नष्ट हो जाता है यहां तक कि इन्हीं कारणों से उसका और मैकबेथ दोनों का ही अमन चैन मानसिक और भौतिक शान्ति सभी नष्ट हो जाती है । उसकी मृत्यु, उसकी ग्लानि, वेदना और पीड़ा से अभिभूत रही हो अथवा नहीं, किन्तु सामाजिक की सद्भावना न लेडी मैकबेथ को मिल पाती है और न ही मैकबेथ को ।

<u>मैकडफ का नायकत्व</u>

इस मन: शान्ति की प्राप्ति में बैंको की अपेक्षा मैकडफ की भूमिका अधिक सहायक है । बैंको की भूमिका के माध्यम से नाटककार ने मैकबेथ की क्रूरता और महत्वाकांक्षा को ही उभारा है । मैकडफ की पत्नी और पुत्र की हत्या भी इसी दृष्टि से उपादेय है, किन्तु मैकडफ का चरित्र निश्चय ही संक्षिप्त किन्तु संस्कृत नाट्यदृष्टि से, भारतीय दृष्टि से, अत्यन्त महत्वपूर्ण है । जैसा कि

कहा जा चुका है उसमें किसी नायक के सभी गुण विद्यमान् हैं । नाटक के आरम्भ में हम देखते हैं कि वह एक मूक व्यक्ति की भांति आता है और चला जाता है[1]। बैंको और रॉस की भांति उसके मुख से मैकबेथ के सम्बन्ध में प्रशंसा का एक भी शब्द कभी सुनने में नहीं आता है । अतः नाटककार आरम्भ से ही सचेत है कि वह जिन भूमिकाओं को मनःशान्ति के उपाय के रूप में प्रयोग में लाने जा रहा है वे दोहरी भूमिकाएं न सिद्ध हों । यह भी संकेत ग्रहण किया जा सकता है कि वह खलनायक को आरम्भ से ही पहचानता है । यहां तक कि लेनोक्स[2] और बैंको की भांति उसे सारी स्थिति समझने में विलम्ब भी नहीं लगता । डंकन की मृत्यु की अविलम्ब घोषणा करने का सुयोग भी उसे ही सुलभ कराया गया है और मैकबेथ के यह बताने पर कि (लेनोक्स जिन हत्यारों की बात कर रहा है) उन्हें मैंने मार दिया है मैकडफ की तीक्ष्ण बुद्धि पूछ बैठती है (व्हेयरफोर डिड यू सो ?) क्यों, तुमने क्यों किया ऐसा ? इस कथन में मैकबेथ पर अप्रत्यक्षरूप से डंकन की हत्या का भी सन्देह है ।

मैकडफ ही उस गोष्ठी का भी संयोजक है जो डंकन की मृत्यु पर वहीं मैकबेथ के महल के किसी कमरे में यह विचारने के लिए होती है कि हत्या का कारण क्या है और हत्यारा कौन है ? मैकडफ ही वह अकेला महापुरुष है जो जानता है कि डंकन के पुत्र मैलकम और डानोबेन देश से क्यों भागे हैं । वही ऐसा नायक है जो जानता है कि मैकबेथ कितना ही पराक्रमी क्यों न हो किन्तु अपनी महत्त्वाकांक्षा के लिए वह डंकन की हत्या के बाद कुछ भी कर सकता है । बैंको जो कि डाइनों के संकेतों से पूर्णतः परिचित है, सब कुछ जानते हुए भी मैकबेथ के राज्याभिषेक के रात्रि भोज में सम्मिलित होने जाता है अतएव मारा भी जाता है । किन्तु मैकडफ बहुत दूरदर्शी है और इसी कारण न तो वह राजतिलक में सम्मिलित होता है और न ही उस रात्रिभोज में । इसी कारण मैकबेथ भी उस पर सन्देह करता है और अपने सन्देह की पुष्टि होते ही उसकी पत्नी और पुत्र को मरवा डालता है ।

मैकडफ ही वह महान् चिन्तक और वीर योद्धा है जो अपनी मातृभूमि को किसी अत्याचारी शासक से बचाने के लिए सब कुछ त्यागने को तत्पर है ।

---

१ मैक - अंक १, दृश्य ६   २ मैक - अंक २, दृश्य ३

यही मैल्कम को उस सीमा तक उत्तेजित करता है कि उसे विश्वास हो जाता है कि मैकडफ उसे छल नहीं रहा है । अन्यथा मैल्कम को आरम्भ में यही सन्देह रहता है कि मैकडफ भी मैकबेथ से ही मिला हुआ है । मैकडफ को साथ लेकर ही मैल्कम की युद्ध-यात्रा आरम्भ होती है और अन्त में हम देखते हैं कि मैकडफ ही वह वीर योद्धा है, वह वीर पुरुष है जो डाइनों के शब्दों के अनुसार किसी स्त्री की कोख से उत्पन्न नहीं हुआ । इस विषय पर विवाद का औचित्य नहीं है क्योंकि संस्कृत के अनेक प्रतिनायकों के साथ भी ऐसी नाटकीय योजनाएं हैं । नाटक के अन्त में हम देखते हैं कि मैकडफ स्वयं ही मैकबेथ के सामने सामने इस रहस्य का उद्घाटन कर देता है । इसके उपरान्त ही मैकबेथ का मनोबल क्षीण होने लगता है और युद्ध करते-करते मैकडफ के हाथों ही वह मारा जाता है । इस प्रकार खलनायक को पराभूत करने वाला, मार गिराने वाला नायक मैकडफ ही नायक माने जाने के सर्वथा योग्य है । इस नाटक में मैकबेथ की पराजय और मृत्यु से सम्बन्धित डाइनों के कथन ; बरनम के वन का चलने लग जाना और स्त्री के कोख से उत्पन्न व्यक्तियों से मैकबेथ की मृत्यु का न होना वैसा ही काव्य व्यंग्य, नाट्यव्यंग्य (ड्रामेटिक आयरनी) है जैसाकि हम संस्कृत के पौराणिक कथानकों में पाते हैं जहां रावण की नाभि पर, दुर्योधन की जांघों पर आक्रमण, हिरण्यकश्यपु की मनुष्य एवं पशुओं से अमरता अथवा बालि की शक्तिहरण की क्षमता और जरासंध की जांघों के चीरे जाने में तथा देवकी की आठवीं सन्तान से ही कंस की मृत्यु में देखा जाता है । इन नाटकीय चमत्कारों की योजना संस्कृत नाटकों में भी हुई है और वे भी प्राय: प्रतिनायक के ही सम्बन्ध में है जैसे कि यहां यह खलनायक मैकबेथ के साथ नियोजित है ।

मैकडफ की तुलना संस्कृत के किसी भी नायक से की जा सकती है किन्तु मैकबेथ के समान कोई नायक संस्कृत में ही नहीं सम्भवत: किसी भी भाषा और साहित्य में नहीं मिलेगा । अत: प्रतिनायक की दृष्टि से हम देख सकते हैं कि ब्रूटस की तुलना में कैसस और कैसस की तुलना में मैकबेथ उस सीमा का स्पर्श करते हैं जहां संस्कृत प्रतिनायक कभी पहुंच नहीं सकता । इसका मुख्य कारण है उनकी अपनी-अपनी नाट्य दृष्टि, अपनी-अपनी परम्पराएं और अपनी-अपनी दार्शनिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ।

इस प्रकार हम स्पष्ट रूपेण देखते हैं कि ऊपर की पंक्तियों में 'मैकबेथ' में नायक प्रतिनायक का निर्णय जितनी सरलता से कर लिया गया है सब उतना ही कठिन है । त्रासदी की दृष्टि से, महान् त्रुटियों की दृष्टि से मैकबेथ को नायक माना जा सकता है और इस दृष्टि से उसमें जो गुण-अवगुण हैं उनका उल्लेख भी ऊपर किया जा चुका है । उन्हें ध्यान में रखते हुए उसे किसी भी रूप में ऐसा नायक नहीं माना जा सकता जिसका किसी भी रूप में अनुकरण किया जा सके । अतः किसी त्रासदी का नायक-खलनायक नहीं अपितु खलनायक की विरोधी भूमिका ही अनुकरण की दृष्टि से, आदर्शों की दृष्टि से महान् होती है । त्रासदी, सर्वसाधारण चूंकि मानव मन को विक्षुब्ध करके छोड़ देने में ही पर्यवसित होती है । अतः उसके नायक को भी, खलनायक को ही संस्कृत नाटकों की प्रतिनायक की भूमिका से चित्रित किया जा सकता है । डंकन के ऐसे ही रूप को हम पहले देख चुके हैं । जहां वीवर महान् के विरोध में डंकन खलनायक है और जहां मैकबेथ स्वयं खलनायक है । अतः मैकडफ की भूमिका उसकी विरोधी होती हुई भी प्रतिनायक की दृष्टि से उपादेय नहीं है ।

मैकबेथ नाटक में कुछ ऐसे भी नाटकीय प्रयोग हैं जिनकी तुलना संस्कृत नाटकों के अनेक प्रयोग की दृष्टि से करणीय है । संस्कृत नाटकों में अद्भुत रस की अनिवार्यता की योजना के परिणाम स्वरूप विद्याधर (अविमारकम्), ऐन्द्रजालिक (रत्नावली) तथा कृष्ण प्रभृति की माया (दूतवाक्यम्, बालचरितम्) के अनेक प्रयोग देखे जा सकते हैं । किन्तु मैकबेथ में बैंको के भूत तथा डाइनों की योजना, बैंको के पुत्र के साथ आठ-आठ पुत्र-पौत्रों का नाटकीय प्रदर्शन और उसके पतन के सम्बन्ध में डाइनों की भविष्यवाणी[1] तथा बालचरितम् में[2] चाण्डालयुवतियों की योजना, मधुक-ऋषि के शाप की नाटकीय योजना, उसके साथ कंस की राजश्री का विवाद और कंस के स्वप्न की योजना में पर्याप्त समानता है । बरनम के वन के चल पड़ने और मैकबेथ के अन्त के लिए नारी के कोख से न जन्मे हुए पुरुष के सम्बन्ध में नाटकीय उक्ति के माध्यम से भी जो चमत्कार उत्पन्न किया गया है वैसे अनेक प्रयोग संस्कृत नाटकों में देखे जा सकते हैं ।

---

११ मैक० अंक ४ दृश्य १

२ बाल० अंक २

ओथेलो

कथावस्तु की दृष्टि से ओथेलो का कथानक उपर्युक्त दोनों ही त्रासदी नाटकों से नितान्त भिन्न है । जूलियस सीज़र, मैकबेथ और ओथेलो तीनों ही दुःखान्त नाटक हैं, त्रासदी हैं, फिर भी उनमें पर्याप्त अन्तर है। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण और विचार तत्व अथवा अन्तिम उद्देश्य की दृष्टि से उनके दुःख की कोटि में उसकी सीमा और स्तर में, उसके पर्यवसान और उसकी अनुभूति में भी अन्तर है । प्रथम तो नितान्त राजनीतिक नाटक है दूसरे (मैकबेथ) की कथावस्तु सत्ता से सम्बन्धित है किन्तु वह एक पूर्ण राजनीतिक नाटक नहीं है तथापि पर्याप्त सीमा तक राज्य के उत्तराधिकार से सम्बन्धित है । इन दोनों के विपरीत ओथेलो में प्रेम और घृणा के बीच एक ऐसा संघर्ष है जो उन दोनों से पर्याप्त हटकर है । ब्रूटस को हम देख चुके हैं कि वह स्वभाव से दुष्ट नहीं है । मैकबेथ भी स्वभावतः दुष्ट नहीं है राजनीतिक विरोध और राजनीतिक विद्वेष ही किसी सीमा तक उसके चरित्र के मूल में है । किन्तु ओथेलो में, इयागो के चरित्र निर्माण में जिस कथावस्तु की योजना है, उसके लिए जिस प्रकार से डेस्डेमोना और ओथेलो को माध्यम बनाया गया है उसमें दो विरोधी तत्वों का ध्रुवीकरण हुआ है । एक ओर प्रेम है - निश्छल और निष्कपट दूसरी ओर घृणा है- छल है, कपट है, सीमातीत घृणा है ।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इसी कारण नायक ओथेलो महान् गुणों का धारक अवश्य है किन्तु उसे खलनायक नहीं माना जा सकता । अतः `ओथेलो` जूलियस सीज़र की भांति एक ऐसी त्रासदी रचना है जिसका नायक खल नहीं है उसके विपरीत उसका खलनायक नायक नहीं है । ओथेलो में जूलियस सीज़र की भांति बहुत पात्रों की भी योजना नहीं हुई है । मुख्य रूप से ओथेलो, इयागो, डेस्डेमोना, इमीलिया, कैसियो और रोडरिगो की भूमिकाएं महत्त्वपूर्ण हैं । जिसके माध्यम से नाटककार ने निश्चितरूप से कथानक को उस सीमा तक उठाया है कि उच्च स्तर के अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि की जा सकी है । नाटककार ने भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उसके माध्यम से बाह्य द्वन्द्व और संघर्ष को उभारा है और इस प्रकार उसने मन को विक्षुब्ध करने में निश्चय ही सफलता प्राप्त की है । मनःशान्ति को वह सीमित परिधि में ही स्पर्श कर सका है ।

नायक : ओथेलो

अपने सम्पूर्ण चरित्र में नायक ओथेलो एक पूर्ण प्रेमी, साहसी-योद्धा, अद्वितीय शक्ति वाला प्रौढ़ नायक है। वह सहृदय, निश्छल, सरल, निष्कपट और भावुक तथा अनुशासनप्रिय व्यक्तित्व है। यही उसका सद्गुण है और यही उसकी दुर्बलता भी है। वह कैसियो को उसकी अनुशासनहीनता के कारण ही पदच्युत कर देता है जिसके पीछे उसका अत्यधिक विश्वास ही मुख्य कारण है।इसी कारण वह इयागो की बातों पर शीघ्र विश्वास कर लेता है। इयागो उसके प्रत्येक सद्गुण का लाभ उठाकर उसे छलता है और छलता ही चला जाता है। उस समय तक छलता है जब तक वह उसे अपनी प्रिय पत्नी की हत्या करने को बाध्य नहीं कर देता। इसके बाद इयागो की पत्नी एमीलिया द्वारा उसके नेत्रों पर से परदा उठाने ही वह जानता है, पर तब तक वह बहुत दूर जा चुका है जहाँ आत्महत्या के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रह जाता। इस रूप में `ओथेलो` का नायक मूर-ओथेलो का चरित्र त्रुटियों और महान् त्रुटियों से भरा हुआ है जिसकी कोई सीमा नहीं है। वह सामाजिक की सीम ग्रन्थियों को खोल पाता हो अथवा नहीं पर मनकी करुणा को, असमंजस वेदना और विक्षोभ को जन्म देकर यथार्थ में विलीन हो जाता है। उसकी प्रत्येक त्रुटि सर्सगत है क्योंकि किसी भी प्राणी में भावनाओं का यह आवेग, आसक्ति की पराकाष्ठा, क्रोध की विषमता, उन परिस्थितियों में वैसी घृणा और वैसा प्रतिशोध तथा इतने वीर, सम्मानित और साहसी व्यक्ति की वैसी क्रूरता नितान्त स्वाभाविक है। यह सब उसे एकबार भी यह समझने का अवसर नहीं देते कि कैसियों के प्रति डेस्डेमोना की सद्भावना मात्र मानवीय है।

इयागो का खलनायकत्व एवं कुचक्र

खलनायक के रूप में इयागो का चरित्र अत्यन्त उत्कृष्ट है। जिसने ओथेलो की सरलता और भावुकता का लाभ उठाकर उसकी भावनाओं का शोषण किया है। उसमें वह महान गुण है जिसके माध्यम से वह ओथेलो, रोडरिगो, कैसियो और डेस्डेमोना को जिधर चाहता है उधर ले जाता है।यहाँ तक कि डेस्डेमोना की हत्या के निमित्त भूत प्रेम-चिह्न `रुमाल` को प्राप्त करने के लिए एमीलिया को भी पथभ्रष्ट कर

देता है । उसके चरित्र में चिन्तन-दुष्टचिन्तन की प्रवृत्ति अत्यन्त तीक्ष्ण है । उसका षड्यन्त्र नितान्त गुप्त है और इस सीमा तक गुप्त है कि उसे वह किसी पर भी प्रकट नहीं नहीं करता । यहां तक कि रोडरिगो को केवल इतना ही ज्ञात हो पाता है कि इयागो, मूर और डेसडेमोना के बीच जिस घृणा के बीज बो रहा है वह मात्र रोडरिगो के निमित्त है।

रोडरिगो और कैसियो के मध्य उसने जो संघर्ष के बीज बोये हैं उसके द्वारा वह दोनों को ही समाप्त कर देना चाहता है । कैसियो से उसका बैर इस कारण है कि ओथेलो ने उसकी अपेक्षा कैसियो को अपना लेफ्टिनेन्ट बना लिया है । पहले रोडरिगो से भिड़ाकर वह मरवा डालने का प्रयास करता है और बच जाने पर उसे एक वेश्यागामी कहकर अपमानित करने का प्रयास करता है । रोडरिगो से उसका कोई बैर नहीं है अपितु उसने उसे दो कारणों से अपनी कुत्सित योजना का भागीदार बनाया है । एक तो इसलिए कि वह उसके मुख्य उद्देश्य डेसडेमोना के पातिव्रत्य को भ्रष्ट कर सके और इस प्रकार ओथेलो के पतन को प्रशस्त कर सके तथा दूसरे, वह उसके धन का शोषण कर सके। इसी कारण वह अपने उद्देश्य के लिए उसकी नियुक्ति करते हुए उसे अधिकाधिक धन एकत्रित करके रखने के लिए प्रेरित करता है । अन्त में रोडरिगो को जब कुछ नहीं मिलता दिखाई देता है तो वह इयागो से अलग होकर वापस घर जाना चाहता है । इसी समय इयागो को भय हो जाता है कि कहीं उसका भेद वह खोल न दे, अतः वह कैसियो को उससे भिड़ा देता है और अन्त में कैसियो के प्रहार से आहत रोडरिगो को स्वयं मार डालता है ।

ओथेलो के सम्बन्ध में उसके दो रूप हैं । एक ओर उसके मन में प्रतिशोध की भावना है क्योंकि उसे सन्देह है कि ओथेलो उसकी पत्नी इमीलिया को भ्रष्ट कर चुका है और फिर भी उसने उसकी उपेक्षा करके कैसियो को अपना लेफ्टिनेन्ट बना लिया है । दूसरी ओर वह उसकी लोकप्रियता और शक्ति से भयभीत है । अतः एक ओर तो वह कैसियो और रोडरिगो के बीच झगड़ा कराकर ओथेलो से कैसियो को पदच्युत कराकर स्वयं कैसियो और ओथेलो दोनों का अधिक विश्वासपात्र बन जाता है। और दूसरी ओर कैसियो को डेसडेमोना से मिलने के लिए तथा पुनः पदप्राप्ति के लिए सिफारिश का ऐसा मार्ग दिखाता है जिससे कि वह मूर के मन में डेसडेमोना और

कैसियो के मध्य अनैतिक सम्बन्धों का सन्देह उत्पन्न कर सके । इस प्रकार वह बुद्धि-चातुर्य के साथ मूर के मन में इस सीमा तक सन्देह उत्पन्न कर देता है कि वह अनन्य सुन्दरी और पतिव्रता पत्नी को भी कुलटा समझने लगता है और इस सन्देह में वह ओथेलो को किंकर्तव्यविमूढ़ मानसिक तनाव में जीने को बाध्य कर देता है । वह इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होता अनैतिक सम्बन्धों के प्रमाण के रूप में मूर के रूमाल को वह कैसियो के पास पहुंचाकर एक ऐसा प्रमाण भी जुटा लेता है कि वह मूर का और अधिक विश्वासपात्र बन बैठता है । अपने सारे गुणों को एकत्रित कर वह मूर के हृदय में ऐसी अग्नि लगा देता है जिसमें दो पवित्र प्रेमी भस्म हो जाते हैं । सर्वप्रथम ओथेलो अत्यधिक तनाव और प्रतिहिंसा तथा प्रतिशोध की भावना से अभिभूत हो इयागो को कैसियो की हत्या का अधिकार दे देता है और तदनन्तर वह स्वयं डैसडेमोना की हत्या कर देता है ।

उसी समय इयागो की पत्नी ऐमीलिया मूर की इस घृणित हत्या का कारण जानकर, मूर को, अपने पति की बातों पर विश्वास कर ~~लिए~~ होने के कारण निन्दित करती है और बताती है कि वह कितना पतित है । वह बताती है कि डैस-डेमोना एक पवित्र नारी थी और उसकी अनैतिकता का प्रमाण, वह रूमाल, इयागो को स्वयं ऐमीलिया ने दिया था क्योंकि इयागो उसे ऐसा करने के लिए कई बार कह चुका था । इस प्रकार अपनी निर्दोष पत्नी की हत्या करके भी मूर शान्ति नहीं पाता, शीघ्र ही उसे ग्लानि और पश्चाताप की अग्नि में पुनः जलना पड़ता है और वह आत्म-हत्या करने को बाध्य हो जाता है ।

इयागो के चरित्र में प्रतिशोध है, द्वेष है और उससे उद्भूत घृणा और क्रूरता है । क्रूरता भी, उसकी प्रत्यक्ष क्रूरता की वह चरम सीमा है जहां मूर द्वारा यह कहने पर कि वह डैसडेमोना को विष देकर मार डालेगा । इयागो उसे एक नया मार्ग दिखाता है, यदि उसे मारना ही है तो उसी शय्या पर उसका गला घोंट दो जिस पर उसने विश्वासघात किया है[1]। इस हत्या के लिए वस्तुतः मूर नहीं

---

१ ओथेलो-- अंक ४, दृश्य १, पृ० २०१ (अनु० डा० रांगेयराघव)

इयागो ही उत्तरदायी है । सम्पूर्ण नाटक में रोडरिगो, और इमीलिया की हत्या जो वह स्वयं अपने हाथों से करता है और मूर की आत्महत्या ऐसी विपदा है, जिसका सम्पूर्ण दायित्व इयागो पर ही है ।

इस रूप में उसकी क्रूरता मूर की क्रूरता से, उसका दुःसाहस मूर के साहस से, उसका षड्यन्त्र मूर की सरलता से, उसकी घृणा मूर और डेसडेमोना के परस्पर प्रेम से तथा उसकी क्रूर दृष्टि मूर की, कैसियो, डेसडेमोना और रोडरिगो की अल्पदृष्टि से कई गुना बढ़ी है, तीक्ष्ण और गहरी है । इसी कारण वह सभी को पराजित करके, अपने प्रतिशोध, ईर्ष्या और घृणा की पूर्ति करके भी प्रायश्चित्त नहीं करता तब तक भी वह ग्लानि, पीड़ा अथवा वेदना से प्रकट नहीं करता । वह उतना ही दुःखी होता है, उतना ही चिंतित है और उतना ही क्रुद्ध होता है जितना प्रदर्शन के लिए, मात्र प्रदर्शन के लिए, लोगों को ठगने के लिए आवश्यक है । उसमें करुणा, दया, ममता, सरलता और सज्जनता, दीनता और प्रेम कुछ भी नहीं है । उसे रोडरिगो का धन चाहिए, कैसियो का सम्मान चाहिए और मूर की शान्ति चाहिए । अपने षड्यन्त्रों द्वारा वह सब कुछ पा लेता है । वह जिससे जो कुछ एकबार ले लेता है, पा जाता है फिर उन्हें वापस नहीं देता । न तो रोडरिगो को अपने रत्न मिलते हैं, न कैसियो को वह सम्मान और न ही मूर को वह शान्ति । अतः वह एक ऐसा खलनायक है जिसकी तुलना पाश्चात्य साहित्य में स्वयं इयागो से ही की जा सकती है । इमीलिया ही उसका सही मूल्यांकन कर सकती थी जो अन्त में ही इयागो से कहती है, 'मुझे फांसी लग जाए, यदि यह काम किसी नारकीय, नीच, कमीने और भयानक रूप से कुटिल, मक्कार, धोखेबाज व्यक्ति का न हो जो किसी पद पर नियुक्ति के लिए ऐसी योजनाबद्ध बदनामी कर रहा है । यदि ऐसा न हो तो मुझे फांसी दे दी जाए।'[1]

संस्कृत नाटकों के प्रतिनायक के लिए निर्धारित गुणों के अनुरूप संस्कृत साहित्य के पास भले ही कोई प्रतिनायक न हो किन्तु पाश्चात्य नाटकों में इयागो एक ऐसा ही पात्र है ।, जिसमें लोभ है, गर्व है, उद्दण्डता है, पाप है, व्यसन है और कूट कूट कर रिपुभाव भरा है, प्रतिशोध है, घृणा है और क्रूरता है ।

---

१ ओथेलो अंक ४, दृश्य २, पृ० १११ (अनु० डा० रांगेयराघव)।

अत: यह किसी सीमा तक शकार के बहुत निकट है जिसका सही मूल्यांकन नाटक के अन्त में प्राय: सभी पात्र करते हैं। ओथेलो तो यह कहता है 'क्या आकाश में अब ऐसा कोई वज्र नहीं है जो इस अधम पर टूट पड़े ? ओ महान् नीच। नराधम![1]' नायिका डेसडेमोना का सम्बन्धी और वेनिस का सम्भ्रान्त नागरिक लोडोविको भी उसे ही सम्बोधित करते हुए कहता है 'अरे नीच कुत्ते। तू क्रूरता, व उन्मद सिंधु और विनाश से भी अधिक क्रूर है[2]।'

मृच्छकटिक में हम देखते हैं शकार भी लगभग ऐसी ही घृणा और प्रतिशोध की भावना से पीड़ित होकर अपने ही हाथों से वसन्तसेना की हत्या करने का प्रयास करता है, अपनी समझ से तो हत्या कर ही देता है। जिस प्रकार चतुराई से इआगो कैसियो और रोडरिगो को मूर्ख बनाता है शकार भी लगभग उसी ही चतुराई से स्थावरक और विट को मूर्ख बनाता है। जिस बुद्धि कौशल से इआगो मूर को मूर्ख बनाता है उसमें सफल है भाग्य उसका साथ देता है उसी ही चातुर्य से शकार भी चारुदत्त को आबद्ध करता है। न्यायाधिकरण के समक्ष उस पर अभियोग लगाता है और वसन्तसेना की माँ की साक्षी और विदूषक के हाथों से निकले आभूषण, भाग्यवश उसके अभियोग की पुष्टि कर देते हैं और जिस प्रकार यह सब करके इआगो मूर को मानसिक पीड़ा, बौद्धिक चिन्ता और जड़ता, शोक और ग्लानि की स्थिति में लाकर पटक देता है उसी प्रकार शकार भी चारुदत्त को अन्त में आत्मवंचना, मानसिक पीड़ा और ग्लानि की उस सीमा तक ले जाता है जहाँ चारुदत्त इस अपमान की अपेक्षा मृत्यु को श्रेष्ठ समझने लगता है।

वस्तुत: इआगो और शकार के चरित्र में अनेक गुण अप्रत्याशित रूप से समान हैं यहाँ तक कि अन्त में षड्यन्त्र के उद्घाटित हो जाने पर दोनों ही भागते हैं किन्तु बन्दी बना लिए जाते हैं। इन भावात्मक समानताओं के अतिरिक्त दोनों में कुछ अभावात्मक समानताएं भी हैं। दोनों ही उदात्त नहीं हैं, दोनों में ही धर्म नहीं है और दोनों ही विश्वसनीय नहीं हैं। इतनी सारी समानताएं होने पर भी उनमें वैषम्य है, शकार को अन्त में अपने कर्म पर ग्लानि है किन्तु इआगो में ऐसा कहीं भी देखने को नहीं मिलता। शकार आत्मसमर्पण कर देता है किन्तु इआगो मौन

---

१ ओथेलो अंक ५, दृश्य २, पृ० १२६   २ ओथेलो अंक ५, दृश्य २, पृ० १४२

भी रहता है । इयागो शकार के समान मूर्ख भी नहीं है और उतना प्रलापी, विलासी और कामुक भी नहीं है । उधर शकार में इयागो के समान कूट बुद्धि, गाम्भीर्य और वाक्चातुर्य भी नहीं है । इस प्रकार उनमें जो समानताएं हैं वे अप्रत्याशित हैं किन्तु जो असमानताएं हैं वे उनकी अपनी मौलिक विशेषताएं हैं । फिर भी प्रतिनायक सामान्य की दृष्टि से इयागो में जो चमत्कार है, जो गति है, जो प्रखरता है वह संस्कृत के रूपकों के प्रतिनायकों में नहीं है । इसका कारण उनकी अपनी भावभूमि है सांस्कृतिक और साहित्यिक मर्यादा है ।

<u>प्रतिनायक और खलनायक का भिन्न रूप</u>

इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे रोमियो जूलियट का टाइबाल्ट हो अथवा जूलियस सीजर का कैस-कैसस और ब्रूटस, मैकबेथ का स्वयं मैकबेथ हो अथवा लेडी-मैकबेथ, और ओथेलो का इयागो, इन सभी में संस्कृत नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से ऐसे अनेक तत्व मिल जाते हैं जो किसी भी साहित्य को, किसी भी युग को, किसी भी रुचि के प्रेक्षक को, सामाजिक की भावनाओं को उद्बोधित करते हैं । उनकी कोटि में अन्तर हो सकता है । कथानक के अन्त को लेकर भावनाओं में भी अन्तर हो सकता है किन्तु किसी भी प्रतिनायक के प्रति, खलनायक के प्रति उस भावना को जन्म नहीं मिलता जो किसी आदर्श नायक को लेकर उत्पन्न होती है । वास्तव में खलनायक अथवा प्रतिनायक जहां भी हैं पाप के, त्रुटियों के, अवगुणों अथवा अभावों के लिए अनुकरणीय अथवा मानवीय गुणों से युक्त नायक के विरोध की भावना के प्रतिनिधि हैं । उन सभी में मानवीय दोष हैं, त्रुटियां हैं, मानवीय मूल्यों के प्रति उदासीनता और उपेक्षा है, भूल है, आदर्शों अथवा अपेक्षित गुणों का नितान्त अभाव है । अतएव उनके अपराध चाहे भले ही माफ किए जाएं वे अनुकरणीय नहीं हैं । वे महान् होते हुए भी पूर्ण नहीं हैं । अतएव संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने साहित्य, काव्य और नाट्य के उद्देश्य को 'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्' के रूप में स्वीकार किया है ।

इस प्रकार रावण हो अथवा मैकबेथ, माल्यवान हो अथवा कैसस, शकार हो अथवा इयागो, दुर्योधन हो अथवा रिचर्ड तृतीय, बालि हो अथवा ब्रूटस,

संस्कृत नाटकों में राक्षस जैसे आदर्श पुरुष को प्रतिनायक और चाणक्य जैसे क्रूर और चालाक नीतिज्ञ को नायक के रूप में देखा जा सकता है। इतना ही नहीं लोक प्रसिद्ध और पौराणिक प्रतिनायक और किसी सीमा तक महाभारत के धरातल पर खलनायक के रूप में प्रतिष्ठा अर्जित करने वाले दुर्योधन और कर्ण को (ऊरुभङ्ग तथा कर्णभार में) नायक के रूप में भी रंगमंच पर उतरते हुए देखा जा सकता है। मैकबेथ के नायकत्व को किसी सीमा तक इस रूप में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त भी ऐसे नायक पाश्चात्य रूपकों में अन्यत्र भी सम्भवतः मिल जायेंगे, व अतः कवि की प्रतिभा इस कार्य में किसी बन्धन को कब स्वीकार करती है और कब खण्डित कर देती है यह कहना कठिन है। तथापि संस्कृत के प्रतिनायक और पाश्चात्य खलनायक के मध्य मुख्य अन्तर यही है कि एक के साथ आदर्श है, प्रायश्चित्त और नायक के समक्ष आत्मसमर्पण का प्राधान्य है दूसरे में क्रूरता, हत्या और महान् त्रुटि की प्रधानता है और संस्कृत प्रतिनायक के गुण उसमें गौण हैं, वैकल्पिक हैं। इस भेद को ध्यान में रखते हुए भी एक निश्चित मापदण्ड निर्धारित कर पाना सरिता के जल पर रेखांकन के समान निरर्थक हो सकता है। अतः यह कहना ही पर्याप्त होगा कि किसी चरित्र के दोष को दिखाना भी उतनी ही बड़ी कला है जितनी बड़ी कला किसी की महानता का चित्रण है। नायक हो अथवा नायिका, प्रतिनायक हो अथवा खलनायक अथवा ऐसी ही अन्य भूमिकाएं आकार-प्रकार में लघु हो अथवा विशाल, क्षणिक हो अथवा दूरगामी उन पर अपनी संस्कृति, सभ्यता, साहित्यिक परम्परा और दार्शनिक चिन्तन का जितना प्रभाव होता है, उनकी सार्वकालिकता, सार्वजनीनता और सार्वव्यापकता का प्रभाव भी उतना ही गहरा होता है यही किसी भी नाटककार की सफलता और साहित्य की अमरता का द्योतक है।

--०--

ग्रन्थ
संकेतसूची

ग्रन्थ

सङ्केतसूची

ऋ०	-	ऋग्वेदसंहिता
साम०	-	सामवेदसंहिता
अथर्व०	-	अथर्ववेदसंहिता
शत०।श०ब्रा०	-	शतपथब्राह्मण
ऐतरेय०	-	ऐतरेयब्राह्मण
तै० ब्रा०	-	तैत्तिरीयब्राह्मण
जैमिनी०।जै०ब्रा०	-	जैमिनीयब्राह्मण
तैत्ति०सं०	-	तैत्तिरीयसंहिता
काठक०	-	काठकसंहिता
ताण्ड्य०	-	ताण्ड्यब्राह्मण
बृहद्०	-	बृहद्देवता
वाल्मीकि०	-	वाल्मीकिरामायण
गीता०	-	श्रीमद्भगवद्गीता
हरि०	-	हरिवंशपुराण
देवी०	-	देवीभागवत
ना०शा०।भरत०	-	भरतनाट्यशास्त्र
ध्वन्या०	-	ध्वन्यालोक
द० रू०	-	दशरूपक
शृं० प्र०	-	शृङ्गारप्रकाश
का०प्र०	-	काव्यप्रकाश
अभिनव०	-	अभिनवभारती
काव्यानु०	-	काव्यानुशासन
ना० द०	-	नाट्यदर्पण
ना०ल०र०	-	नाटकलक्षणरत्नकोश
सा०द०	-	साहित्यदर्पण
प्र० रु०	-	प्रतापरुद्रीयम्
भाव०	-	भावप्रकाशन
रसार्णव०	-	रसार्णवसुधाकर

चन्द्रा० / च०य० - चन्द्रालोकश्रीभूषण
र० च० - रसचन्द्रिका
ना० च० - नाटकचन्द्रिका
अ० द० - अभिनयदर्पण
अ० को० - अमरकोश
रघु० - रघुवंशम्
कुमार० - कुमारसम्भवम्
मेघ० - मेघदूतम्
किरात० - किरातार्जुनीयम्
शिशु० - शिशुपालवधम्
हितो० - हितोपदेश
कामन्द० - कामन्दकीयनीतिशास्त्र
मनु० - मनुस्मृति
स्वप्न० - स्वप्नवासवदत्तम्
प्रतिज्ञा० - प्रतिज्ञायौगन्धरायण
अवि० - अविमारकम्
चारु० - चारुदत्तम्
प्र० ना० - प्रतिमानाटकम्
अभि० - अभिषेकनाटकम्
पञ्च० - पञ्चरात्रम्
म० व्या० - मध्यमव्यायोग
दूतवा० - दूतवाक्यम्
दूतघ० - दूतघटोत्कचम्
कर्ण० - कर्णभारम्
ऊरु० - ऊरुभङ्गम्
बाल० - बालचरितम्
शाकु० - अभिज्ञानशाकुन्तलम्

विक्रम० - विक्रमोर्वशीयम्

मालवि० - मालविकाग्निमित्रम्

मृच्छ० - मृच्छकटिकम्

मुद्रा० - मुद्राराक्षस

महावी० - महावीरचरितम्

मालती० - मालतीमाधव

उ० रा० - उत्तररामचरितम्

वीणा० - वीणावासवदत्तम्

रत्ना० - रत्नावली

नागा० - नागानन्द

प्रियद० - प्रियदर्शिका

वेणी० - वेणीसंहार

प्रसन्न० - प्रसन्नराघवम्

प्रबोध० - प्रबोधचन्द्रोदय

विद्या० - विद्यापरिणयनम्

जीव० - जीवानन्दनम्

प्र० रुद्र० - प्रतापरुद्रकल्याण

न० भू० - नञ्जराजयशोभूषण (नाटक)

पौला० - पौलावली

मालत - मालत

रोमियो० - रोमियोजुलियट

जुलि० - जुलियससीजर

मैक० - मैकबेथ

ओथे० - ओथेलो

बारह० - बारहवींरात

निष्फल० - निष्फलप्रेम

वै० को० - वैदिककोश

वै० दे० - वैदिक देवशास्त्र

वै० ध० द० - वैदिक धर्म एवं दर्शन

सत्यार्थ० - सत्यार्थप्रकाश

वै०सा०सं० - वैदिक साहित्य एवं संस्कृति

पु० वि० - पुराण विमर्श

ऋ० ऐति० - ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि

ऋ० क० - ऋग्वेदकथा

वैस० - वैदिक सम्पत्ति

स्वतं० - स्वतंत्रकलाशास्त्र

सं०सा०बृ०इ० - संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास

सं०सा०इ० - संस्कृत साहित्य का इतिहास

रंगमंच - रंगमंच

सं०ना० - संस्कृतनाटक

भा०ना०सा० - भारतीय नाट्य साहित्य

नाक० - नाट्यकला

नासाअ० - नाटक साहित्य का अध्ययन

वि० म० - विदेशों के महाकाव्य

अरस्तू०का० - अरस्तू का काव्यशास्त्र

पाकासि० - पाश्चात्यकाव्यशास्त्र के सिद्धान्त

कास० - काव्यसमीक्षा

भापाका० - भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास विवेचन

पाकामी० - पाश्चात्य काव्यशास्त्र मीमांसा

o-o-o-o-o-o-o-o-o-o-o-o-o-o-o-o-o-o-o-o-o-o-o-o-o-o

C D I - The Classical Drama of India

C D O D - Sanskrit Drama it's Origine and DeCay

S P - Sanskrit Poetics

B's Shring/Shring. Ragh	-	Boja's Shringaraprakasha
T S D	-	Tragedy and Sankrit Drama
M S	-	The Mricchakatika of Shudraka
I S M	-	Introduction to the study of Mricchakatika
I P	-	Pratimanatakam(Introduction)
J C - Julius Caesar	-	Four Great Tragedies (FGT)
R J - Romeo and Juliet	-	
Mac - Macbeth	-	
Ham - Hamlet	-	

सहायक ग्रन्थसूची

सहायकग्रन्थसूची

ऋग्वेदसंहिता : वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

सामवेदसंहिता (भाषाभाष्य) : आर्यसाहित्यमंडल, अजमेर

अथर्ववेदसंहिता (भाषाभाष्य) : आर्यसाहित्यमंडल, अजमेर

ऋग्वेद (सायणभाष्य) : चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी

शतपथब्राह्मण : चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी

ऐतरेयब्राह्मण : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

तैत्तिरीयब्राह्मण :

जैमिनीयब्राह्मण :

तैत्तिरीयसंहिता :

काठकसंहिता :

ताण्ड्यब्राह्मण :

बृहद्देवता :

वाल्मीकिरामायण (मूल) : चौखम्बा विद्याभवन, १९५७

महाभारत :

श्रीमद्भागवत (मूल) : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

श्रीमद्भगवद्गीता
(भगवद्गीतारहस्य) : बालगंगाधरतिलक की व्याख्या आदि सहित,
केसरी मुद्रणालय, पूना २

हरिवंशपुराण :

विष्णुपुराण :

देवीभागवत :

भरतनाट्यशास्त्र(अभिनवभारती सहित) : ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा

नाट्यशास्त्र आफ भरतमुनि (अभिनवभारती सहित) : मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित,तथा बड़ौदा

नाट्यशास्त्र (अभिनव भारती सहित) : मधुसूदनशास्त्री द्वारा सम्पादित, काशी हिन्दू
विश्वविद्यालय से प्रकाशित (१-१८ अध्याय),१९७५ ।

नाट्यशास्त्र : मनमोहन घोष, मनीषा ग्रन्थमाला लि० कलकत्ता,
१९६७ ।

काव्यादर्श (रत्नश्री टीका सहित) : आचार्यदण्डी, मिथिलाविद्यापीठ, १९५७

ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन (आचार्य विश्वेश्वर की हिन्दी व्याख्या सहित) ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी १९६२ ।

दशरूपक(भरतनाट्यशास्त्र के १८, १९,२० और २४ अध्यायों सहित) : धनञ्जय-धनिक, निर्णयसागर प्रेस, १९४१ ।

शृङ्गारप्रकाश (चार भाग) : जी आर जोशियार द्वारा सम्पादित, कोरोनेशन प्रेस, मैसूर से १९६९ में प्रकाशित ।

काव्यप्रकाश : आचार्यमम्मट, आचार्य विश्वेश्वर की हिन्दी व्याख्या सहित, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, १९६० ।

अभिनवभारती(नाट्यशास्त्र सहित) : ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९५६ ।

काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, महावीर जैन विद्यालय, बाम्बे,१९३८ ।

नाट्यदर्पण : रामचन्द्रगुणचन्द्र ओ०आर०आई०बड़ौदा, १९२९ ।

हिन्दी नाट्यदर्पण : डा० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

नाटकलक्षणरत्नकोश : सागरनन्दी, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन से प्रकाशित, १९३७ ।

साहित्यदर्पण : विश्वनाथ (हरिदासभट्टाचार्य की टीका सहित)

साहित्यदर्पण : डा० सिंह की सविमर्श शशिकला हिन्दी टीका सहित) चौखम्बा, विद्याभवन, १९७० ।

प्रतापरुद्रीयम् (प्रतापरुद्रयशोभूषण) : विद्यानाथ, संस्कृत एजूकेशन सोसाइटी, मद्रास, १९७०

भावप्रकाशन : शारदातनय, ओ० आर० आई० बड़ौदा, १९३० ।

रसार्णवसुधाकर : शिङ्गभूपाल (टी गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित) गवर्नमेन्ट प्रेस, त्रिवेन्द्रम्, १९१६ ।

नञ्जराजयशोभूषण : नरसिंह कवि, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३० ।

रसचन्द्रिका : विश्वेश्वरपंडित

नाटकचन्द्रिका : रूपगोस्वामी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज,वाराणसी

अभिनयदर्पण : नन्दिकेश्वर

महाभारतकोश : डा० रामकुमार राय, ,, ,,

भरतकोश : रामकृष्णकवि

अमरकोश : अमरसिंह हरिदास, संस्कृत सीरिज, वाराणसी

शब्दकल्पद्रुम :

महाभाष्य : पतञ्जलि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

संस्कृतशब्दार्थ कौस्तुभ : तारिणीशझा (रामनारायणलाल बेनी प्रसाद), इलाहाबाद

संस्कृत हिन्दी शब्द कोश : वामनशिव आप्टे (मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी) ।

रघुवंशम् : कालिदास, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, १९६१

कुमारसम्भवम् : कालिदास ,, ,, १९५१

मेघदूतम् : कालिदास, नवलकिशोर प्रेस, सं० १९७२

किरातार्जुनीयम् : भारवि, चौखम्बा संस्कृत सीरिज

शिशुपालवधम् : माघ, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, १९६८

नैषधीयचरितम् : श्रीहर्ष, ,, ,, ,,

हितोपदेश : विष्णु शर्मा, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

पञ्चतन्त्रम् : विष्णु शर्मा, हरिदास संस्कृत सीरिज, वाराणसी

कामन्दकीयनीतिशास्त्र :

मनुस्मृति : हरिदास संस्कृत सीरिज, वाराणसी

स्वप्नवासवदत्तम्
प्रतिज्ञायौगन्धरायण
अविमारकम्] 'भासनाटकचक्रम्',सी०आर० देवधर एम० ए० द्वारा सम्पादित तथा ओरियण्टल बुक एजेन्सी पूना द्वारा १९६२ में प्रकाशित

चारुदत्तम् : 'भासनाटकचक्रम्'
प्रतिमानाटकम् : सी० आर० देवधर एम० ए० द्वारा सम्पादित
अभिषेकनाटकम् : तथा ओरियण्टल बुक एजेन्सी पूना द्वारा १९६२
पञ्चरात्रम् : में प्रकाशित
मध्यमव्यायोग : - उपर्युक्त -
दूतवाक्यम् : - उपर्युक्त -
दूतघटोत्कचम् : - उपर्युक्त -
कर्णभारम् : - उपर्युक्त -
ऊरुभङ्गम् : - उपर्युक्त -
बालचरितम् : - उपर्युक्त -
अभिज्ञानशाकुन्तलम् : कालिदास, भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, वाराणसी, १९५६ ।
विक्रमोर्वशीयम् : कालिदास, रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, १९६४ ।
मालविकाग्निमित्रम् : कालिदास, रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, १९६४ ।
मृच्छकटिकम् : शूद्रक, निर्णयसागर मुद्रणालयम्, मुम्बई, १९५०
मुद्राराक्षस : विशाखदत्त, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, १९५४
महावीरचरितम् : भवभूति, ,, ,, ,, , १९५५
मालतीमाधव : भवभूति, ,, ,, ,, , १९७१
उत्तररामचरितम् : भवभूति ,, ,, ,,
वीणावासवदत्तम् : वी० राघवन् की भूमिका (प्रीफेस) सहित कुप्पुस्वामी शास्त्री रिसर्च इन्स्टी० मद्रास, १९६२ ।
रत्नावली : हर्षदेव, खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १८९५ ।
नागानन्द : हर्षदेव, रामस्वामी शास्त्री एण्ड सन्स, श्रीरामप्रेस, मद्रास, १९५९ ।

प्रियदर्शिका : हर्षदेव, कृष्णमाचारियार की कमेंट्री सहित, वाणीविलास प्रेस, १९२७।

वेणीसंहार : भट्टनारायण, चौखम्भा, संस्कृत सीरिज, १९५९

प्रसन्नराघवम् : जयदेव, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९६३

प्रबोधचन्द्रोदय : कृष्ण मिश्र, निर्णयसागर प्रेस, ,,, १९३५

संकल्पसूर्योदय : वेदान्तदेशिक, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, १९६९

चैतन्यचन्द्रोदय : कविकर्णपूर, हरिदास संस्कृत सीरिज, १९६८

विद्यापरिणयनम् : आनन्दरायमखि(काव्यमाला), निर्णयसागर, प्रेस, १९३०

मोहराजपराजय : वेंकविजयपाल, निर्णयसागर प्रेस, १९२९

सीतानन्दम् : देवकवि

हनुमन्नाटकम् : श्री हनुमान, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, १९६७

दूताङ्गदम् : सुभटकवि, ,, ,, ,, , १९५०

उन्मत्तराघवम् : भास्करकवि, चौखम्भा ,, ,, , १९७३

मृगाङ्कलेखानाटिका : विश्वनाथदेव, विद्याविलास प्रेस, १९२९

प्रतापरुद्रकल्याण : विद्यानाथ, संस्कृत एजुकेशन सोसायटी, मद्रास, १९७०

सौगन्धिकाहरण : विश्वनाथ, चौखम्भा विद्याभवन, १९६३

प्रचण्डपाण्डवम् : राजशेखर, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, १९६९

नञ्जराजयशोभूषण : नरसिंह कवि, ओरिएण्ट इन्स्टी० बड़ौदा, १९३०

कंसवध : शेषकृष्ण(काव्यमाला-६), निर्णय सागर प्रेस, १९३५

मोसापड़ी(जिस्टिस) : गाल्सवर्दी, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, १९३१

नाथन : जर्मन नाटककार लेसिंग के (Nathan der Weise) जर्मन नाटक का हिन्दी अनुवाद, हिन्दुस्तानी अकादमी, १९३२।

रोमियो जुलियट
जुलियस सीजर
मैकबेथ
] मूल लेखक : विलियम शेक्सपियर
राजपाल एण्ड सन्स काश्मीरी गेट, दिल्ली
अनुवादक : डा० रांगेय राघव

संस्कृत साहित्य का इतिहास : डा० बलदेव उपाध्याय

संस्कृत साहित्य का इतिहास : डा० शिवशेखर मिश्र

रंगमंच, नाटक अभिनय और मंचशिल्प के तीन सहस्र वर्ष : मूल० शेल्डान चेनी, अनु० श्रीकृष्णदास, हिन्दी समिति, लखनऊ, १९६५ ।

बाणभट्ट का आदान प्रदान : डा० अमरनाथ पाण्डेय

भारतीय नाट्यपरम्परा और अभिनयदर्पण : वाचस्पति गैरोला, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

संस्कृतनाटक : मूल० कीथ, अनु० डा० उदयभानु सिंह, मोतीलाल व बनारसीदास, वाराणसी, १९६५

भारतीय नाट्य साहित्य : (सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ) सम्पादक - डा० नगेन्द्र

क्षेमेन्द्र और उनका औचित्यसिद्धान्त: डा० शिवशेखर मिश्र

नाट्यकला : डा० रघुवंश

नाटक साहित्य का अध्ययन : मूल० ब्रैण्डर मैथ्यूज, अनु० इन्दुजा अवस्थी

अभिनवनाट्यशास्त्र : सीताराम चतुर्वेदी

रंगमंच और नाटक की भूमिका : डा० लक्ष्मी नारायण लाल

नाट्यकलामीमांसा : सेठ गोविन्ददास

नाटक-श्रव्य और पाठ्य : डा० दशरथ ओझा

हमारी नाट्यपरम्परा : श्रीकृष्णदास

हिन्दी नाट्य विमर्श : डा० गुलाबराय

ध्वनि सिद्धान्त विरोधी सम्प्रदाय उनकी मान्यताएं : डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय, वसुमती प्रकाशन, दारागंज, इलाहाबाद

भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच : सीताराम चतुर्वेदी, हिन्दी समिति, लखनऊ

विश्व के महाकाव्य : गोपीकृष्ण, साहित्यभवन, लिमिटेड, प्रयाग, १९५९

अरस्तू का काव्यशास्त्र : डा० नगेन्द्र

पाश्चात्य काव्य समीक्षा : ब्रजभूषण शर्मा

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त : डा० शान्तिस्वरूप गुप्त, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, १९७०

काव्य समीक्षा : डा० विक्रमादित्य राय, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी

भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन : डा० सत्यदेव चौधरी तथा डा० शान्तिस्वरूप गुप्त, अशोक प्रकाशन, दिल्ली

पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त : लीलाधर गुप्त, हिन्दुस्तानी एकाडमी, इलाहाबाद

पाश्चात्य काव्यशास्त्र मीमांसा : प्रो० देवराज भाटी, रीगल बुकडिपो, दिल्ली, १९६५ ।

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त : डा० गणपति चन्द्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

महाकवि शूद्रक : चन्द्रबली पाण्डेय

महाकविशूद्रक : रमाशंकर त्रिपाठी

भवभूति के नाटक : डा० ब्रजवल्लभ शर्मा, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ एकादमी

भवभूति ग्रन्थावली : रामप्रताप त्रिपाठी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

बाणभट्ट का साहित्यिक अनुशीलन : डा० अमरनाथ पाण्डेय

कालिदास का भारतवर्ष : डा० भगवत शरण उपाध्याय

महाकविभास : डा० बलदेव उपाध्याय

महाकविभवभूति : डा० गंगासागर राय

प्रबोध चन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परम्परा : श्रीमती सरोज अग्रवाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६२ ।

भारतीय संस्कृति में आर्येतरांश : डा० शिवशेखर मिश्र

Catalogus Catalogorum (Part I & II) : Theodor Aufrecht , Franz Steiner Verlag Gmbh Wiesbarden 1962.

New Catalogus Catalogorum (Part)Vol I to VII : Dr. V. Raghavan, University of Madras.

The Classical Drama of India : Henry W. Wells, Asia Publishing House, Bombay 1962.

Sanskrit Drama its Origins and Decay : Indushekhar

Sanskrit Comic Character : J.T. Parikh, The popular Book Stores , Surat.

The Types of Sanskrit Drama : D.R. Mankad

Vedic Gods As Figures Of Biology : V.G. Rele, DB Taraporewala Sons & Co. 1931.

A History of Sanskrit Literature : Krishnamachariar

History of Sanskrit Literature : S.K. Dey & Dasgupta

History of Sanskrit Literature : A.B. Keith

Sanskrit Poetics : S.K. De

History of Sanskrit Poetics : P.V. Kane

Comperative Aesthetics : Dr. K.C. Pandey

Psychological Studies of Rasa : Dr. V. Raghavan

Bhoja's Shringaraprakasha : Dr. V. Raghavan

Number of Rasas : Dr. V. Raghavan

The Vidushaka : G.K. Bhat

Tragedy and Sanskrit Drama : G.K. Bhat

Bhasa Studies	: G.K. Bhat
Preface of Mricchakatika	: G.K. Bhat
Bhasa and Authorship of the Trivendram Plays	: Hiranand Shastri
Natya, Nritta and Nritya;Their Meaning and Relation	: K.M. Verma
Some old lost Rama Plays(Lect.)	: Dr. V. Raghavan
The Mricchakatika of Shudraka	: M.R. Kale
Introduction to the Study of Mricchakatika	: Dr. G.V. Devasthali
Pratimanatakam (Introduction)	: T. Ganapati Shastri
Four Great Tragedies Four Great Comedies Four Great Historical Plays	WILLIAM SHAKESPEARE : With Introduction by Mark Van Dorben,Jaico Publishing House Bombay and Culcutta.

<u>Research Articles</u>

Production of Kalidasa's Plays in Ancient India	V. Raghavan , published in : Sanskrit Ranga Annual I,Madras
Kalidasa's Sanskrit Drama and Indian Theatre	: V. Raghavan, Sanskrit Ranga Annual V, Madras.
Kalidasa as a Dramatist	: V. Raghavan, Sanskrit Ranga Annual II, Madras.
Heroes in Sanskrit Plays; Kalidasa's Plays and Mricchakatikam	: S.N. Gajendragadakar, Journal of the Asiatic Society, Vol.39-40,'64-65
Sanskrit Drama	: Prof. G.T. Deshpande,Published in 'Indian Drama ', The publication division Min. of I&B, Govt. of India 1956

JOURNALS : CATALOGUES

- The Sanskrit Ranga Annual, Madras - 1. (I, II & IV,V)
- Journal of the Asiatic Society , Vol 39-40
- Annals of Bhandarakar Oriental Research Institute, Poona-4
- The Journal of the Bihar & Orrisa Research Society,Patna.
- Poona Orientalist (Oriental Book Agency Poona)
- Annals of Oriental Research. The University of Madras.
- Indian Historical Quarterly. 9, Panchanan Ghose Lane,Culcutta-9.
- Bharatiya Vidya. Bharatiya Vidya Bhavan, Chaupati,Bombay - 7
- Journal of the Ganga Nath Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeeth,Alld.
- Vikram. Journal of the Vikram University, Ujjain
- SAGARIKA   Sagar University, Sagar
- Descriptive Catalogue (A general index to the articles of Research Journal and the publication of the Ganganath Jha, Kendriya Sanskrit Vidyapeeth, Allahabad.
- Descriliptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts in Ganganath Jha, Kendriya Sanskrit Vidyapeeth, Allahabad.